TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182242
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81.6/D53R Accession No. H 2507

Author [illegible]

Title [illegible]

This book should be returned on or before the date last marked below.

निकष

रोशन हाथों की दस्तकें

सतीशचन्द्र चौबे

●

प्राची की साँझ और पश्चिम की रात
इनकी वयःसन्धि का जश्न है आज

मज़ारों पर चिराग़ बालने वाले हाथ
(जो शायद किसी रूह के ही हों)
ठहर जायें !

नदियों पर दीये बहाने वाले हाथ
(जो शायद किसी नववधू के ही हो)
ठहर जायें ।

अँधेरी गलियों में लम्प जलाने वाले हाथ
(जो शायद किसी मज़दूर के ही हों)
ठहर जायें ।

सभी रोशनी देने वाले हाथ
मिलें, और कसकर बाँध ले एक दूसरे को आज
ताकि यहीं से मारना शुरू करें दस्तके
विश्व के अँधेरे कपाटों पर
वे मिले-जुले-कसकर-बंधे रोशन हाथ !

●

निकष

तीसरा और चौथा
संयुक्त संकलन

साहित्य-सहयोग के
तत्त्वावधान मे

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, प्रयाग
द्वारा प्रकाशित

धर्मवीर भारती
तथा
लक्ष्मीकांत वर्मा
द्वारा सम्पादित

हिन्दी नवलेखन का
श्रेष्ठ प्रतिनिधि संकलन

जनवरी, १९५७

आभार

हिन्दी नवलेखन की श्रेष्ठ सकलन-माला के रूप मे,

निकष

को आयोजित और प्रतिष्ठित करने मे प्रथम से प्रस्तुत सकलन तक निम्नलिखित लेखको ने अपना रचनात्मक सहयोग दिया है :

● अजित कुमार, अनन्त कुमार पाषाण, अनाम, अनिल कुमार, अमृत-राय, अलबर्ट कृष्ण अली, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्रनाथ अश्क उमाकात मालवीय, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, कमल जोशी, कमलेश्वर, कीर्ति चौधरी, कुट्टिचातन्, कुँवरनारायण, केदारनाथ सिंह, केशवचन्द्र वर्मा, केशवप्रसाद मिश्र, केसरी कुमार, कृष्णकिशोर श्रीवास्तव, कृष्णा सोबती, गजानन माधव मुक्तिबोध, गगाप्रसाद पाण्डेय, गिरजा कुमार माथुर, जगदीश, जगदीश गुप्त, दुष्यन्त कुमार, देवेन्द्र इस्सर, नचिकेता, नर्मदेश्वर प्रसाद, नरेश मेहता, नलिनविलोचन शर्मा, नित्यानन्द तिवारी, परमानन्द श्रीवास्तव, प्रभाकर माचवे, प्रयाग नारायण त्रिपाठी, फणीश्वर नाथ रेणु, बालकृष्ण राव, बैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा, भगवतशरण उपाध्याय, भवानीप्रसाद मिश्र, भारतभूषण अग्रवाल, भाऊ समर्थ, भुवनेश्वर, मदन वात्स्यायन, मलयज, मनोहर श्याम जोशी, महादेवी वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, मार्कण्डेय, मालती परुलकर, मुद्राराक्षस, मैथिली शरण गुप्त, मोहन राकेश, रघुवीर-

सहाय, रघुवश, रमा सिंह, रवीन्द्र भ्रमर, रागेय राघव, राजेन्द्र किशोर, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, राजेन्द्र माथुर, राजेन्द्र यादव, राधाकृष्ण सहाय, रामदरश मिश्र, रामबहादुर सिंह मुक्त, रामावतार चेतन, लक्ष्मी नारायण-लाल, वसन्त देव, विपिन अग्रवाल, विजयदेव नारायण साही, विद्यानिवास मिश्र, विद्यावती कोकिल, वीरेन्द्र कुमार जैन, वृन्दावनलाल वर्मा, शकुन्त माथुर, शम्भूनाथ सिंह, शमशेर बहादुर सिंह, शाता सिन्हा, शान्ति मेहरोत्रा, शिवकुटी लाल वर्मा, शिवप्रसाद सिंह, श्रवण कुमार दिव्य, श्रीकात वर्मा, श्रीलाल शुक्ल, 'सत्य', सत्येन्द्र श्रीवास्तव, सतीशचन्द्र चौबे, सर्वेश्वर, सुधीर कुमार, सुमित्रानन्दन पत, सुरेन्द्र दीक्षित, हरिमोहन, हरिशंकर परसाई ●

निकष अपने लेखक परिवार की इस विशालता पर गर्व का अनुभव करता है, और अगले सकलनो मे इसके अधिकाधिक विस्तार की कामना करता है।

रोशन हाथों की दस्तकें

इस सकलन का समारभ इस कविता से करके, निकष इस प्रतिभाशाली कवि का सम्मान करता है जो बाईस वर्ष की अल्पायु मे, इसी वर्ष, परिचित होने के पूर्व ही, हमसे विदा हो गया।

●

लघु-उपन्यास

डार से बिछुड़ी कृष्णा सोबती. ३६६

सम्पूर्ण नाटक

मादा कैक्टस. लक्ष्मीनारायण लाल. ४६

प्रबन्ध-काव्य

मन्वन्तर. राजेन्द्र किशोर. १७१

कहानियाँ

मरुस्थल. देवेन्द्र इस्सर. २४
निकटतम अवस्था नर्मदेश्वर प्रसाद २८
ठण्ढ, रात और छिपकिली. राधाकृष्ण सहाय. ३४
मेरी भाभी. श्रीलाल शुक्ल. २१०
नरू का निर्णय. शेखर जोशी. २४३
झुकी गर्दन वाला ऊँट. अजित कुमार. २५०
आर्द्रा. मोहन राकेश २५६.
पानी की तस्वीर. कमलेश्वर. २७६
अंधेरे की आँखें. श्रवणकुमार दिव्य. ३०७

रूपकथा

विषकारा. भारतभूषण अग्रवाल. १०८

शब्दचित्र

स्टिल लाइफ़. फणीश्वर नाथ रेणु. ३३३

व्यंग्यचित्र

ईश्वर. मदन वात्स्यायन. ६२
बिक्कु जी, मेरे पड़ोसी विजयदेव नारायण साही. २१८

शिशुकथा

कट्टो. मालती परुलकर. २४०

रेखाचित्र

मनीषी जी. हरिशकर परसाई. २०३

एकालाप

डाकमुंशी की एक शाम. अमृतराय. २००

लघुकथा

शिखर पर दो आत्माएँ. सत्य. ३०६

संस्मरण

माँ और उनकी अन्तरग गोष्ठी रघुवश. २२८

जर्नल के अंश

आत्मदान : वेदना : स्वातन्त्र्य. अज्ञेय. ११३

आत्म-कथ्य

सीधे अपने पाठक से. शमशेर बहादुर सिह. ३४७

ललित-लेख

निर्माल्य विद्यानिवास मिश्र १६०

एकांकी

आदमी का ज़हर. लक्ष्मीकान्त वर्मा. १४१

लमसेना कृष्णकिशोर श्रीवास्तव. ३१७

उपन्यास का अंश

परख. अनंतकुमार पाषाण. १२३

कविताएँ

सतीशचन्द्र चौबे, कुँवरनारायण, मुद्राराक्षस, वसतदेव, सर्वेश्वर, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, मदन वात्स्यायन, जगदीश गुप्त, अनन्त कुमार पाषाण, लक्ष्मीकांत वर्मा, सत्येन्द्र श्रीवास्तव, अनिल कुमार, रामबहादुर सिंह मुक्त, श्रीराम वर्मा, वीरेन्द्र कुमार जैन, गजानन माधव मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती, रामदरश मिश्र, प्रमोद गुप्त, मलयज, सुरेन्द्र दीक्षित, रवीन्द्र भ्रमर, भुवनेश्वर, जगदीश, राजेन्द्र माथुर, दुष्यन्त कुमार, मार्कण्डेय, नित्यानन्द तिवारी, उपेन्द्रनाथ अश्क, गिरजाकुमार माथुर, अज्ञेय, सियाराम शरण गुप्त, तथा माखनलाल चतुर्वेदी

रेखाकृतियाँ.

युग्म

पालने के पास.

मत्स्य-कन्याएँ भाऊ समर्थ. ३६३—३६५

●

प्रस्तुत सकलन मे प्रकाशित सम्पूर्ण नाटक 'मादा-कैक्टस' सफलतापूर्वक रगमच पर स्वत: लेखक द्वारा निर्देशित होकर प्रस्तुत किया जा चुका है। श्रव्य और दृश्य दोनों माध्यमों का उपयोग कर उसी रगमच पर अभिनीत नाटक को साथ-साथ आकाशवाणी के द्वारा भी प्रसारित किया गया।

●

पृष्ठ ७३ पर दसवीं पक्ति इस प्रकार पढे—"योर फिगर्स, दे मेक मी फील वीकर। दे ड्रेन स्ट्रेन्थ आउट आफ माई बाडी।"

●

पृ. ११५ पर दसवीं पक्ति इस प्रकार पढे—"दुख के आयाम मे मैं जानता हूँ"...

●

योजना

●

प्रथम खण्ड : मूल्यान्वेषण

घोषणा-पत्र

रंगीन रेत

स्वयम् से साक्षात्कार

मादा कैक्टस

यन्त्रयुग और मूल्यों का विघटन

विषकारा

आत्मदान : वेदना : स्वातन्त्र्य

असीम काल : एक अनन्त वर्तमान

श्रद्धा : एक चमत्कार, करुणा : एक नक़ाब

मन्वन्तर

●

द्वितीय खंड : संचयन

निर्माल्य और नया बिरवा

आसपास के लोग

बच्चे और बड़े

आत्मा के सहचर

मृत्यु के सुन्दर और असुन्दर चेहरे

बंधे बिखरे छन्द

क्षणिक का स्थिर राज

और

एक सम्पूर्ण लघु-उपन्यास

भूमिका

पहले से लेकर प्रस्तुत सकलन के लेखकों की सूची से इतना तो स्पष्ट है कि निकष-परिवार के समस्त लेखक किसी एक विचारधारा, किसी एक स्कूल, किसी एक गुट या दल, किसी एक पीढ़ी, किसी एक प्रदेश या किसी एक शिविर तक सीमित नहीं। जितनी विविध धाराओं का प्रतिनिधित्व ये करते हैं, वे एक दूसरे के समानान्तर नहीं बहती, दूसरे की पूरक मात्र नहीं हैं, यहाँ तक कि कही कहीं वे सीधे एक दूसरे का अतिक्रमण करती हैं। फिर भी निकष की सकलन-योजना में वे सभी लेखक मिल सके, यह केवल निकष की सम्पादन-नीति की उदारता को ही प्रमाणित नहीं करता, बल्कि इसको अधिक प्रमाणित करता है कि सिद्धात और 'एप्रोच' की विभिन्नता के बावजूद, हिन्दी नवलेखन में कोई ऐसा धरातल उभर रहा है जहाँ प्रत्येक धारा बिना अपने वैशिष्ट्य का बलिदान किये, अपना सार्थक प्रतिनिधित्व कर सकती है। हिन्दी नवलेखन की सर्वतो-मुखी उपलब्धियों को अधिकाधिक गहन और मूल्यवान बनाने के लिये यह आवश्यक था कि उसी सर्वाश्रयी धरातल को उभारा जाय और समस्त वैविध्य की अन्त-

निहित एकसूत्रता की ओर एक रचनात्मक निर्देश किया जाय।

जिस विक्षुब्ध वातावरण में निकष ने इस प्रयास का सूत्रपात किया, उसमें ऐसे सीमित साधनो को लेकर जूझ पड़ना दुस्साहस का ही काम कहा जायगा; फिर भी अपने इस विनम्र प्रयास मे निकष ने जो अभूतपूर्व सफलता पायी और जितना व्यापक सहयोग उसे मिला, उससे यही सिद्ध हुआ कि उसने एक उचित अवसर पर ऐसी बात उठायी थी जिसका अनुभव लगभग हर धारा के सृजनशील साहित्यकार कर रहे थे और यह रचनात्मक काम एक ऐसे ढग से उठाया गया था कि उसकी उपयोगिता के प्रति लगभग सभी का विश्वास जमता गया। आज यदि हिन्दी नवलेखन के क्षेत्र मे 'निकष' एक जाग्रत महत्वपूर्ण रचनात्मक शक्ति के रूप मे सक्रिय है तो इसका वास्तविक श्रेय हमारे विशाल परिवार के एक एक लेखक को है, उसकी विचारधाराएँ परस्पर कितनी भी भिन्न क्यों न हों।

निकष के पिछले दो सकलनो मे नवलेखन के वैविध्य का एक समुचित परिचय मिल चुकने के कारण पाठक के मन मे एक ऐसी पृष्ठभूमि का निर्माण,हो गया है, कि अब उस सर्वाश्रयी धरातल और अन्तर्निहित एक-सूत्रता की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। इसके लिये अधिक श्रेयस्कर उपाय यह होगा कि रचनाओ या रचनाकारो को इस रूप मे न देखकर कि ये किस विचारधारा के अन्तर्गत आते हैं, समस्त नवलेखन की एक पैमाइश इस आशय से की जाय कि जीवन के किन मौलिक प्रतिमानों के प्रति नवलेखन मे (विविध धाराओं के लेखकों द्वारा,

विविध रूप मे) प्रश्न उठाये जा रहे हैं, और विक्षुब्ध मानवीय भावबोध के कौन से पक्ष अधिक उभर कर उनकी कृतियो मे आ रहे है। इस बदले हुए सन्दर्भ मे नवलेखन को प्रस्तुत कर हम शायद पाठको के लिये उसके रसास्वादन और मूल्याकन को अधिक सुगम बना सकेंगे।

यह विचार ऐसे आया कि ज्यो ज्यों इस सकलन के लिये सामग्री एकत्रित होती गयी, त्यों त्यो हमने यह पाया कि एक दूसरे से सर्वथा अनजाने मे, कई लेखक भावबोध के एक ही पक्ष को विभिन्न आयामो मे उभार रहे है और कई लेखक जिनकी रचनाओं मे मूल्यो की खोज का आभास मिलता है, उनके प्रयास कुल मिलाकर आधुनिकता के समूचे सन्दर्भ की एक रूप-रेखा प्रस्तुत करते हैं।

जब काफी सामग्री एकत्रित हो गयी तब हमने उसका पुनर्परीक्षण किया और इस सदर्भ मे इस सकलन की क्या रूपरेखा उभर रही है, इस पर विचार किया। इस दृष्टि से अधिक सुविधाजनक लगा कि इसके दो खण्ड कर दिये जायँ—मूल्यान्वेषण और सचयन। दूसरे खण्ड मे सकलित बहुत सी रचनाएँ ऐसी हैं जो पहले खण्ड मे आसानी से रक्खी जा सकती है और यही बात मूल्यान्वेषण खण्ड की भी रचनाओं के बारे मे कही जा सकती है। यह वर्गीकरण केवल सकलन की पद्धतियो का सूचक है और जिस नये सन्दर्भ पर बल देना आवश्यक है उसी के दोनो पूरक-पक्षों की ओर संकेत करता है।

पहले खण्ड का आरम्भ नये कवियों की—'घोषणा पत्र' के अन्तर्गत संकलित तीन रचनाओं से होता है जिसमें कवियों ने 'क्षण को सपनों से जीवित रखने" या "क्षण की मर्यादा को थामने" का जिक्र किया है, दूसरे खण्ड का समापन एक वयोवृद्ध कवि की नवीनतम सजीव रचनाओं से होता है जिसमें वह "क्षणिक के स्थिर राज" का प्रश्न उठाता है। ये दोनों इस संकलन की अन्तर्निहित एकसूत्रता के दो छोर हैं। इन दोनों छोरों के बीच मूल्यान्वेषण की दृष्टि से, या विषय-वस्तु की दृष्टि से जिन रचनाओं को एक साथ रक्खा गया है, उनमें दृष्टिकोण की विभिन्नता न हो ऐसी बात नहीं है। पर उन विभिन्नताओं को सही परिप्रेक्ष्य में समझा जा सके इसी के लिये सन्दर्भ की एकता की ओर संकेत करना आवश्यक था।

बीच में यह भी अनुभव किया गया कि कतिपय लेखक किसी विशेष समस्या के प्रति अधिक सचेत हैं और उनकी विविध कृतियों में उसी समस्या के विविध पक्ष उभर रहे हैं। ऐसी स्थिति में यह लगा कि अगर उनकी टिप्पणियों के साथ उनकी एक से अधिक रचनाएँ भी दी जा सकें तो उनके सृजनात्मक योग का अधिक स्पष्ट रूप सामने आ सकेगा। जब यह सुझाव उन लेखकों के सामने रक्खा गया तो उन्होंने उदारतापूर्वक सहयोग दिया। दो एक लेखकों ने यह भी आग्रह किया कि सम्पादक चाहे सहमत हो या न हो, किंतु उनकी दृष्टि में उनकी अमुक कृति उनके इस पक्ष का अधिक समर्थ प्रतिनिधित्व करती है और उसका सम्मिलित किया जाना आवश्यक है। ऐसी दशा में लेखक के आग्रह को सम्पादकों द्वारा सम्मानपूर्वक स्वीकार कर लिया गया।

यदि समय अधिक होता, और साधन कुछ अधिक होते तो शायद इस नयी पद्धति से किया गया यह सकलन अधिक सर्वांग-सम्पूर्ण बन पाता। पहले से तो इसका ध्यान भी नहीं था। वैसे यह शायद अच्छा ही हुआ वरना एक निश्चित पैटर्न को ध्यान मे रख कर सम्पादको द्वारा सकलन किया जाता और तब उसमे शायद अन्य प्रकार के अभाव आ जाते। यह तो सम्भवतः उचित ही हुआ कि सामग्री एकत्रित हो जाने के बाद ही उसका पुनर्परीक्षण किया गया, सकलन की प्रस्तुत रूपरेखा बनायी गयी। इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया कि रचनाओं पर कोई योजना आरोपित न की जाय बल्कि उन्ही रचनाओ मे से अगर कोई योजना स्वतः उद्भूत होती हुई दीख पडे तो उसी के अनुसार समस्त सामग्री व्यवस्थित कर दी जाय। यह श्रमसाध्य कार्य था, फिर भी सार्थक और महत्वपूर्ण जान पड़ा, अतः किया गया। उसमे कतिपय अभाव भी यदि रह गये हो तो आश्चर्य नहीं, पर फिर भी जो कुछ है, वह निकष के पाठको को रसास्वादन के नये धरातलों और मूल्यांकन की नयी दिशाओं की ओर ले जा सकेगा, इसका हमें विश्वास है।

प्रथम खण्ड

मूल्यान्वेषण

घोषणा-पत्र

क्षण की सार्थकता और नयी काव्य-दृष्टि

रंगीन रेत

विक्षुब्ध धरातल पर रागात्मक प्रतिक्रियाएँ

स्वयम् से साक्षात्कार

विवशता के निर्वासन मे अपनेपन की खोज

मादा कैक्टस

पुरातन और नूतन के बीच का असमंजस

यन्त्र-युग और

मूल्यों का विघटन

विषकारा

अस्तित्व, विकल्प, और पूर्व-निर्धारित नियति

आत्मदान : वेदना : स्वातन्त्र्य

चरम उपलब्धि की व्याख्या

असीम काल : एक अनन्त वर्तमान

आस्तिक श्रद्धा और मानवीय गरिमा

श्रद्धा : एक चमत्कार । करुणा : एक नक़ाब

कुछ तीखे प्रश्नचिन्ह

मन्वन्तर

मनु और श्रद्धा का निर्वासन

तथा

मनुपुत्रों की स्थापना

घोषणा-पत्र

●

तीन कविताएँ

आओ हम उस अतीत को भूलें
और आज की अपनी रग-रग के अन्तर को छू लें
छू लें इसी क्षण
क्योंकि कल के वे नहीं रहे,
क्योंकि कल हम भी नहीं रहेंगे !

घोषणा-पत्र

वसन्त देव

सामने वाली बेंच पर एक लड़की बैठी है।
लड़की वह कल थी—आज माँ बनी बैठी है।
गोद में लेटा उसका बच्चा है,
बीस बरस पुराना उसका सपना आज सच्चा है।
बच्चा भुनभुनाता है,
माँ का जी
रह-रह कुनमुनाता है।
चोरी-चोरी आँख उसकी दुनिया टोह लेती है।
बच्चे को आँचल के पट में चुपके खींच लेती है।

...... मैं हूँ वह
जिसने उस भूखे
शिशु को अपना स्तन दिया है।

पीछेवाले उस मकान के
चारों कोने चित्त पड़े
सपाट आँगन में
उड़ती चीलों की भूरी परछाँई

रेंग रही है;
और उधर की चौखटिया नाली के पास
रामू धोबी की लड़कौंही बिटिया
वहा रही है।
(गन्दे, पीले कागज की लम्बी पुड़िया में लिपटी--सी)
मलती जाती एड़ी
पत्थर पर घिस-घिस कर
नरक उसारे की दीवारों का आश्रय ले
दमे के रुगियल-सी उकडूँ बैठी

खटिया की खन्दक के पीछे
धुन्ने का मनसुख
घुँघची आँखों ही आँखों मे
अपनी सारी जान उँड़ेले
अपलक देख रहा है।

"......मैं हूँ वह
जिसकी आँखों की थ्री-नॉट थ्री ने
रामू धोबी की लडकौंही बिटिया की
पिंडलियों के पीले-पीले
फल को भून दिया है।"

"... ..मै हूँ वह जिसने खाया है।
मैं हूँ वह जिसको खाया है।
मैं हूँ वह जिसने दुत्कारा,
मै हूँ वह जिसको दुत्कारा।

मैं हूँ वह।
मैं ही वह।
हूँ मैं वह।

किसने क्षण की मर्यादा को थाम लिया है ?
मैंने
किसने गति को एक तमाचा मार सदा को रोक लिया है ?
मैंने
किसने पल के विष अमृत को कृष्ण-सरीखा चूस लिया है ?
मैंने

+ + +

प्रभु ! मुझे वर दो

. .. .

...

क्षण क्षण पतंगों-से लूटे हुए अनुभवों के प्रति
ईमानदार बन सकूँ,
ईमानदार रह सकूँ।

●

रंगीन रेत

●

तीन प्रेम-कहानियाँ

मरुस्थल

देवेन्द्र इस्सर

●

अगर बाहर मूसलाधार बारिश न भी होती और खिड़की के शीशो पर बारिश की बूँदे रुककर न भी कांपती, तब भी वह लड़की खिड़की बन्द कर देती और परदा गिरा देती। अब छत पर केवल टिप टिप की आवाज से ऐसा मालूम होता था कि बाहर बारिश हो रही है और अन्दर मनोहर, उदास अंधेरे मे वह लड़की पानी से भरपूर बादल का रूप धारण करती जा रही है। इस अन्धेरे मे अस्पष्ट सी उत्सुकता पैदा होती है। वह लड़की जिसका नाम......नाम उसका भूल गया हूँ और नाम जानने से भी वास्तविकता मे कोई अन्तर नही पड़ता—शायद उसका नाम रमा था—रमा उसके समीप सिरक आई और उसकी ओर नजर भर कर देखते हुए अपने पांव के नाखूनों की ओर देखने लगी जिस पर लाल पालिश लगी हुई थी। रमा ने एक बार भरपूर नजर से मोहन की ओर देखा। रमा की आंखो में जैसे पूरे शरीर का गुदाज सिमट आया हो। उसके चेहरे पर बादल छाने लगे। उसकी आंखों में नमी की झिल्ली सी छा गई और उसके होंठ कॅपकॅपाने लगे।

'क्या तुम्हे सरदी लग रही है ?' मोहन ने पूछा—

रमा ने मोहन की ओर एक क्षण के लिये देखा और फिर मोहन के प्रश्न करने पर भी दूसरी ओर देखती रही। वह मोहन के और समीप सरक आई और उस पर झुक सी गई, जैसे पलक की एक झपक से उस पर गिर जाएगी। बादल गहरे होते जा रहे थे और धरती के निकट मडराने लगे थे। छत पर टिप टिप की आवाज तेज होती जा रही थी। रमा की आँखों की नमी बढ़ती गई और उसके होठों की कॅपकपी तेज हो गई। उसके चेहरे की कोमल रेखाए रोशनी मे डूबने लगीं। एक क्षण पहले मोहन को उसकी आँखों में शून्य नजर आता था और उसके होठो मे किसी ख़ुश्क मेवे की झलक दृष्टिगोचर होती थी। लेकिन अब उसके होठ पूरे शरीर की पुकार बन कर उसे मौन कॅपकपाहट से अपने समीप बुला

रहे थे। मोहन ने सिगरेट सुलगाई और सिगरेट का धुआँ उसके चेहरे पर फेंकने लगा। धुएँ के बादलो के पीछे रमा के कँपकपाते होठो का आकर्षण बढ गया। एक दम वह होठ उसके इतने करीब भी आ गए कि मोहन ने उसकी आँच महसूस की। उसने सिगरेट ऐश ट्रे मे फेंक दिया। रमा बिल्कुल मौन थी। मोहन बिल्कुल मोन था। केवल वर्षा की बूंदो की टिप टिप थी और उसके दिल की धड़कन तेज थी...निस्तब्धता पूर्ण थी।

मोहन ने कोई हरकत न की। केवल आच का महसूस करता रहा। रमा ने उकता कर होठ उठा लिये और दूर जा कर बैठ गई और किसी पुस्तक के पृष्ठ उलटने लगी। थोड़ी देर बाद वह उसकी ओर कनखियो से देख लेती।

"तुम मेरी ओर इस तरह क्यो देख रही हो?" जैसे .मोहन ने पूछा। लड़की के होठो की कँपकपाहट मन्द हो रही थी। बादल छा रहे थे और उसकी आँखो मे पानी जैसे सूखने लगा। मोहन ने रमा के चेहरे में किसी दूसरी लड़की के चेहरे को उभरता देखा। उसका नाम भी कुछ इस प्रकार था .उमा या कुछ ऐसा ही नाम था उसका। कई बरस पहले वह उसके जीवन मे हौले से दाखिल हुई और छुप कर किसी कोने मे बैठ गई। मोहन बेखबर था और रमा अबोध थी। अनजाने मे वह एक दूसरे से न जाने क्यो टकरा गए। वे एक दूसरे मे विलीन होने लगे। मोहन ने उस लड़की से कहा था .."तुम्हारे होठ बडे सुन्दर हैं और जैसे शहद मे भिगो रखे हैं।"

वह लड़की खामोश रही। उसका जवाब था—अधिक स्पर्श। कई वर्ष बीत गए। आज शायद सरदी मे ठिठुरती हुई वह अपने पति के मैले कपडे धो रही होगी या उसके जूठे बरतन माज रही होगी। वह अपने हाथ की रेखाएँ किसी ज्योतषी से पढवा रही होगी—रेखाएँ जो बनती बिगड़ती रहती हैं। उसके सिगरेट के धूयें के मरगूले की तरह। और अन्त मे राख झटक दी जाती है। कभी कभी दूसरी सिगरेट सुलगाने के लिये—मोहन एक दम जैसे स्वप्न से चौका। "क्यो मुंह का मज़ा खराब हो गया?" मोहन ने रमा से पूछा। रमा फिर समीप सिरक आई। इतनी समीप कि उसकी साँस मोहन की नाक की सरदी पर गर्म हवा का स्पर्श कराती हुई महसूस हुई। बादल फिर गरजने लगे। आँखो की नमी उमड़ आई और होंठ कँपकपाने लगे और मोहन के बेहरकत होठो पर कई क्षण कँपकपाते रहे।

कितनी बड़ी ट्रेजेडी है। मोहन सोचने लगा। जब उसके अपने होंठ कँपकपाते थे और उसकी छाती से सांस कविता की सुन्दरी बन कर निकलती था। लेकिन कविता शून्य मे गूँजती थी और जिसके लिये यह संगीत था उसके शरीर के इर्द गिर्द नामहसूस तीलियाँ थी जिसको छुए बिना शरीर का स्पर्श असम्भव था और जिसको छूने का परिणाम मृत्यु था और जिसके आसपास काले भूत नाचते थे और आत्मा की आवाज़ जैसे हज़ार परदों से छन कर आती थी।·· और मोहन के गिर्द एक दूसरा ही शरीर मडराता रहा जिसके कान कुरूप थे और उनमे इमीटेशन टाप्स थे। उसकी आँखो में नमी न थी बल्कि किसी बजर धरती पर शून्य का नृत्य था और होंठ चिरन्तन भूखे थे मगर कँपकपा नही सकते थे। वह लड़की जिसका उभार कृत्रिम दृष्टिगोचर होता था। उसके शरीर मे हृदय था। हृदय मे धड़कन थी। बे-सुर-लय जो उसके शरीर पर बजती थी और इमीटेशन टाप्स के रंगमच पर प्रेत की तरह नाचती थी।

"तुम मुझसे प्यार करती हो।" मोहन ने उससे पूछा।

"···तुम्हारा माथा छोटा है और तुम्हारे जूडे का फैलाव बहुत विशाल है. यह क्या बेहूदगी है?"

" तुम्हारे पाँव मे इस प्रकार के जूते बडे बदसूरत मालूम होते हैं।"

'··तुम यह मूर्खो की तरह हस क्यो रही हो!'

' वास्तव मे मैं उल्लू का पट्ठा हूँ—समझ गई आप अन्धेरा हो रहा है और तुम्हारे मां बाप तुम्हारी राह देख रहे होंगे।" एकदम मोहन के मस्तिष्क से वह लड़की जैसे कूद कर बाहर निकल गई। क्योंकि उसके होंठ शीतल हो गए। कँपकपाते होंठ फिर बेहरकत हो गए। बादल छँट रहे थे। रमा कुछ हापने लगी।

'तुम क्या सोच रहे हो?' रमा ने जल कर कहा।

'कुछ नहीं।'

'मैं तुम्हें बहुत प्यार करती हूँ मोहन!'

'हूँ!'—(होगा)

'मैं तुम्हारे बग़ैर जिन्दा नहीं रह सकती।'

'हूँ!'—(तो फिर मरतीं क्यों नही? इन्तजार किस बात का है?)

'तुम जवाब तो देते नहीं। बस गुमसुम। जैसे......'

'हूँ!'—(जैसे मुझे सांप सूंघ गया है। ठीक तो है साप सूंघ गया है।)

मोहन ने सोचा कि अब उसके पास 'हूँ' के अतिरिक्त क्या रक्खा है। यह पहली लड़की नहीं जो उससे प्यार करती है और जो उसके बगैर जिन्दा नहीं रह सकती। लेकिन जो सब लड़कियों की तरह ज़िन्दा रहेगी। शायद रानी की तरह जिसने अभी कुछ दिन हुए अपने पत्र में उसे लिखा था—

'मोहन, मेरा पति मुझसे बहुत प्यार करता है। वह कहता है तुम (अर्थात मैं) बहुत स्वीट हूँ। मैं तुम्हारे बग़ैर ज़िन्दा नहीं रह सकता। उसके पास ब्यूक है और मालाबार हिल पर उसकी बड़ी आलीशान कोठी है। तुम कभी बबई आओ तो जरूर मिलना। आओगे ना? तुम्हारा चेहरा बड़ा भोला है। तुम बडे शरीर हो, तुम्हारी बाते बड़ी दिलकश होती हैं। जब वह नहीं हाते तो तुम्हारी बाते बहुत याद आती हैं। क्या तुम्हे भी मेरी याद कभी आती है?' 'ज़रूर आती है।' मोहन के होठो पर ज़हर की लहर सी दौड़ गई और तमाम चुम्बन जहर मे डूबने लगे। रानी के पर्स मे मालाबार की एक कोठी, एक ब्यूक और ढाई लाख रुपयो का चेक है। और मोहन के पास बेहरकत होठ हैं जो कँपकपाने की हसरत मे भी कँपकपा नहीं सकते।

वह लड़की यानी रमा अपने सैंडिल के फ़ीते बांधने लगी।

'तुम बडे मूर्ख हो।' रमा ने तिरस्कार से कहा।

मोहन जैसे चोट खा कर उठा और उसने रमा के होंठों पर अपने होंठ रख दिए और उसे जोर से भींच लिया। लड़की के मुँह से हल्की सी चीख निकली और वह उसकी गोद मे गिर गई और मोहन उसके कपोल पर हल्का सा तमाचा लगा कर हंसने लगा।

'तुम्हारी शादी कब हो रही है?' मोहन ने पूछा।

'अगले सितम्बर मे।'

'मैं तुम्हारी शादी पर ज़रूर आऊगा।' और उसे ऐसा महसूस हुआ कि उसकी बाहो मे लड़की का शरीर रेत का लोदा बन गया है और धीरे धीरे बिखरने लगा है और रेत उसकी शरियाओ मे तेज़ी से दौड़ने लगी जैसे उसका सारा जीवन एक विशाल मरुस्थल है और वह रेत के बगूले की तरह उस में भटक रहा है।

●

*

निकटतम, अवस्त्रा

नर्मदेश्वर प्रसाद

●

साल दर साल पुरानी आदतें वापिस आ जाती हैं, पुरानी शक्लें, पुराने रग। वही समन्दर का किनारा, वही बसन्त की बढिया बालुका। वही मेरा यह हाथ है जो अपनी हथेली पर तुम्हारे होठो को रक्खे रहता है हर किस्म के बहाने के बावजूद। तुम मुझसे आजाद नही हो सकती, न मै तुमसे हो सकता हूँ। अगर मेरा दिमाग 'चाइना', एलीफैन्टा, भारहूत का जमघट, कबाड़ीखाना है तो तुम्हारा चेहरा है हल्का जिन्दा रग और तुम्हारा शरीर है मेरी स्मृति का एक रूप।

"तुम सिर्फ एक ही बार मोही जा सकती हो। उसके बाद वञ्चना खत्म हो जाती है। लेकिन इसके बगैर जीत, मोह मुमकिन नही।"

"हम लोग बाग मे चले साथ," उसने कहा।

तुम महासागर मे डूब जाती हो, जैसे पत्थर। पानी तुम्हारे हाथ और आँखो को ढक लेता है। तुम्हारा जो बच जाता है, वह मैं हूँ। हम लोग बैठे हैं ताराविहीन बादलों की सीढियों पर। रात गर्म है, हम दोनों पर झुकती आ रही है, डूबती जा रही है दरख्तो से होकर। और बात करने को कितना कम है।

अगर तुम मेरा हाथ पकड़ लो तो मैं इससे ज्यादा और कुछ नही महसूस करूँ कि खिड़की से रोशनी आ रही है। बिछुड़ने का सपना, जब हम दोनों साथ हैं, देखा नहीं। जब हम एक दूसरे से अलग होते हैं, भूलते नहीं।

एक दोपहर को हम दोनों ने मीना से साथ चाय ली। सड़को पर सूरज गरम, पीला था, लेकिन मोना का लाल-और सफेद किचन ताजा और ठण्डा था।

"तुम निहायत अच्छे और खूबसूरत आदमी दीख पड़ते हो", उसने कहा था, "लेकिन तुम परीशान हो शायद।"

"शायद मैं हूँ।" मैंने कह दिया था, "क्या मुझे दोगी मदद, कभी ज़रूरत पड़ने पर?"

"ज़रूर।" वह छोटी सी लड़की पंजाब की थी। हँसना पसन्द करती थी, जानती भी थी।

लौट कर अपने, मेरे, घर के खामोश कमरे में बैठ गये थे हम। खामोश घर का खामोश कमरा जहाँ कुछ नहीं चलता, जहाँ आवाज़ अपना अस्तित्व खो बैठती है, जहाँ शब्द फूल की तरह चुप है, जहाँ सुनने की कोई जरूरत नहीं।

हवा मे स्थिर दरख्त तुम्हारी परछाई हैं। अबोले शब्द के आवरण के अलावा तुम्हारे इर्द-गिर्द कुछ नहीं है। लेकिन मेरे होठों पर जो हज़ार-हज़ार सवाल उठते हैं—जवाब मिलते जाते ह। ऐसी कोई बात नहीं जिसे हम दोनों न जानते हों, यहाँ या कहीं। फिर भी एक दुनिया का तसव्वुर हम दोनों के लिए गैरमुमकिन है। और फिर भी बहुत कुछ सम्भव है। मैं अपनी तस्वीरें तुम्हें भेजता हूँ, तुम मुलायम जवाब देती हो, तुम्हारा मुँह मुझसे छुपा हुआ है।

"मेरे पास कोई कारण नहीं कि मे समझाऊँ। पर मैं उन्हें जानता हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं तुम्हे समझा नहीं सकता।"

हर लम्हा सड़क पर मोटर गुज़रती है। खिड़कियों के शीशे से सूरज की किरणे खेलती हैं। मुझे न कुछ कहना है, न करना है—सिवा इसके कि हम लोगों ने कुछ प्रतिज्ञाएँ की थीं और उनके लायक भी हम थे। अब मैं पदचाप और आवाजे सुनता हूँ जहाँ पहले कुछ नहीं था। शब्द-हीन और सुन्न जैसे सूखा हुआ कुआँ। मैं अपने ड्राँइग-रूम में जाता हूँ। रेडियो बजा देता हूँ......बाहिरे बादल झरे। मैं महोगनी टेबुल पर उसकी तस्वीर देखता हूँ जो तुम्हे प्यार करता है, तुम्हारा मालिक है। ·समय फिर चल पड़ा धीरे-धीरे, बरसाती सड़क पर बैलगाड़ी की तरह।

और चीजें अपनी प्राकृतिक जगहो पर खिसकती जा रही हैं—टेबुल, कुर्सी, सोफ़ा भी। रेडियो पर बाहरी वातावरण का संगीत अब बुझ रहा है। और अब और हमेशा के लिये समय और स्थान निश्चयता लेकरो टिकेंगे। और मैं तुम्हे फिर देखता हूँ; समय और स्थान कपडे की तरह उतार दिये गये हैं। याददाश्त वर्तमान पर धावा बोल कर उसे कुचल देती है।

मैं जानता था कि मुझे जाना है।

"मैं तुम्हारे साथ स्टेशन तक चलूँगी।" उसने कहा। हमने दरवाजा

बन्द कर ताला डाल दिया। लेकिन हम दोनों के लिये एक चाभी थी जिसे हम दोनों अलग अलग इस्तेमाल नहीं कर सकते थे। हम दोनो के लिये एक चाभी थी जिसे हम दोनों साथ-साथ नहीं इस्तेमाल कर सकते थे।

साल दर साल, पुरानी आदतें, पुरानी शक्लें, पुराने रग। हमारी चाभी आदत की बनी हुई है, या हमारी चाभी आदतें खोलती है। वक्त को थाम लेना, बन्द कर देना एक और कहानी है। शक्लें बगैर किसी बदलाव के असम्भव रूप से वही हैं।

समन्दर हरी घास का एक मैदान बन जाता है, और बालू—शहर, कोई भी शहर। तुम्हारा हाथ सड़क का एक कोना है और वह सड़क मेरी जानी-पहचानी है।

मैं तुम्हारी देह के पेवमेन्ट पर घूमता हूँ, और हजार-हजार मकानो की खुली खिडकियो मे तुम्हे देखता हूँ। वसन्त मेरे रक्त मे है, हमेशा से रहा है। बसन्त मे दीवारे रोशनी की तरफ घूमती हे। बसन्त मे तुम्हारी खिडकियाँ उतनी ही खुली है जितनी हवा। और हवा शरीर की तरह मुकम्मल है।

यह वैसी ही भारी रात है। और मेरा भी हाथ वही, वैसा ही है।

मन्टू और मैं मैक्सिम गये थे। साथ मे थी एक औरत लिन्डा। उस रात आसमान साफ़ था। आसपास के मकानात, ऐसा लगता था, जेली के बने हुए हैं और सामने का बडा मैदान बना था भाफ से। और वह जगह हल्की खिड़कियों का एक वृत्त पिघली हुई सूरतें, आती जाती।

लिन्डा, तुम बडी हसीन हो। तुम्हारे केश सुनहले हैं। और तुम हँसना भी भूली नही। तुममे जीवन की गन्ध है। और कभी-कभी तो छोटी बच्ची बन जाती हो, बड़ी खुली आँखे और हल्का तुतलाता हुआ प्यार। तुम नही जानती तुम क्या हो। मैं बताऊँ, हमारी तहजीब का एक घना बड़ा टुकड़ा।

हम लोग मैक्सिम से अन्दर गए और देर तक खडे रहे तीन जगहों के लिए। सामने 'बार' चमक रहा था। छोटे-छोटे केबिन काव्य मे छायावाद की तरह दीख रहे थे। कई हल्के और मुलायम रग इधर-उधर घूम रहे थे।

जितना कि मैं हूँ, या तुम हो, या ये सब हैं, और इसे हम दूसरी दुनिया कहते हैं, क्योकि यह हमारी नहीं है, क्योंकि इसे हम ऑक-पहचान

नहीं सकते। ये सड़कें, जो बारिश मे जवान होती हैं, ये मकान, ये लोग ये आवाज़, ये कूट के आसमान पर मसनूई सितारे !

यह तो गीत की गध है। धुआ और स्वेद उतने ही ठोस हैं जितने कि नृत्य-रस। तुम भी नाच सकती हो लिन्डा ? मट्ट नो है ही। मैं तुम दोनों को नाचते हुए देखूँगा। मैं देखता हूँ तुम दोनो को भीड़ में गुम होते हुए। मैं मार्टिनी पी रहा हूँ, और तुम दानो को देख रहा हूँ, तुम घूम जाते हो रोशनी के साथ, आवाज के साथ, देह के तकाजों के साथ। सारी जमीन घूम रही है भाग्यचक्र की तरह।

मैक्सिम का यह लमहा एक तस्वीर है, इम्प्रेशनिस्टिक स्टाइल की। इन सब के बीच मे मैं एक शक्ल देखता हूँ, पहचानी हुई, जो बार-बार जाने कहाँ से झाँकती है। गिटार की लम्बी धुन काँप रही है जैसे रति-व्यस्त नारी की देह। लिन्डा पसीने से तर मुस्कुरा रही है।

मेरे हाथो पर हवा भारी है सगीत मेरे चेहरे को ढँक लेता है मास्क की तरह। और वह फिर झाँक रही है। मैं उसकी आँखो मे देखता हूँ—गहरे, नीले पानी का एक पन्ना। हम एक दूसरे से बँध जाते हैं। और तब आवाज, रोशनी सब गुम, गुल। सिर्फ तुम्हारी आँखे और दूरागत वशी-रव। साथ हैं हम गरम, खाली, तनहा।

गरम हवा मुलायम और सफेद है। हम लोग बाहर आ गए मैक्सिम से।•बडे मैदान के किनारे-किनारे टहल रहे हैं। टैक्सी नहीं मिल रही है। लिन्डा मुझसे पूछती है मैं उदास हूँ क्या ? मैं कहता हूँ नहीं।

मैंने पुल पार किया है और अब नदी के किनारे घूम रहा हूँ। उस पार और इस पार घने पेड़ हैं—हरे धब्बे की तरह। हवा में जाफ़रानी गध है। सफेद आसमान फैली हुई तलहत्थी की तरह दीखता है। मैं एक बडे पेड़ के सामने खड़ा हूँ, जो अकेला है। इसकी शाखे धुँधरा रही हैं। इसकी टहनियाँ नन्ही, मुलायम उँगलियाँ है। इसका तना गुलाब देई का हाथ है जैसे। मैं इसे छूता हूँ। अनगिनत छोटे-बडे कौवे के घोसले हैं इस पेड़ मे। उनकी आँखें चमक रही है—हरे टेबलक्लाथ पर काले मखमल का काम और उन पर ये ताज़ा धब्बे ! ये कौवे उसी तरह पेड़ पर टिके हैं, जैसे काला सपना दिमाग मे भूला हुआ पड़ा रहता है। उस पार से एक जोर की हवा चलती है। नदी, पेड़, मैदान सब को सिहरा देती है। लेकिन घोसलो का कुछ नहीं बिगड़ता। पेड़ के हजार हाथ उन्हे सहारा देते हैं।

हवा मर जाती है और जमीन मे धॅस जाती है। मैं फिर घूमने लगता हूँ। चमकती हुई घास और चुप्पी के आस आस।

नदी, पत्थर और मछलियाँ एक अन्तहीन गीत गुनगुना रही है। मैं अपना हाथ नदी मे छुरे की तरह घुसाता हूँ। अभी जख्म हुआ, हाथ निकाल लेने पर फिर ठीक। नदी मुझे माफ कर देती है। शेष-सन्ध्या आसमान को रहस्य-रञ्जित बना रही है।

और मैं देखता हूँ कि तुम बड़ी दूर, नींद मे हो। यह पेड़ तुम्हारी बाँह है—अव्यक्तिगत चुम्बनो मे बद्ध। तुम्हारी देह-ऊषा उठती है बरसात के काले सबेरे पर। मैं देखता हूँ तुम तक का चोर-दरवाजा खुला है, ताला टूटा है और चाभी कुँए में फेंकी हुई है। तुम्हारी सुबह का एक अलग और नया नाम है। मेरी सुबह का अस्तित्व भूरी, कुहासे-भरी सड़क मे खो गया है। मैं पुल पर से होकर फिर इस पार वापिस चला आता हूँ। तुम्हारा हाथ, तुम्हारा पेड़ गायब हो रहा है। आसमान पर्दे की तरह गिर रहा है।

एक दिन सपना देखा था कि मैं तुम्हे खत्म कर रहा हूँ। कुल्हाड़ी चला रहा था और तुम कट रही थीं। फिर तुमको अखबार मे लपेट कर कही नजदीक ही छुपा दिया था। बाद मे पुलिस वाले आए। काफी पूछताछ कर चले गए। मैं चुपचाप बिस्तर पर लेट गया। लेटा ही था कि तुम कहीं से आकर मेरे सिरहाने बैठ गयी। "तुम्हारा सर दर्द कर रहा है न?" तुमने पूछा। पुलिस वाले परीशान होकर, खीझ कर, झेंप कर चले गए न। तुमने भी खूब उन्हें धोखा दिया। "लाओ, तुम्हारा सर दाब दूँ।" "अरे तुम! कहाँ थी, क्या कर रही थीं?"

"मैं अखबार पढ़ रही थी जिसमे तुमने मुझको लपेटा था। और फिर मैं तुम्हें देख रही थी और सुन रही थी तुम्हारी बातें।" "तो तुम मरी नहीं?" "क्या कहूँ? मरी भी और नहीं भी, तुम मुझे प्यार कर सकते हो। इससे ज्यादा, इससे अलग और तुमसे कुछ भी नहीं होने का। छोड़ो, चलो, कहीं घूम आएँ।"

घूमते-घामते हम दोनो "नानकिन" गए थे। मैं 'एसपरगस' सूप पी रहा था और तुम शार्क-फिन। तुम्हारी तरफ चीनी अदा से झुक कर वेटर ने कहा था—"द लेडी हैज टेस्ट"। बाद मे बारबरा भी आ गयी थी। तुम उसकी पिक्सी का हाल पूछती रही। मुझे 'डै शुन्ड' पसन्द नहीं। मेरी तो

कॉकर से ही दोस्ती हो सकती है। बाद मे कोणार्क की कला पर मैंने एक लम्बा लेक्चर दे डाला था।

बूढी, भूरी रोशनी खिड़की से छन कर आती है और मेरा दम घोंट देती है। मैं खुद को आइने मे देखता हूँ। मेरी आँखों से तनहाई की हज़ार सुबहें झाँकती हैं।

साल दर साल पुरानी आदतें वापिस आ जाती हैं, पुरानी शक्लें, पुराने रग। हम दो तकिए हैं। पतझड़ बिस्तर है। हमारी ख्वाहिश धरती है जो सो रही है। दिन मे हमारी दीवारे सफेद रहती हैं और शाम को हमारी शक्लो से रगीन, आबाद। बाहर गति और गीत का मौसम है, लेकिन दरवाजा अन्दर से बन्द है।

सुबह तुम्हारे अनगिनत रगों का एक अलबम है। तुम्हारी आँखे समन्दर को चुप करा सकती हैं। अगर मैं कुछ कहूँ, तुम उत्तर दे देती हो। रात चलती है तुम्हारी गति के तर्क के अनुसार। यह वैसी ही भारी रात है और मेरा हाथ भी वही, वैसा ही, है।

दूर-दूर तक फैली हुई तुम, निकटतम, अवस्त्रा, निर्विकल्प, अपराजिता!

●

ठंड, रात और छिपकली

राधाकृष्ण सहाय

●

बाहर अवश्य ही घना अँधेरा छाया होगा ! ठंड से भींगती रात निश्चय ही उस कामिनी सदृश सिहर रही होगी जो असमय ही किसी पुरुष के बाहुपाश मे पड़ जाती है। गो कि इतनी ठंड पड़ने का अभी मौसम नहीं आया.. ...पर होनी को रोक कौन सकता है ?

कमरे मे बन्द हूँ। खिड़कियाँ बन्द हैं। मुख्य दरवाजे बन्द हैं। यहाँ तक कि जहाँ-तहाँ से झाँकने वाले सुराख भी बन्द हैं लेकिन ...लेकिन जैसे ठंड से हड्डियाँ गल रही हैं। ..

एक कोने मे बिजली का चूल्हा पड़ा है। ऐसा चूल्हा कि 'स्विच' 'ऑन' कर दो तो सारा कमरा गरम हो जाय। मैं कुर्सी खींच कर चूल्हे के निकट पहुँच आता हूँ। स्विच ऑन कर देता हूँ। कमरा कुछ गरम होने लगता है......पर अजीब बात ! नसों मे जैसे खून इकट्ठा होकर जमने लगा है......जैसे भीतर का सब कुछ एक ही बिन्दु पर आकर ठहर गया है। .. ओः, ...यह सब जरूर छिपकिली के कारण है...जो सामने दीवाल पर रेंग रही है...घि . नौनी...बदशक्ल ! मैं अपने मित्रो से अक्सर कहा करता हूँ कि छिपकिली बड़ी घिनौनी होती है...और मैं इसीलिये उससे घृणा करता हूँ...यहाँ तक यहाँ तक कि घृणा के मारे मैं उसे देख भी नही सकता...पर...पर...यह भी सच है कि मुझे छिपकिली से भय लगता है।

कितना विचित्र ! बात पुरानी है फिर भी जैसे ताज़ी है, एक-दम टटकी...

.. .. मैं नगा कर दिया गया हूँ। आँगन मे जो विशाल दैत्याकार खम्भा है न ? मैं उसी में बँधा हूँ। मेरे हाथ-पाँव बाँध दिये गये हैं और मेरा शरीर इस प्रकार खम्भे मे चिपका है कि टस से मस होना असम्भव है......और पहले हाथ ही से खींच-खींच कर चपत पड़ती है.

गाल लाल बिम्म हो आया है अ ौ. र फिर बेंत से सट् सट्!...
पैर सूखी हुई टहनी की तरह काँप रहे है।

पर इससे क्या ?...बाल को पुनः खीच कर खम्भे मे टकराया जाता है...फिर, काँपते हाथो से बेशुमार सट्-सट्-सट्...आँखो का पानी तक सूख गया है। यद्यपि मैं सज्ञाशून्य नही हूँ। मुझमे चेतना है। मैं सोच सकता हूँ।

पिता जी की आँखें जैसे शिव के तीसरे नेत्र की तरह हैं। उनके खड़ाऊँ की आवाज़ मानो रक्त-प्रवाह को रोक देने के लिये पर्याप्त है......
औ...र...और...(मैं)...सन्त्रस्त हूँ...बाहर-भीतर सब ठौर घिरा हूँ।

और ...भय से ही तो आशका का जन्म होता है?

हाँ, छिपकिली दीवाल पर आगे बढती आ रही है...तेज रोशनी मे उसके शरीर का अग अग दीखने लगा है जाने कैसी चिपचिपी है यह!...लिबलिबी। मन में हो रहा है यदि इसे छुआ जाय तो बड़ी नरम होगी अत्यत नरम। दाब दो तो उसके भीतर का सब कुछ पिच् से बाहर निकल आये... ।

आशका! आशका यह कि यह छिपकिली कहीं चलते-चलते सिर पर न आ जाय?...एकदम सिर के ऊपर? लोहे की कड़ी मे आकर कहीं लटक जाय तो? तो कुर्सी खिसका कर भागना होगा क्या? लेकिन इस जीव को तो अभ्यास है। अभ्यास मे व्यतिक्रम की गुजाइश नही होती। छिपकिली भी भला कहीं ऊपर से गिरती है? पर...आशका भी अजीब है।

फातिमा मुझे हाथ मे रूमाल दे रही है। हमारे पिता जी का तबादला जो हो चुका है' अब इस शहर को हमे छोड़ देना है। बग्घी पर बैठने के पहले मैं गलियारे मे घुस आया हूँ। फातिमा यहाँ बहुत देर से इन्तजार कर रही है। वह सिसक रही है। मुझे भी दुख मालूम होना चाहिए न! वह कह रही है—'मैं तुम्हारा ही इन्तज़ार करू गी, केवल तुम्हारा इन्तजार।'...'नही आओगे तो सुनोगे कि फातिमा अपने बदन मे आग लगा कर मर गई'।

'धत्' ..'अच्छा सुनो' . मैं उसको पकड़ कर दीवाल से सटा देता हूँ, बडे ज़ोरो से । ऊपर से चेहरा बना है पर भीतर से जाने कौन कहता है?—'जाओ, कही जाओगी तो मुझे याद जरूर करोगी।'

...और सचमुच आशका फातिमा और हमारे बीच दीवाल बनकर खड़ी हो जाती है...विचित्र-विचित्र आशकाओ के बीच मैं घिर आता हूँ...

. .और, माँ पुकार रही है—'बेटा ! ओ बेटा, . राजन् !'

धत्तेरे की !...

रात है । एकात है । आज मैंने बहुत मार खायी है । शांति बहन खाने के लिए मिन्नतें कर रही है । मैं रो नहीं रहा हूँ यद्यपि पसलियो-पसलियों मे घूंसे की मार बसी है । मेरा पिता निर्दयी है...चार साल . !... शान्ति बहन मेरे रूखे-उलझे, बेतरतीब बालो मे ऊगलिया घुसेड़ अपनी गोद में मुझे रख रही है । अपने आभापूर्ण मुख को मेरे कान्तिहीन मुख के समीप लाती है । अपना मुख उठाती है तो आखें लबालब हैं ।...'भाई, राजन्,...भाई...खाना खा लो ।'

जाने मुझे क्या सूझता है ?...मैं उसे ढकेल कर भाग खड़ा होता हूँ ।...'तुम मेरी बहन?' 'अपनी बहन नही!'...'मेरा इस दुनियाँ मे कोई नहीं'...'कोई नहीं'...

ऊफ़ ! ..सुबह-सुबह शिबू उठाने पहुँच आया है । पढने के लिये अब वह कहेगा । परीक्षा समीप है न ?...धोखेबाज बूढा खब्बीस... समझता है कि मैं इसकी लल्लो-चप्पो नही समझता ? मुझे ही फरेब मे कसना चाहता है ? पुराना नौकर है इसीलिए छोड़ दूंगा अन्यथा मैं नहीं जानता क्या कि यही मेरे पॉकेट से पैसे चुरा लेता है बाहर चीजे खरीदने के लिये ले जाता है .आधे पैसे का खरीदता है और आधा पैसा अपनी जेब में रखता है ।

पर यह आशका कहां-कहा पीछा करेगी ?

मैं स्वय हूँ । हां, हूँ ही तो ।...होने के प्रमाण भी तो हैं ? सांस तेज़-तेज़ चल रही है । धड़कनें मशीन की तरह धक्-धक् बोल रही हैं । आखों की पुतलियां खुलती हैं—बन्द होती हैं ।...अ .ौ...र...आ...ँ... र...चाहूँ तो मैं होने के प्रमाण मे हाथ हिला सकता हूँ,पैर उठाकर छोटी मेज़ पर फेंक सकता हूँ...और हां, यह भी कि चाहूँ तो उगलियां भी चटखा सकता हूँ ।

बारी-बारी से होने के प्रमाण मे मैं यह सब कर सकता हूँ, इतना ही नहीं, चाहूँ तो मैं अमिता को पत्र भी लिख सकता हूँ।

..."प्यारी अमि,

चिट्ठी मिली है। आज ही तो आयी है। जेब मे पड़ी है—बिल्कुल धड़कनों के बीच। परन्तु इतना जान लो कि मैं इस पत्र को पढूँगा नही.. कदापि नहीं पढूँगा साल बीत जाय...युग बीत जाय पर मैं तुम्हारी चिट्ठी नहीं ही पढूँगा।"...

प..र...रु. क...ो त...ो...

फूलमाला की तरह यह किसके हाथ मेरी गर्दन को दोनो ओर से घेरे हुए है? और किसका यह मुखमण्डल मेरे चौडे वक्षस्थल पर झूल रहा है? मानो मल्लिका के अनेक सुवासित पुष्पो के बीच सबसे विहँसित और पुष्पित यही हो?

...अरे! यह कौन आशीर्वाद की तरह मुझे आप्लुत करना चाह रही है? आखिर हुआ क्या है जो श्रेष्ठा और पवित्रा यह सावित्री अपने अयोग्य – अनधिकारी सत्यवान को वरण करने पर तुली है?

धर्म की तरह दृढ और मन्त्रोच्चार की तरह ऋजु यह कौन मुझमे विश्वास-मोह, सतोष-सुख, तृप्ति और सतुलन भरना चाह रही है?.

...और दो मूर्तिया नग्न हो गयी हैं। बदन पर झीना वस्त्र तक नहीं है। एक मूर्ति दूसरी को आबद्ध कर रही है बाहुपाश मे घेर रही है एकदम से आप्लुत कर रही है...पुरुष निश्चेष्ट है...नारी-मूर्त्ति ही मानो पुरुष-मूर्त्ति की प्राण-प्रतिष्ठा करती है...।

...पर पर रेलगाडी भागती जा रही है। पेड पौधे, ताल-तलैया, गाव-गवई और जाने क्या-क्या छूटता जा रहा है?...प्रयाग-काशी-पटना, लखनऊ-कलकत्ता, सब छूट रहा है...

शाम का वक्त है। किसी अनजाने पार्क मे पड़ा हूँ। सामने एक लम्बा, कभी न झुकने वाला अडिग ताड़वृक्ष खड़ा है। अगल-बगल पेड़-पौधे, फूल पत्तिया हैं। नीचे घास की मुलायम बिछावन है। ऊपर है नीलाकाश।

...मैं अकेला हूँ। नितात अकेला।...यद्यपि पार्क में एक नही, हैं अनेक, परन्तु अनेक होते हुए भी एक नहीं हैं। अमिता है, नीलू है,

हरि है, शिब्बू है, पिता जी हैं, मां, हैं...और...और कितने हैं ?—अनगिनत, लेकिन हमको हो क्या गया है ? गौतम की तरह निकल पड़ा हूँ क्या ? अमिताभ बनने की महत्वाकांक्षा जग पड़ी है मुझमे ?

...और स्टेशन का प्लेटफार्म दांत बाये फैला है। गाड़िया आ-जा कर विश्राम ले रही हैं। शांति है। कोई नहीं है। मैं बिना मालिक के कुत्ते की तरह भाग रहा हूँ...दौड रहा हूँ...जीभ निकल आयी है...हांफते-हॉफते दम निकल रही है ..

...और यह कौन मुझे पकड़ कर मेरे गले मे चमोटी डालना चाहती है ?...कौन है यह जो मेरी स्वतन्त्रता, मेरी भटकने छीन लेना चाहती है ?...यह कौन पुचकार रही है ?

नहीं-नहीं.. मैंने सतुलन खो दिया है। व्यक्तित्व मे समता नही है। इसीलिये तो असफलताये सामने जीभ निकाल-निकाल चिढाकर भाग रही है ..जैसे में पशु होऊ और असफलतायें बच्चे हो...और वे ठेगा दिखा-दिखा भाग रहे हो ओह ! जै न असफलताये...बारी-बारी से मुझे ही अपना पति वरण कर रही हैं औ र मैं दूल्हा बना थोथा—मिथ्या गुरुत्व धारण कर मुँह फुलाये हप्प बना बैठा हूँ !. . .

......भला तमाशा तो देखिए !......गोलाकार मिट्टी का छोटा लोदा पडा है तो लगता है कि सामने पहाड़ खड़ा है...पहाड़,...हाँ ... ऊँची चोटियो वाला तुङ्ग-शृङ्ग...और और मैं पाँच फीट का न होकर एक फीट का हो गया हूँ। हाथ मरे कितने छोटे हो गये हैं ? ..पांव मानो माटी की मूरत के हैं ! गर्दन मोम की मूरत की ! ..और मैं ?...मे... रा...म... ... . र .ा . स ..ब...कु ..छ...कि...त...ना . .हास्या...स्प.. द ह... ! ...

. . ..मानो मैं अनिश्चय की कुर्सी पर बैठा होऊँ ! कुर्सी का आधार कभी भी छिन सकता है। कभी भी इसकी बाँह टूट सकती है कभी भी उठॅगने वाला पीछ का हिस्सा कुर्सी से अलग होकर विच्छिन्न हो सकता ह —नष्ट हो सकता है... . जैसे मैं अनिश्चय की आशका की, भय की, अनास्था की नहीं...नहीं...कोमल रूई की गठर हूं—हल्की, तैरने वाली...विराट्...गहन...अ...त्यन्त चौडे पाट वाली नद में जैसे छोड़ दो गई हूँ। ओह हो, यह रूई की गठर क्या कभी पान

में भींग सकेगी ?...भींग कर...नीचे नीचे...अतल गहराई में डूब सकेगी क्या ?......

......छिपकिली गिरी गिरी...गि...र...ी...ी...वाह, वाह,... क्या खूब इसने अपने को बचाया।... .ओह, पसीना छूट आया...धड़कन तेज हो गयी...सारा शरीर गर्म होकर तपने लगा......

...भला छिपकिली भी क्या जीव है !...पिद्दी-सी-लम्बाई, रग भी, चढ़ै न दूजो रंग छोटी छोटी ललहथियां...सिकुड़ी हुई पूंछ ..और... दाग़ दाग...चारो ओर दाग ..अजीब कुत्सित और घृणित दाग...ठीक अमिता के चेहरे के दाग़ की तरह ..

हॉ, अमिता के चेहरे पर भी तो दाग हैं ?...शीतला माता के दाग़ ? हूबहू छिपकिली के दाग की तरह ?...बदशक्ल...घिनौने...पर,... पर...मानो कि छिपकिली गिर जाती है, हाँ, सिर से होकर कधे पर आकर लटक जाती है...तो ? तो ? ..

धत् ध...त।

छिपकिली को मैं कुचल नही सकता—कभी नहीं कुचल सकता...

झटके से यकायक कुर्सी छोड़कर मैं उठ खड़ा होता हूँ। सहसा उठने से मेरी छाया बिजली के प्रकाश मे कमरे की सारी वस्तुओ को ग्रस लेती है ...

... अमिता के होठो मे गिलास लगा है। वह पानी पी रही है। खाने की मेज पर हम दोनो अगल-बगल हैं। उसका आधा चेहरा गिलास में ढँका है। केवल आँखे दीख रही हैं—बडी-बड़ी ! खाना खाते-खाते वह यकायक पानी पीने लगी है और पानी पीते-पीते सहसा हँसने लगी है। खिलखिला-खिलखिला वह हँस रही है। जैसे सोडावाटर बोतल से गिलास मे ढाला जा रहा है. ....

"सुनो !"......"सुनो !"... .."तुम मेरे चेहरे की ओर क्या घूर रहे हो ?"... ."क्या देख रहे हो ?"......"बताओ न ?"......"बहुत बद-शक्ल हूँ न ?" .. ."घिनौने दाग छाये हुए हैं !"......दाग...कितने गन्दे दाग हैं ये ?"......

अमिता हसती जा रही है...हसती ही जा रही है...जैसे हँसी का न ओर है, न छोर......

"सुनते क्यो नहीं ?"..."नहीं सुनोगे ?"..."नहीं हमारी बात तुम अनसुनी नहीं कर सकते"......"सुनो, तुम मेरा गला घोट दो" ....."तुम्हें बड़ा पुण्य लाभ होगा"..."सच, घोंट दो न"..."तुम्हे छुटकारा मिल जायगा" "हाँ...हाँ, तुम भी मुक्त हो जाओगे"......

और अमिता की आँखो मे उमडे हुए समुद्र की लहरो का कोई ठिकाना नहीं !......कोई ठिकाना नही !... आज बाँध को, पत्थर को, रेत को, ब्रिज को,...सब को...सब को तोड-फोड़ कर पानी बहेगा... बहेगा ही

अमिता हँसते-हँसते रो रही है...रोते-रोते हँस रही है...गिलास ढाल का काम कर रहा रहा है। पानी की बूँदे गिलास के ऊपर से बहकर खाने की थाली मे गिर रही हैं...

हे ईश्वर !...भ...ग...व...ा न इस उठे हुए समुद्र मे मैं कैसे डूब जाऊँ ?...नीचे...नीचे...अतल गहराई मे कैसे डूब जाऊँ !...

●

स्वयम् से साक्षात्कार

सर्वेश्वर दयाल

●

फिर बहुत दिन बाद—

सामने की रेंड़ चटकी,
हिला सरपत का भुआ,
डुगडुगी नीलामघर की
चुप हुई,
सर उठाकर किसी मँगते ने
मुझे दी दुआ ।

आ गयी मुझको स्वयम् की याद,
फिर, बहुत दिन बाद ।

छोड़कर अपना कृत्रिम यह साथ,
मुड़ चला मैं स्वयं से मिलने,
घने कुहरे से ढँकी
वीरान वादी में
दबे पैरों आ गया मैं,
रुँधे बाड़े तोड़कर
शक्ति भर मैंने पुकारा,
कोटरों में फड़फड़ाए पंख

अँधेरी छाया लगी हिलने,
खड़खड़ाने लगी मेरी साँस
सर झुका संध्या लगी फिरने,
'मै नहीं हूं शेष –
अरअरा कर चेतना की डाल टूटी,
'नहीं, अब नहीं मैं रहा'—
चीख़कर मुख ढाँप छायाएँ गिरीं।
तभ – चरमराए द्वार –
अधगृह-वासी,
मौन संन्यासी,
बढ़ा बाहे खोल,
शून्य टटोल टटोल
काँपते स्वर मे लगा कहने
रुका जल जैसे लगा बहने—

'आ गए तुम
कभी आओगे
बस इसी विश्वास पर
डाल से था टंका पीला पात।
सुनो, अब जिया जाता नहीं,
नित्य के इस स्वाँग से
मैं थक गया हूँ,
हो सके तो बस करो,
साँस मेरी घुट रही है
कहो तो चेहरे लगाना छोड़ दूं,
अभी कब तक चलेगा अभिनय तुम्हारा ?
क्या हमारी लाश को भी
नाटकी पोशाक पहनाकर नचाओगे ?

बुरा मत मानो
मैं नहीं कहता कि जीवन मत जियो,

सभी जीते हैं,
तुम्हें भी पड़ेगा जीना
जानता हूँ,
किन्तु कुछ ऐसा करो
पैर रखने की जगह तो हो
एक अंगुल भूमि भी ऐसी मिले
जहाँ मैं जो हूँ
वही बनकर खड़ा रह सकूँ,
सर उठाऊँ
एक क्षण को ही सही
सत्य जो समझूँ
उसे देखूँ सुनूँ. कह सकूँ।

बात क्या मैंने बड़ी कह दी?
आज इतना भी असंभव है!

दूसरों की दृष्टि से ही
तुम्हे खुद को देखना
इतना जरूरी है?
मै नहीं कुछ रहा?
इसलिए मैं पूछता हूँ यह
कि शायद ज्ञात तुमको
यह न हो—
मैं आज अन्धा हूँ—
क्योंकि तुम
सदा अनदेखी कराते रहे,
मैं आज बहरा हूँ—
क्योंकि तुम
अनसुनी करता रहूँ,
इसके लिए मजबूर करते रहे,
और अब—

पैरों तले का साँप तक
मुझको दिखाई नहीं देता ,
मरण-शय्या की पुकारें
अनाथों की चीख,
लावारिस कराहें
कुछ सुनाई नहीं देती ।
अब यहाँ रहना न रहने की तरह है ।
इधर देखो
डाल का यह टँका पीला पात
हवा लगकर
खड़खड़ाता है—
मै तो मनुज हूँ ।
क्षमा कर देना मुझे,
मै नहीं यह लहू मेरा बोलता है,
क्योंकि तुम
होठ मेरे सिल चुके हो,
और अन्त करण की आवाज तक
गिरवी रख आए हो ।
क्या करूँ ?
ठठरियों मे साँस है जब तक—
कहीं से आवाज़ आएगी,
तुम न जागो तुम्हारी मर्ज़ी
किन्तु यह तुमको जगाएगी,
और जिस दिन
इसे बेचोगे,
मैं नहीं हूँगा
और तुम भी रहोगे ? शायद !'

इसे सुनकर
झुकाकर सर
मैं चला आया,

दीप जैसे
स्वयं अपनी ही समाधि
पर जला आया;
लगा चिल्लाऊँ—
जोर से शक्ति भर
इस बुझी वीरान वादी में —
"सभ्य हूँ मैं
ज़माना जैसा बनाएगा बनूंगा,
कहाँ जाऊँ ?"

पर न जाने क्यों
बोल मैं पाया नहीं
गला मेरा रुँध गया
छा गया बेहद घना अवसाद —
फिर बहुत दिन बाद

●

मादा कैक्टस

लक्ष्मीनारायण लाल

●

पात्र

●

अरविन्द
आनन्दा
सुजाता
सुधीर
दद्दाजी
डाक्टर पापा
तथा गंगाराम

निर्देश

●

'मादा कैक्टस' को सोचते ही पहली सुधि इसकी मचसज्जा की होती है, क्योंकि मच का स्वरूप और इसका पूरा स्वर उस सिफनी का दृश्यगत आधार होगा जिसकी रचना की सारी क्रियाशीलता पात्रो के मनोभावो में है—उन्हीं से उत्पन्न उनकी विभिन्न स्थितियों मे है। इसलिये यह सच है कि मच की कल्पना मे एक प्रतीक जमा बैठा है। जिसके लिये मच-सज्जा यदि यथार्थ से अधिक रहस्यमय लगे, वास्तविक से अधिक काल्पनिक लगे तो इसकी अभिव्यजना शक्ति में अद्भुत बल आ जायेगा। क्योंकि इस नाटक मे मुख्य पात्रों ने बहुत ही कम कहा है। उनकी वृत्तियाँ ही जैसे उन्हे बाँध बैठी थी, इसलिए जो नहीं कहा गया, अथवा जो नहीं कहा जा सकता, उसकी अभिव्यंजना का दायित्व तो मचसज्जा ही मे है। अतएव

मच में इतना प्राण घोलना होगा कि वह अपनी सांकेतिकता में सदा जागरूक रहे।

तभी *प्रकाश व्यवस्था* का स्थान यहाँ अन्यतम है। मंच का कोई न कोई एक छोर आकाश की तरफ खुला होगा, जहाँ से यह स्पष्ट दिखायी दे कि घुटन का कुहासा उस क्षितिज से उठ रहा है—और प्रकाश की किरण भी। ऊँचे 'बेस' पर जहाँ 'मादा कैक्टस' है, वहाँ केवल उसी विन्दु पर सिमटा, जमा हुआ एक पीला प्रकाश, जो मच के सारे वातावरण की सरलता, स्निग्धता मे धब्बे की तरह उभर रहा है। केवल आरम्भ को छोड़कर, जब तक कि मूल दृश्य नहीं खुलता—शेष पूरे नाटक मे कही तेज रोशनी नहीं है। सदा हल्का दूधिया, नीला प्रकाश—वह भी आनन्दा, सुजाता की उपस्थिति के समय बिखर जाता है, जैसे रोशनी कहीं से अब टूट-टूट कर, कट-कट कर आ रही हो।

संगीत रचना : नाटक के आदि में, द्वितीय अक के प्रारम्भ मे और अत मे नीलाम का बाजा, क्रमशः ऊँचा मध्यम और प्रतिध्वनि जैसा। दृश्यो के अत में, बीच-बीच मे सितार वाइलिन और गिटार के सगीत, कभी तेज, कहीं घना—स्थित्यनुसार।

पात्र-परिचय : अरविन्द चित्रकार है, अवस्था प्रायः पैंतीस चालीस की है। प्रभावशाली मुख-मण्डल और उस पर मानो गम्भीरता का कवच पड़ा है। बेहद सुरुचिपूर्ण रंगढंग, व्यवहारो मे अजब मोहक शालीनता। आनन्दा, अरविन्द की सहधर्मा—अवस्था अठाईस-तीस वर्ष—व्यक्तित्व पर सुन्दर आभिजात्य संस्कार। आधुनिक, पर स्वभाव से विशुद्ध भारतीय नारी। आकर्षक से अधिक प्रभावशाली—शालीनता की आभा से मडित। सुजाता, अरविन्द की पत्नी, अवस्था में आनन्दा के ही आस-पास, पर देखने से इसकी प्रौढता अधिक है। निष्ठावान नारी, स्त्रीत्व की गरिमा से पूर्ण। और सुधीर, आनन्दा का छोटा भाई। उम्र पचीस वर्ष से अधिक नहीं—पर स्वभाव मे एक ओर 'बेबी' हैं तो दूसरी ओर मोछ वाले बुजुर्ग और पूरे व्यक्तित्व पर चचलता, आवारगी और

कर्मशीलता का अद्भुत समन्वय। प्रकृति से आक्रमक, मुँहफट, बातूनी और जिद्दी शिशु जैसे। तभी घर-बाहर के लोग मारे लाड़-प्यार के इन्हे 'बेबी' कहते हैं। अक्सर ऊँची पैन्ट, पर कभी-कभी अपटूडेट जो इनसे सँभाले नही सँभलता। दद्दाजी, अरविन्द के पिता, अवस्था साठ के आस-पास। कुलीनता पर फ्यूडल सत्य के गहरे रग। आँखों पर मोटा चश्मा। बाल सफेद। अपनी बात को प्रभावशाली रूप देने का प्रयत्न। और डाक्टर पापा, आनन्दा बेटी के पिता। अवस्था दद्दा जी से कम नहीं, पर गंभीर अधिक, जिस पर चिन्ता और जीवन के गहरे बहुमूल्य अनुभवों की छाप। जैसे कभी नही हँसते। सदा पैन्ट और बन्द गले की कोट, जिस पर फ़ेल्ट टोपी कभी भूली ही नहीं जा सकती। और हाथ की छड़ी तो उनके व्यक्तित्व को और भी साध देती है, यद्यपि रिटायर्ड हुये उन्हे कई वर्ष हुये। और अन्त मे यह गगाराम, अवस्था पचास वर्ष से अधिक नही। धोती कभी घुटने से नीचे नही गयी है। मोंछें घनी, जैसे खूब दुलार से रखी गयी हैं। विश्वासी, परिवार का अभिन्न अग।

अतिम बात : हर हालत मे, मच पर इतनी खुली जगह हो, इतना निर्बंध स्थान (स्पेस) हो कि सक्रिय पात्र उफन-उफन कर बह सके। लगे कि वातावरण की घुटन को वे तोड़-तोड़ कर दिखाना चाह रहे हैं, और मूक पात्र भी उस स्थिति के सूनेपन से टकरा रहे हैं।

नीली दूधिया रोशनी के चारो ओर जो कुहरा जमा है, सारे पात्र उस परिधि में आ फँसे हैं और सब उससे मुक्ति चाह रहे हैं।

●

पहला अंक

●

[पर्दा खुलने पर वास्तविक दृश्य आसमानी रंग के महीन पर्दे से ढका रहता है। दायीं ओर से कालेज के विद्यार्थी की तरह बड़ी मस्ती में, मुंह से सीटी बजाता हुआ, दाये कन्धे से कैमरा, बायें से 'बाइनाक्यूलर' लटकाये सुधीर प्रविष्ट होता है, और पूरे

मंच को पार कर जाता है। अंतिम सिरे पर पहुँचते-पहुँचते उसकी दृष्टि एकाएक जैसे दर्शकों की ओर चली जाती है, और वह आश्चर्य-पूर्ण जिज्ञासा से घूम पड़ता है।]

सुधीर : अयँ ! यह बात क्या है। ('**बाइनाक्यूलर' से देखकर**) इतने लोग यहाँ बैठे हैं, और चुपचाप। यहाँ रोशनी, वहाँ अँधेरा, बात क्या है? 'माई सिगरेट एंड मैचबाक्स।' (**पाकेट से निकाल कर सिगरेट जलाता है**) आखिर क्यों, क्या बात है यहाँ।...यह बाजा तो कह रहा है कि यहाँ कोई नीलाम होने वाला है। तो यह बात है। (**आश्चर्य में पड़कर**) लेकिन यहाँ रोशनी, वहाँ इतनी दूर मे अँधेरा ! यह खामोशी तो कुछ और कह रही है। आल राइट। 'सिगरेट बाईकाट।' (**फर्श पर पटक कर उसे जूते से दबा देता है**) जी सुनिये ! मेरा नाम है सुधीर, पर मेरा असली नाम 'बेबी' है 'बेबी'। जी, उमर मेरी पचीस साल, आठ महीने नौ दिन की है तो क्या? अजी, आप हँसते क्यों हैं?

खैर, छोड़िये अपनी तारीफ। मेरी इस मुट्ठी मे क्या है, यह बताइये ! सोचिये। ..सोचिये . ..अक्ल लड़ाइये। सिगरेट फूँकिये, अजी, सिर खुजलाइये। हाँ अब बोलिये, क्या है मेरी इस मुट्ठी मे। बोलिये नहीं तो आप सब की तस्वीर उतार लूँगा हाँ, और छपवा दूँगा अखबार में कि देखिये इन लोगो को हाँ, हाँ ! बताइये क्या है मेरी इस मुट्ठी मे? मैं कोई लफ्फाज़ नही, जादूगर नही। बहुरूपिया नहीं। अच्छा खासा 'मिडिल क्लास' का नौजवान हूँ, मेरे पापा तो 'अपर क्लास' के हैं भाई ! लेकिन मैं उतने ऊपर जाने का कायल नहीं। आखिर उतने ऊपर से गिरकर चोट कौन खाये?

अब बताइये, क्या है मेरी मुट्ठी मे? कोई नहीं? कोई नहीं? तो जाइये फिर मैं अपनी मुट्ठी की चीज नीलाम किये दे रहा हूँ।......कोई नही, एक कोई नही, दो...कोई नहीं......।

स्त्री स्वर : (**सहसा**) रुको मैं बताती हूँ।

सुधीर : (**डर से**) अँय . नही... .नही......।

[घबड़ाकर भागने-भागने को होता है, फिर सामने आता हुआ]

सुधीर : मैं तुमसे थोड़े ही पूछ रहा हूँ। मुझे क्या पता तुम चारो ओर हो। तुमसे क्या पूछना ! तुम चली जाओ यहाँ से। चली गयी न। ठीक। (दर्शकों से) मेरी मुट्ठी मे जो चीज है उसमें सब काँटे ही काँटे हैं। और काँटो के भीतर फूल है, और फूल के भीतर एक बेहद हसीन कीड़ा है। अब बोलिये क्या है मेरी मुट्ठी मे ?

[उसी क्षण पीछे का आसमानी पर्दा हट जाता है। वास्तविक दृश्यः—अरविन्द के बँगले का बरामदा। पीछे ड्राइङ्गरूम के दरवाजे और खिड़कियों पर कीमती पर्दे दिखाई दे रहे हैं। बरामदे के बीचो-बीच नीची गोल मेज़ के चारो ओर बेत की चार कीमती कुर्सियाँ। एक कोने पर टेलीफोन दूसरी ओर पतली सी नीची टेबुल पर विभिन्न भाषाओं की पत्र पत्रिकायें और दो चार किताबें। सामने एक खूबसूरत 'बेस' पर तीन 'कैक्टस पाट्स सजाये रखे हैं, अलग-अलग। दीवार पर अरविन्द के बनाये हुये दो चित्र लगे हैं।

[जाड़ों के दिन हैं, सुबह के साढे आठ बज रहे हैं।]

सुधीर : (दृश्य मे आकर पुकारता है) गगाराम ! ओ गगाराम। ... गगाराम।

आवाज : (भीतर से) जी; आया सरकार।

[सुधीर तीनों 'कैक्टस पाट्स को एक किनारे सटा देता है और इससे जो जगह निकलती है, वहाँ अपना कैमरा और 'बाइनाक्यूलर रख देता है ।]

सुधीर : (बड़े बेढंगे तरीके से कुर्सी पर बैठता हुआ) अजी, जल्दी चलो यहाँ, नहीं तो टेलीफोन करना पडेगा।

[गंगाराम का प्रवेश]

गंगाराम : (आते ही) नमस्त साहब।

सुधीर : काफी पिलाओ पहले। आज जरा पिकनिक के मूड में हूँ। ज़रा मूड देखकर बातें किया करो।

गंगाराम : (**अदब से**) बेंत की कुर्सी है न साहब। जरा कायदे से बैठिये। पैर जरा नीचे.....इधर की तरफ. ...उधर नहीं, नीचे।

सुधीर : अर्थात् मैं खड़ा हो जाऊँ। ले तेरी मशा पूरी हो। (**खड़ा हो जाता है**)

गंगाराम : नहीं.. नहीं ...बैठिये .. बैठिये। (**पकड़कर बैठाता है**) आप तो सच, बिल्कुल 'बेबी' ही रह जायेंगे साहब। माई जी ने बहुत समझ बूझ कर आपका नाम 'बेबी' रखा है।

सुधीर : अजी, आज ता मैंने अखबार ही नहीं देखा। (**झपट कर अखबार उठा लेता है**) ऐ है! मार डाला! क्या खेलते हैं ये इंडिया वाले क्रिकेट! बस इज्जत डुबाते हे। (**अखबार उठाता है**) बनने दो मेरी टीम। एक-एक की टाग न तोड़ दूं तो...।

गंगा : आपका नाम बेबी नहीं।

सुधीर : शट अप। (**गुस्से मे अखबार फेकता है**) हटाओ यह कूड़ा अखबार। यह बताओ तुम काफी लाते हो कि नहीं?

गंगा : बिल्कुल चढा के आया हूँ हुजूर।

सुधीर : चढा के आये हे! लेकर क्यों नहीं आये। तुम्हारी इसी आदत से परेशान होकर मैंने तुम्हें अपने बगले से हटा कर यहाँ रखवाया है।

[**गंगाराम अखबार समेटकर करीने से रखता है और हँसता हुआ भीतर चला जाता है। उसी समय टेलीफोन की घंटी बजती है।**]

सुधीर . (**रिसीवर लेकर कुर्सी पर**) हलो! जी आवाज पहचानिये। नहीं, पहचान सकीं। जिया जी, यह शरारत नहीं है, फैक्ट है फैक्ट। एफ० ए० सी० टी०, फैक्ट!.....जिया जी, जरा आज सभल कर बाते कीजिये, मैं आज बेतरह पिकनिक के मूड मे हूँ! ...जी...हाँ...जी...मे क्यों अरविंद जी को बुलाऊँ। मैं कोई गगाराम थोडे हूँ। मेरी मुर्गाओं को चारा डलवा दीजियेगा, हाँ! और उसके टैंक मे पानी भरने के लिये भी आर्डर कर दीजिये!...मेरी परम पूज्य जिया जी, मै अभी टेलीफोन देता हूँ अरविंद दा को।

[**उसी क्षण सहसा भीतर से अरविंद का प्रवेश, कीमती**

गाउन पहने हुये, गौरवर्ण, क्लीनशेव्ड, बड़ा ही प्रभावशाली व्यक्तित्व और जैसे सब पर मोहक गंभीरता का कवच डाले हुये।]

अरविंद · (प्रवेश करते ही,धीमे से) ! नमस्ते ! मेरा टेलीफोन।

सुधीर : (हड़बड़ाकर कुर्सी से उठता हुआ) जी...जी...आपका...।

अरविंद : (फोन पर) हलो हलो ! कोई आवाज नही। हलो।
(प्रतीक्षा मे चुप)

[सुधीर शरारती मुद्रा मे ड्राइंग रूम के दरवाजे के पास खड़ा है, उसी समय एक कप काफी लिये गंगाराम आता है। संकेत से दोनो भीतर चले जाते है।]

अरविंद : (फिर से नम्बर मिलाकर) हला ! जी...नमस्ते...जी, सुधीर खड़ा है मेरे पास। (देखकर) अरे सुधीर ! सुधीर !

गंगाराम : (प्रवेश कर) काफी पी रहे हैं।

सुधीर : (जैसे दौड़कर) जी नही, मैं यही हूँ।

अरविंद : बैठो। यही काफी पियो न मेरे सामने। बैठो। (आज्ञा से) गगाराम, काफी लाओ।

गंगाराम : आप भी पियेगे न !

अरविंद : नही !

[गंगाराम चला जाता है सुधीर कुर्सी पकड़कर खड़ा ही रह जाता है।]

अरविंद · (फोन से) आनन्दा जी ! देखिये यह सुधीर कुर्सी पर नहीं बैठता। खड़ा रहता है। (हंसकर) तुम्हारी जिया ने टेलीफोन पर जानते हो क्या कहा है। कहा है कि 'बेबी अदब करता है।'

सुधीर : जी नही, बात यह है कि बड़ी परेशानी होती है मुझे आपके सामने कुर्सी पर बैठते हुये। जरा ठीक से मैं बैठ नही पाता एक जगह, और आज तो जरा पिकनिकी मूड मे भी हूँ।

अरविंद : (फोन से) सुन रही हैं न सुधीर को ! आवाज़ तो टेलीफोन जरूर ही 'कैच' कर रहा होगा।

(काफी लिये गंगाराम का प्रवेश)

गंगाराम : हुजूर ! काफी लीजिये।

[सुधीर कप पकड़ता है गंगाराम का प्रस्थान]

अरविंद : (फोन पर) और सब ठीक है। आऊँगा। अभी थोड़ी देर में। ओ...के .। नहीं, नहीं.. नमस्ते। नहीं, कुछ नहीं।

[हसते हुये टेलीफोन रख देते हैं।]

अरविंद : और कहिये सुधीर साहब, क्या हाल-चाल हैं? बहुत कम दीख पड़ते हैं आप!

सुधीर : आप मुझे देखते ही न होंगे। मैं तो रहता हूँ घर ही पर।

अरविंद : मैं भी तो आपके घर कम से कम एक बार तो जरूर ही जाता हूँ..।

सुधीर : जी...वही तो।

अरविंद : वह जो जाल में फँसाकर आप कोई मुर्गाबी ले आये थे न, क्या हालचाल है उसका? कैसी है, मुझे भी तो दिखाइये एक दिन।

सुधीर : मैं उसको कभी बाहर नहीं निकालता। न किसी को देखने ही देता हूँ। (.काफी खत्म करके) बात यह है कि मुर्गाबी बड़ा ही गरीब परिन्दा है, पर उतना ही खूबसूरत और लाजवाब!

अरविंद : तो

सुधीर : जो गरीब है पर खूबसूरत और लाजवाब है। इस गल्ती के लिये मैं लानत भेजता हूँ कुदरत पर। सोचिये, यह भी कोई बात हुई।

अरविंद : इसीलिये आप उसे चौबीस घटे कब्जे में रखते हैं, ताला कुञ्जी बंद।

सुधीर : जी! एक तो गरीब परिन्दा, दूसरे शिकार, तीसरे उसको देखते ही हर गोश्तखोर के मुँह में जो पानी भर आता है। बड़ी मुसीबत है।

अरविंद : भाई, मैं तो विशुद्ध शाकाहारी हूँ।

सुधीर : (ठहाका मार कर हँस खड़ा होता है) शाकाहारी, वह भी विशुद्ध। अरविंद दा। मेरी समझ से दुनियाँ में कोई शाकाहारी नहीं।

अरविंद : अच्छा, तुम बैठो, मैं अभी आया। जाना नहीं, हाँ...।

[अरविंद का तेज़ी से प्रस्थान, क्षण भर बाद गङ्गाराम का प्रवेश]

गंगाराम : काफी अच्छी थी न साहब ?

सुधीर : सुनो, कान इधर लाओ गंगाराम। बस तुम हाथ से गये। तुम इतने होशियार क्यो हो गये जी ? (रुक कर) दद्दा जी कहाँ गये, दिखाई नही पडे अब तक।

गंगाराम : आज सुबह ही सुबह पता नही कहाँ चले गये। शायद कहीं टहलने गये हो।

सुधीर : क्यों गंगाराम, चलो पिकनिक या शिकार पर चलते हो। तुम शिकार लिये बैठना, मैं बंदूक और केमरा लिये उस मोतीझील मे देखूँगा।

गंगाराम : बदूक और केमरा एक साथ ?

सुधीर : जैसे कला और पेट की भूख। अजी, तुम क्या समझोगे इन बातों को (रुक कर) एक बात बताओ गंगाराम। तुम्हारे साहब इतन सुविख्यात चित्रकार कलाकार, फाइन आर्टस कालेज के प्रिंसपल पर 'कैक्टस' के इतने शौकीन क्यो हुये ? अरे, एक से एक हसीन फूल पत्तियाँ, बेल-लतर हैं कुदरत के पास।

गंगाराम : हमारे साहब हर चीज की आत्मा पूजते हैं, शरीर नहीं।

सुधीर : तभी बँगले भर मे कैक्टस ही कैक्टस हैं। बाहर भीतर, लान मे, ड्राइंगरूम 'बेडरूम' यहाँ-वहाँ, गर्जे चारो ओर कैक्टस। पता नही दद्दा जी कैसे यहाँ साँस लेते होगे।

गंगाराम : बहुत झुँझलाते हैं, पर साहब को ये कैक्टस इतने प्यारे हैं कि जैसे इन्हीं की नींद मे वे सोते जागते हैं। पिछली बार एकाएक चार पौधे सूख गये, साहब दो दिनो तक परेशान थे।

सुधीर : परेशानी की क्या बात, और मगवा लेते। अरविंद दा कहें तो मैं ट्रक के ट्रक कैक्टस लदवा कर यहाँ पाट दूँ।

[उसी समय दद्दा जी का बाहर से प्रवेश, गंगाराम उन्हें देखते ही भाग जाता है।]

सुधीर : (उठकर) नमस्ते दद्दा जी।

दद्दा : नमस्ते। बैठो, खडे क्यो हो गये ?

सुधीर : दद्दा जी, मैं राजा बेटा हूँ न ! बड़ों को अदब देता हूँ। दद्दा

जी आप के बदन पर यह शेरवानी खूब जॅचती है। क्या कहने हैं, अहा हा !

दद्दा : हर समय, हर युग का अपना 'कल्चर' होता है, और वह 'कल्चर' आदमी के पहनावे से झलक उठता है। मैं अँग्रेजों के सग उठने बैठने वाला आदमी, फिर भी अपनी भारतीय संस्कृति का सदा उपासक रहा हूँ।

[**बीड़ी दाग कर पीते हैं।**]

सुधीर : पर दद्दा जी आप बीड़ी क्यों पीते हैं ?

दद्दा : मजबूरी ! न अपना समय रहा न जमाना ! महज़ यादें रह गयीं। (**कश लेकर**) मेरा एक दोस्त था, अँग्रेज कलक्टर .. वह हिन्दुस्तान के बारे मे अक्सर कहा करता था कि यहाँ कभी कहत नहीं पड सकता, क्योंकि हिन्दुस्तान के लोग कुछ भी खा पी सकते है। मुझे ही देखो, चुरट और सिगार पीने वाला बीड़ी पर उतर आया।

[**उसी समय टेलीफोन की घंटी बजती है। सुधीर रिसीवर उठा लेता है।**]

सुधीर : जी हलो जा हाँ हैं तो अन्दर।

[**दौड़ा हुआ गंगाराम आता है।**]

गंगाराम : (**सुधीर के पास आ**) क्या है साहब ? किसका 'टेलीफोन' है ?

सुधीर : कोई साहब हैं अरविंद दा से मिलना चाहते हैं। कहीं दूर से इनके दर्शन के लिये आये हैं।

गंगा राम : (**फोन पर**) देखिये जी, अभी साहब हैं नहीं...। (**रुककर**) उन्हे पता नहीं था।

[**टेलीफोन रख देता है।**]

दद्दा जी : (**चिढ़कर**) अब नौकर का दुम ! तू इतना झूठ क्यो बोलता है ? तेरे साहब के पास अगर वक्त नहीं है, किसी से मिलने का अगर जी नही है, तो यहाँ झूठ का इतना बड़ा व्यापार क्यों चलता है ? हिम्मत से साफ बात क्यों नहीं कह देते ?

[**गंगाराम चुप खड़ा रह जाता है।**]

दद्दा जी : साहब कहाँ है ?

गंगाराम : पूजा कर रहे हैं।

सुधीर : (जैसे चौंकता है) ऐं पूजा ! क्यो गंगाराम सचमुच पूजा ? कैक्टस और पूजा !

दद्दा : अजी कोई राम नाम की पूजा ? पूजा नहीं 'कसट्रेशन।

[गंगाराम का प्रस्थान]

दद्दा : तुम्हारी अरविंद से भेंट हुई ?

सुधीर : जी हुई थी।

दद्दा : तुमने बता दिया न, कि आनन्दा को बुखार आ गया है।

सुधीर : उनका तो खुद टेलीफोन आया था. जब अरविंद दा को उन्होंने नहीं बताया तो मै क्या बताऊँ कि आनन्दा जिया को कल शाम से बुखार आया है।

दद्दा : नहीं 'बेबी', तुम्हें बता देना था अरविंद को। वह बड़ा परेशान होगा।

सुधीर : दद्दा जी, मैं क्यो बताऊँ ! और यह कोई एक दिन की बात तो है नहीं। अरे मेरी आनन्दा जिया को अक्सर शाम को 'टेम्प्रेचर' हो आता है, सुबह फिर ठीक हो जाती हैं। कहती हैं, 'दिस इज माई नार्मल लाइफ।' दद्दा, एक बीड़ी मुझे भी !

दद्दा : (देते हुये) लेकिन मैं इस समय वहीं से आ रहा हूँ...टहलते-टहलते चला गया था। आनन्दा को इस समय भी टेम्प्रेचर है...'नाइन्टीनाइन प्वाइंट सेविन'।

सुधीर : (बीड़ी दाग कर) अरे दद्दा जी, यह सब तो यूं ही है, आप फिकर मत कीजिये। बड़ी 'डिलक्स' बीड़ी है दद्दा जी ! कहाँ से मँगाते हैं ? क्या नाम है ?

दद्दा : (अपनी ही बात में) तुम अभी लड़के हो, तुम्हे क्या पता !

सुधीर : दद्दा जी, मैंने एक मुर्ग़ाबी पाल रखी है, दिखाऊँगा किसी दिन आपको। मैं उसका जोड़ा लगाने वाला हूँ...आजकल में जाल लगवाऊँगा झील मे, फिर देखियेगा मुर्गाबी डांस ! मैं उनके लिये एक शीशे का बक्स बनवाऊँगा।

दद्दा : बिल्कुल बच्चे हो तुम। अजी, मुर्ग़ाबी शिकार की चीज है, और शिकार खाने की चीज़। और तुमने उसे पाल रखा है। 'अननेचुरल', 'इनहुयमन'।

[उसी क्षण किसी पक्षी की आवाज़ सुनायी पड़ती है, सुधीर अपना 'बाइनाक्यूलर' लेकर भागता है।]

सुधीर : (जाते जाते) दद्दा जी, मैं अभी आया। किसी पहाड़ी चिड़िया की आवाज आयी है।

[प्रस्थान; क्षण भर बाद अरविंद का प्रवेश]

अरविंद : सुधीर कहाँ गया ?

दद्दा : अभी-अभी अपना 'बाइनाक्यूलर' लिये भागा गया है।

अरविंद : इसे तो मिलिट्री मे होना चाहिये था। डाक्टर पापा के घर मे यह ।

दद्दा : (बीच ही में) शायद आपको पता नहीं, आनन्दा जी की तबीयत खराब है।

अरविंद : क्या हुआ ? सुधीर ने नहीं बताया ! और अभी थोड़ी देर की तो बात है, आनन्दा जी ने स्वय मुझसे बातें की हैं। पर कही से कोई पता नही कि वह बीमार हैं। . आपको कैसे पता ?

दद्दा : मैं वहीं से आ रहा हूँ। डाक्टर साहब ने बताया कि कल शाम जब आप आनन्दा जी को घर छोड़ कर यहाँ आये, वह बाहर लॉन मे ही लेटी रही। डाक्टर पापा ने कहा, उनकी 'मदर' ने समझाया, पर वह लॉन से हटी ही नहीं, पता नहीं कितनी रात तक वहीं लेटी रही, और जब डाक्टर साहब ने देखा तो लाड़ली बेटी को तेज बुखार।

[पृष्ठभूमि मे बंदूक का फायर]

अरविंद : (बिगड़ कर) यह क्या ? मेरे अहाते मे बदूक का कैसा फायर ? (पुकार कर) गगाराम। गगाराम। (गंगाराम का प्रवेश) देखो कौन है बदूक चलाने वाला ? पकड़ लाओ ! ये हिंसक ! अमानुष !

[गंगाराम जाता है।]

दद्दा : सुधीर तो 'बाइनाक्यूलर' लेकर गया है। सड़क पर तो कई लोग दिखाई पड़ रहे हैं।

[दोनों खड़े होकर उसी दिशा मे देखते हैं।]

अरविंद : मैं देखना चाहता हूँ वह कौन है, जिसने इतनी हिम्मत की। मैं तब तक डाक्टर पापा के यहाँ टेलीफोन तो कर लूँ। (नम्बर

मिलाकर) जी, मैं अरविंद बोल रहा हूँ।...आनन्दा जी को क्या हो गया? कैसी हैं वे? . जरा टेलीफोन उन्हीं को दे दीजिये। धन्यवाद। (विराम) मैं बहुत नाराज हूँ आपसे। यह क्या तमाशा है! कल रात से ही बुखार है आपको। झूठ...सब झूठ कहेंगे? मैं अभी दद्दा जी को टेलीफोन दे दूँगा। जी बिल्कुल सामने खडे हैं। यह क्या बचपना है!

दद्दा : क्या कह रही हैं?

अरविंद : (फोन से अलग) कह रही हैं 'मुझे कुछ नहीं हुआ है। मैं कार से अभी आती हूँ।'

अरविंद : (फोन पर) नहीं-नहीं, आप मत आइये! मैं आ रहा हूँ।... बस बस आप आराम कीजिये। . .आप क्यों आयेंगी! . . अच्छा, देखता हूँ कौन कहाँ पहुँचता है!

[टेलीफोन रख देते हैं। उसी बीच गंगाराम के संग सुधीर आता है]

अरविद : क्या है? किसने फायर किया?

सुधीर : मैंने, सुधीर, बेन्नी ने।

गंगाराम : दद्दा जी, चलिये आप नाश्ता कर लीजिये। आज तो दवा भी नहीं पी आपने!'

[गंगाराम के संग दद्दा जी का प्रस्थान]

सुधीर : अहा! बड़ी सुन्दर चिड़िया था, लेकिन बेचारी एक ही छर्रे मे मर गयी, जमीन पर गिरकर जरा देर छटपटायी भी नहीं।

अरविद : तुम्हे पता है, मेरे अहाते मे कोई बन्दूक नहीं चला सकता।

सुधीर : मैं तो यह नहीं जानता था, पर शायद उन्हे यह पता था जिनके हाथ मे बन्दूक था। मेरे पास तो केवल अपना 'बाइनाक्यूलर' था। इत्तफाक़ से मै वही चिड़िया देख रहा था, जिसे वे देख रही थीं, पर उनके अब्बाजान बन्दूक चलाने से मजबूर थे। सच, वे आपको डर रहे थे।

अरविद : फिर आपने बन्दूक लेकर चला दी?

सुधीर : क्या करता! शिकार, शिकारी और बन्दूक! जब सब एक प्वाइन्ट पर थे तो क्या करता!

अरविंद : ओहो ! तो यही पिकनिक थी आपकी। मिस खान आपके कालेज मे पढती हैं न ! मुझे पता है ?

सुधीर : तो इससे क्या ?

अरविंद : तभी मैं कहूँ, यह हजरत साढ़े आठ बजे दिन तक सोने वाले सुबह ही सुबह यहाँ कैसे !

सुधीर : अच्छा, अरविंद दा मैं चला। (**केमरा उठाकर**) नमस्ते।

अरविंद : जरा रुकिये तो। क्यों साहब, आपकी आनन्दा जिया की तबीयत खराब, और आपने कोई खबर न दी।

सुधीर : कौन कहाँ बीमार है, यह मैं क्या जानूँ और क्यों जानूँ! जब आनन्दा जिया आपसे खुद नहीं बताती तो खामखाह और कहने वाले लोग झूठ हैं।

अरविंद : अच्छा, नाश्ता करके जाना। मैं अपने संग ले चलूँगा तुम्हें।

सुधीर : जी धन्यवाद। आज मैं जरा पिकनिक के मूड मे हूँ। (**चलते-चलते**) नमस्ते। टा...टा...!

[**सुधीर का प्रस्थान, अरविंद की दृष्टि सहसा 'कैक्टसपाट्स' की ओर जाती है।**]

अरविंद : (कड़े स्वर मे) गंगाराम ! गंगाराम !

गंगाराम : (**आकर**) जी हुजूर !

अरविंद : यह देखा क्या है ? जरा अकल से देखो ये 'कैक्टस' आपस में मिल कैसे गये ? कैसे यह हुआ ? यह क्या हो गया ?

गंगाराम : सुधीर बाबू ने मिला दिया, यहीं उन्होंने अपना केमरा वगैरह रखा था।

अरविंद : और तुम यहाँ किस लिये हो ? तुम जानते हो, इसीलिये मैं यहाँ अपने चपरासियों को नहीं आने देता, महज़ तुम पर विश्वास करता हूँ मैं ?

[**गंगाराम पाट्स को अलग-अलग रखता है।**]

अरविंद : तुम्हें मैंने बताया नहीं था कि इन तीनों 'कैक्टस' में यह बीच का कैक्टस 'मादा कैक्टस' है। मैंने कितनी बार तुम्हे साव-धान किया कि इस 'मादा कैक्टस' को सब 'पौदों' से जरा दूर रखा करो। देखो इसका नाम भी मैंने हिन्दी मे लिख दिया है...और पहचान के लिये यह लाल निशान भी बना दिया

है। पर तुम्हारी अकल तो कभी-कभी मारी जाती है न। (रुक कर) खबरदार ! निगाह रखो इन पर, ये कैक्टस आपस मे मिलने न पाये। इस 'मादा कैक्टस' ने मेरे पाँच उम्दा 'कैक्टस' को सुखा डाला। पता है न !

गंगाराम : साहब, पर जब यह इतनी खतरनाक है तो इसे आप रखते ही क्यों हैं ? ऐसी चीज तो रखना ही नही चाहिये।

अरविंद : तुम क्या समझोगे ? तभी तो यह इतनी अमूल्य है। बिना इसके मैं एक क्षण नही रह सकता। इससे प्रेरणा लेकर तो मैंने अमूल्य चित्र बनाये है। और अभी न जाने कितने अपूर्व चित्र बनाऊँगा। (उठा लेता है) देखा, कितनी सुन्दर है। दुनियाँ का कोई फूल-पौदा इसका मुकाबिला नहीं कर सकता ! 'वंडरफुल !,

गंगाराम : पर इसमे काँटे बहुत हैं साहब !

अरविंद : वह तो महज अपनी रक्षा के लिये है। सारा सौन्दर्य और रस तो इसके भीतर है। 'रियली डिवाइन'।

[दद्दा जी का एकाएक प्रवेश]

दद्दा : (प्रवेश करते ही) पर आप तो कहते थे कि 'कैक्टस' को सुखाने वाली कोई चीज ही नही होती। कई मूर्तियाँ और चित्र भी बनाया है आपने इनका।

अरविंद : जी, नये इन्सान का प्रतीक है यह 'कैक्टस'। आज की विरोधी मे विरोधी स्थितियों मे भी यह हरा रहता है। कोई जानवर नहीं, कोई कीड़ा नही, कोई बीमारी नहीं, कोई दुश्मन नहीं, जो इसे सुखा सके। (रुक कर) मार्क्स और अरविंद का समन्वय है इस पौदे मे। बाहर काँटे, भीतर रस।

दद्दा : (हँस पड़ते हैं) क्या खूब ! तो अरविंद कैक्टस है ! अरविंद और कैक्टस ? वाह...वाह ! पर ये कैक्टस, बहादुर फिलासफर पौदे केवल एक ही कारण से सूखते हैं...वह भी 'मादा कैक्टस' के सम्पर्क मात्र से। (हँसते-हँसते) एक छुई मुई का पौदा सुना था...वाह ! वाह !

अरविंद : आप लोगो की जिन्दगी केवल सुन सुनाकर और सोकर ही तो कटी है, और हमारी जिन्दगी ..।

दद्दा : आपकी जिन्दगी। आप और जिन्दगी! (**रुक कर**) जिन्दगी का रूप यह नहीं होता। वह तो बहुत पीछे छूट गयी!

अरविंद : जहाँ आप लोग हैं! और थे।

दद्दा : (**बीड़ी दागते हैं**)

[**उसी समय पृष्ठ भूमि मे कोई कार आकर रुकती है।**]

अरविंद : **मादा कैक्टस को 'बेस' पर रखकर, उत्साह में**) आनन्दा!... आनन्दा जी। (**बाहर निकल जाते हैं।**)

दद्दा : (**उसी ओर देखते हुये**) आ जाओ...आ जाओ। यहीं आ जाओ बेटी। इत्मीनान रखो मैं चला जाऊँगा यहाँ से।

[**अरविंद के सँग हँसती हुई आनन्दा का प्रवेश।**]

दद्दा : (**जैसे आनन्दविभोर हो**) आ हा हा। क्या जोड़ी रची है ईश्वर ने! पता नही मेरा जीना कब सुफल होगा। आ जाओ, इधर बैठो बेटी!...क्यों जी, अब तबियत ठीक हो गयी आपकी?

आनन्दा : दद्दा जी। मैं बीमार ही कहाँ थी! (**खाँसी आ जाती है।**)

दद्दा : अच्छा जी, ओह ओ! खाँसी तो आ रही है! इसे क्यों नहीं छिपातीं?

आनन्दा : जाड़ों के दिन है, खाँसी तो यूँ ही आ जाती है। देखिये न, मैं बिल्कुल नार्मल हूँ! देखिये...! हाथ देखिये न दद्दा जी!

दद्दा : ओ गगाराम, जरा थर्मामीटर तो लाना। कुछ ठड तो ज़रूर लग गयी है, 'इक्सपोजर' है।

आनन्दा : (**हँस पड़ती है**) दद्दा जी आप भी! मुझे कैसा 'इक्सपोज़र।' इतना तो लादे हूँ, ब्लाउज, सुएटर, यह शाल!...देखिये न मेरा हाथ। क्या मैं बीमार लगती हूँ?

[**हल्की खाँसी**]

दद्दा : बीमार लगे तेरे दुश्मन। बेटी, तुम्हारी कीमत मैं जानता हूँ।...आज एक हफ्ता हुआ, जब से मैं यहाँ आया हूँ रोज स्वप्न देखता हूँ...बेला चमेली के फूल खिले हैं, शख बज रहे हैं, कही मडप मे गा-गाकर मत्र पढ़ा जा रहा है...सोने से मढी हुई शहनाइयाँ बज रही हैं।

[**अकेली आनन्दा हँसती जा रही है। दद्दा जी की बात ज्यों ही खत्म होती है, उसी क्षण गंगाराम थर्मामीटर लिये आता है।**]

गंगाराम : दद्दा जी, यह लीजिये थर्मामीटर ।

अरविंद : गगाराम ! तू भी बड़ा मूर्ख है, बात नही समझता ।

दद्दा : यानी मूर्ख तो मैं हूँ ।

[सब एक साथ हँसते हैं ।]

दद्दा : लो मुँह मे डालो थर्मामीटर ।

आनन्दा : दद्दा जी, मुझे हँसी आ रही है। आप मजाक कर रहे हैं मेरा ।

[मुँह मे रखती है]

दद्दा : कोई बात नहीं । बदले मे आप दोनो मिलकर मेरा मजाक कर लीजियेगा । ठीक...। बेटी, तुम्हारे डाक्टर पापा युनिवर्सिटी के प्रोफेसर थे, पर तुम्हारे लिये केवल पापा थे,...तुम्हारे लिये डाक्टर मैं हूँ ।

अरविंद : होमियापैथी ही सही ।

[कुछ क्षणो बाद थर्मामीटर लेकर दद्दा जी देखने लगते है ।]

आनन्दा : थर्मामीटर की क्या रीडिग है दद्दा जी । (**खाँसी**)

दद्दा : देखने तो दो...अरे। यह नार्मल कैसे है । अरे अरे !!

आनन्दा : (**हँसती हुई**) हार गये न !

दद्दा : लगता है तुमने ठीक से लगाया नही ।

अरविंद : क्यों, क्या यह जरूरी है कि इन्हे टेम्प्रेचर हो ही ।

दद्दा : (**दुख से**) ओह ओ । कैसी अशुभ बात करते है आप, टेम्प्रेचर आप दोनो के दुश्मनो को हो । बेटी, अभी मैं काफी भिजवाता हूँ तुम्हारे लिये । तब तक आप दोनो मेरा मजाक कीजिये (**हँसी**) आओ गगाराम ..चलो । (**भीतर जाकर वापस**) देखो, चुपके से न चली जाना हाँ । (**प्रस्थान**)

[अरविंद और आनन्दा की मीठी, स्नेहसिक्त हँसी]

आनन्दा : लगता है कि हम लोगों के सग ये कैक्टस भी हँस रहे हैं। (**उठा लेती है**) कितनी प्यारी है यह 'मादा कैक्टस', रियली ब्युटीफुल !

अरविंद : तो आप केवल अपनी प्रशसा करेगी ?

आनन्दा : नहीं सच, जी होता है कि इसे कपडे पहनाऊँ—साड़ी-ब्लाउज, लहँगा, दुपट्टा-ओढ़नी । कितनी प्यारी गुड़िया लगेगी तब यह ।

अरविंद : पर काँटे कहाँ जायेंगे ?

आनन्दा : इसकी रूपसज्जा में ढँक दूँगी।

अरविंद : सच, कितनी कला होती है आप लोगों मे ! **(रुककर)** एक बात बताइये, मेरे फादर आपको कैसे लगते हैं ?

आनन्दा : बडे स्वीट है दद्दा जी। **(खाँसी)**

अरविंद : लेकिन बडे ही पिछडे ख्यालात के ह। फ्यूडल टेम्प्रामेंट के लोग हैं, अँग्रेजी हुकूमत के दावेदार। इस नये ज़माने के लिये ये लोग 'फिटइन' नही करते। हर चीज, हर नाता ..रिश्ता उसी पुराने पैमाने से देखते हैं . ।

आनन्दा : **(बीच में ही)** पर हैं स्वीट दद्दा जी !

अरविंद · **(रुककर)** पर दुख तो इस बात का है कि नयी चीजो को ये लोग समझ ही नही पाते, मान्यता क्या देंगे।...हटाओ इन बातो को। तो आपकी तबीयत सचमुच खराब थी, आपने खूब छिपा लिया। अब मुझ से सही सही बताइये, बुखार था न ! क्यो ?

आनन्दा : अब आप भी दद्दा जी हो जायेंगे ! **(हल्की खाँसी)**

[दोनो हँसते हैं। सहसा पृष्ठभूमि में संगीत के साथ, एक मोटी तेज आवाज़ फिर शेष बच्चों के सम्मिलित स्वरो में समवेत गान उभरता है। आनन्दा और अरविंद की कुछ अस्पष्ट बातें, और कभी कभी स्पष्ट हँसी इस गान के बीच बीच में उभरती डूबती रहेगी।]

'दयालू नाम है तेरा पिता अब तो दया कीजे।
हरी सब तुम को कहते हैं हमारे दुःख हर लीजै ॥
बहुत भटका फिरा दर दर शरण तज हे पिता तेरी।
पकड़ कर हाथ अब तो दुख सागर से छुड़ा दीजै॥

अरविंद : **(झुँझला उठता है)** गंगाराम। गंगाराम।

गंगाराम : जी सरकार।

अरविंद : देखो यह क्या तमाशा है। कौन हैं ये लोग ?

[गंगाराम बाहर जाता है, समवेत गान अबाध गति से चल रहा है।]

'तुम्ही माता पिता सबके तुम्हीं हो नाथ धन विद्या।
शरण आये पडे हैं नाथ अब हम पर कृपा कीजै॥'

[एकाएक गीत थम जाता है, कुछ क्षणों भर बाद गंगाराम लौटता है ।]

अरविंद : क्या है ?

गंगाराम : जी......वो अनाथालय वाले बच्चे हैं ।

अरविंद : कैसे आये यहाँ ? बँगले का फाटक बन्द नहीं रखते क्या तुम ?

आनन्दा : मैं जो अभी आयी हूँ ।

अरविंद : ओ .....आई सी... । (दोनों की हँसी)

अरविंद : देखो, उन्हे जाकर एक रुपया दे दो .पर समझा दो उन्हें, आइन्दा वे यहाँ कभी न आयें । यह एक नया तमाशा हुआ ।.. अजीब लोग हैं...।

[गंगाराम भीतर जाकर, फिर बाहर जाता है ।]

अरविंद : समझा देना उन्हे । वह उनके आने की जगह नहीं ? (रुककर आनन्दाजी से स्नेह स्वर मे) तो आप जीत गयीं । अर्थात् मैं जीत गया ।

आनन्दा : कैसी जीत ?

अरविंद : टेलीफोन पर मेरी आपकी बात हुई थी न ! मैंने जरा भी विश्वास नहीं किया था कि आप पहले यहाँ आ जायेंगी और इतनी जल्दी ।

आनन्दा : आप ने सोचा होगा कि मैं तो पलग पर पड़ी होऊँगी ।

अरविंद : नहीं नहीं, मुझे तो पूरा विश्वास था कि आप बिल्कुल ठीक हैं । और देर तो मुझे सुधीर की वजह से हो गयी । बड़ा अजीब है सुधीर !

आनन्दा : कहाँ गया सुधीर यहाँ से ?

अरविंद : पता नहीं । पर था आज बड़ी मस्ती में । चौराहे के बगल वाले बगले में जो मिस्टर खान रहते हैं...इजीनियर, उनकी लड़की के लिये उसने बात-बात में एक चिड़िया की हत्या कर दी ।

आनन्दा : मुझे सब पता है, बड़ा ही वह तूफानी है । आज इतवार है न, अब वह पिक्चर गया होगा ।...और मिस खान के संग गया होगा । (रुककर) उन्ही के कार से कई दिन मिस खान को अपने घर ले आया था, पर किसी से मिलाया तक नही । इस तरह 'पजेस' करने की आदत है उसमे कि...।

अरविंद : अर्थात् बहुत जल्द दोनों की शादी तै हो जायगी।

आनन्दा : कोई ताज्जुब नही।

[दोनों हँस पड़ते हैं।]

अरविंद : तो अगले इतवार से हमारे आर्ट कालेज की 'इक्जबीशन' शुरू हो रही है। आपके चित्र 'माउंट' होकर आ गये हैं कालेज में।

आनन्दा : इतनी बड़ी 'इक्जबीशन' में मेरे चित्र ..! (हल्की खाँसी)

अरविंद : जी, आपके चित्र बीचो बीच में होगे...बिल्कुल 'आर्ट गेलरी' में। क्या समझती हैं आप अपने चित्रों को। उन्हें तो मैं जानता हूँ।

आनन्दा : मेरे सारे चित्र रखियेगा आप ?

अरविंद : कुल आठ ही तो हैं। (रुककर) मैं तो बहुत चाह रहा हूँ कि तब तक दो-एक चित्र आप और बना डालिये।

आनन्दा : यह नहीं होगा मुझसे। आई फील टायड !

अरविंद : अरे ! आप तो मुझे इतना उत्साह देती रही हैं !

आनन्दा . लेकिन इधर पता नहीं क्यों, जी नहीं हो रहा है।

अरविंद : अच्छा, कल से आप मेरे संग बैठियेगा (उठकर) अभी तो 'इक्जबीशन' के पूरे छः दिन मिलते हैं इस बीच में मैं कम से कम पाँच चित्र बनाऊँगा, इतना प्रेरित और उत्साहित हूँ मैं कि ।

आनन्दा : (उठकर) आपकी कला में अनुपम शक्ति है। हजारो लोग तो आपको ही देखने आयेंगे।

अरविंद : अर्थात् मेरे चित्र अनदेखे रह जायेंगे।

आनन्दा : (मुस्करा पड़ती है) देखिये अब मैं जाऊँगी।

दद्दा : (एकाएक प्रवेशकर) हाँ, क्यो नहीं, चुपके से तो जाना ही चाहिये। नये 'वैल्यूज' में यह भी एक 'वैल्यू' है। (पुकार कर) गंगाराम। कहाँ रह गया। काफी ठंडी हुई तो...।

गंगाराम : ले आया हुजूर !

[ट्रे में काफी लिये आता है।]

आनन्दा . दो ही कप क्यों ? दद्दाजी, आप नहीं पियेंगे क्या ?

दद्दा : बेटी, मैं ज्यादा से ज्यादा चाय के युग का हूँ।

आनन्दा . (पीती हुई) फिर इतनी उम्दा काफ़ी कैसे बना लेते हैं ?

दद्दा : सीखा है, ताकि आप सब का साथ दे सकूँ। (**दोनों हँस पड़ते हैं**) बेटी, जब तुम मेरे घर रहने लगोगी न, मैं तुम दोनों को सदा अपने हाथ की बनी काफी पिलाऊँगा।

अरविंद : (**एकाएक प्याला रख कर**) इसके अलावा आप कोई और बात नहीं कर सकते क्या ?

दद्दा : (**मुँह देखते रह जाते हैं।**)

अरविंद : आनन्दा जी, आप चलिये, मैं अभी आता हूँ।

[काफी समाप्त करने लगती है सब चुप]

आनन्दा : (**उठती हुई**) अच्छा दद्दा जी, मैं चलूँगी, नमस्ते।

दद्दा : नमस्ते बेटी। (**आनन्दा को विदा देते हैं, अरविंद भीतर जाते हैं**) फिर आओगी न। आना जरूर, और क्षमा भी करना, हाँ।...अच्छा नमस्ते।

[कुछ क्षण बाद पृष्ठभूमि मे कार स्टार्ट होकर चली जाती है. दद्दा जी अपमानित से चुप खडे देखते रह जाते हैं। गंगाराम आता है।]

गंगाराम : दद्दा जी ! दद्दा जी ! आप बोल क्यों नहीं रहे हैं ? (**रुककर**) वह खराब वाला थर्मामीटर था। अच्छा वाला तो यह है (**दिखाता है**) मैंने अभी देखा।

दद्दा : दोनों थर्मामीटरों को तोड़ दो ले जाकर !

[गंगाराम भीतर लौटने लगता है।]

दद्दा : सुनो। मेरा सामान ठीक करो जाकर, मैं आज ही शाम को यहाँ से चला जाऊँगा। ऐसी जगह बसना मैं पाप समझता हूँ।

[सहसा अरविंद का भीतर से प्रवेश, सूट मे गंगाराम भीतर, चला जाता है।]

अरविंद : (**आते-आते**) पर जिसे आप पुण्य समझते हैं वह मेरे जीवन का चुका देने वाला है ! मैंने देखा है उसे ! मैं गुजर चुका हूँ उस रास्ते से।

दद्दा : मैं आपसे बहस नहीं करना चाहता। क्योंकि मुझे बोलना नहीं आता। आप कलाकार हैं, आपकी कलाकृतियों पर कलापारखी न्योछावर है। आप इतने बड़े आर्ट कालेज के प्रिन्सिपल हैं, मैं क्या बात करूँगा आपसे।

अरविंद : मैं भी नहीं कर सकूँगा।

दद्दा : फिर बात खत्म हुई। मुझे यहाँ आनन्दा के डाक्टर पापा ने इतना आग्रह करक बुलाया है, वरना मैं नही आता।

अरविंद : तो आप मुझसे बात कीजिये न। आनन्दा जी के सामने जो नाटक आप करते हैं, वह मुझे कतई पसन्द नहीं। वह आनन्दा जी को भी बुरा लगता है।

दद्दा · मैं नाटक करता हूँ। और दर्शक तुम हो! बोलो...या नाटक तुम करते हो और दर्शक मैं हूँ। बोलो बस, सारा जवाब मुझे इसी मे मिल जायगा और मैं घर चला जाऊँगा। मैं समझूगा कि मेरा यहाँ आना सफल हुआ।

अरविन्द : (**जाते हुए**) आपकी तरह मुझे इतनी फुर्सत नहीं।

दद्दा यह समझता हूँ। पर मेरी बात सुनो। .बैठो...बैठ जाओ जरा।

अरविन्द (**कुर्सी पर बैठता हुआ**) कहिये।

दद्दा : डाक्टर पापा बहुत परेशान हैं। आनन्दा बेटी का कुछ फैसला कर डालो।

अरविन्द : फैसला यानी विवाह।

दद्दा : जी हाँ।

अरविन्द : आप से मैंने कई बार कहा है कि किसी स्त्री पुरुष के सम्बन्ध मे ब्याह से भी बडी कोई चीज होती है। उसके सामने ब्याह तो सहज एक बच्चो का घरौंदा है। और घरौंदा भी ऐसा जो बहुत पुराना हो चला है।

दद्दा : तो उस पुराने घरौंदे को मिटा कर कोई मजबूत चीज बना लो, नायाब और शानदार। पर बना लो जरूर, उसे मिटने न दो।

अरविन्द : मैं उसे तो बिलकुल ही मिटाना चाहता हूँ। मैं उस रास्ते पर चलकर देख आया हूँ, उसमे गति नहीं है, प्रेरणा नही है। सबसे बड़ी चीज है आपस की 'अन्डर स्टैन्डिंग' सिम्पेथी।

दद्दा : मैं इस बात को समझ नही पाता।

अरविन्द : आप उस बात को भी नही समझ सके थे, जब मैंने अपने ब्याह के चौथे वर्ष बाद मजबूर होकर सुजाता को छोड़ा था।

दद्दा : आप ठीक कहते हैं।

अरविन्द : (**उठ खड़ा हो कर**) फिर मैं विवाह नहीं करना चाहता। आपने

तीन विवाह किये थे। माँ के स्वर्गवास के तीन ही महीने बाद आप ने दूसरी शादी की थी, उसे हटरो से मारते थे आप। फिर उसी के सीने पर आपने तीसरी भी शादी की। भाग्यवश एक एक कर वे दोना मर गयी।

दद्दा : **(चुप हैं)**

अरविद : हम और आनन्दा एक दूसरे को बडे भाग्य से मिले हैं। हम जीवन-पर्यन्त इसी भाँति आनन्द और प्रेरणा से एक दूसरे के सग रहेगे। इसमे आप क्यो दुखी है, डाक्टर पापा क्यों इतने चिन्तित है, हम और आनन्दा जी, दाना नही समझ पाते इस रहस्य को।

दद्दा : मुझे तो छोड़िये, पर डाक्टर पापा खूब समझने हैं, क्योंकि वे हिन्दू बाप हैं, इकलाती बेटी के।

अरविद : आनन्दा जी युनिवर्सिटी म लक्चरर हे, सब दृष्टि से वह स्वतत्र है। (**रुक कर**) और हम दोना कोई बच्चे नही हैं जो आप लोग हमे शिक्षा दे, या रास्ता दिखायें। अपना भला-बुरा मालूम है।

दद्दा : तो आपका सारे साशल स्ट्रक्चर पर विश्वास नही, सारे ट्रेडीशन को आपने तोडा। पुराने 'मॉरल वैल्यूज़' को आपने ठीकरा समझ लिया। फिर आपके पास क्या है, जिसके सहारे आप जियेंगे, और अपनी कला-कृतियाँ तैयार करेंगे ?

अरविद . 'काशेन्स' ह हमारे पास। कुछ और न हो, हमे परवाह नहीं।

दद्दा जो स्त्री को मात समझे, कहाँ का काशेन्स है उसके पास, मैं जानना चाहता हूँ।

अरविद : वह इतने ऊपर नहीं कि आप देख-समझ ले।

दद्दा : क्यो नही ! वह बहुत भीतर छिपा होगा।

अरविद : जी हाँ। बहुत भीतर, जैसे इन 'कैक्टस' मे कही सौन्दर्य छिपा है, रस और शक्ति छिपी है।

दद्दा : ये 'कैक्टस'। (**व्यंग्य की हँसी**) बिना फूल के ये डरावने, बदशक्ल ठूँठ, बौने पौधे। प्यार से भी छुओ तो काँटों के जहरीले डक मारने वाले। छी छी...छी...।

अरविद : आपके मन मे घृणा है, द्वेष है, ईर्ष्या है।

दद्दा : पर कहीं विश्वास भी है।

अरविंद : वह अंधविश्वास है, जिसे आप विश्वास कहते हैं।

[**अरविन्द जाने लगता है।**]

दद्दा : ठीक है, जाओ...। तुम्हारा रास्ता तुम्हे प्रकाश दे।

[**अरविन्द अदृश्य हो जाते हैं, दृश्य में अकेले दद्दा जी रह जाते हैं।**]

दद्दा : (**जैसे अरविंद से कह रहे है**) अरविंद। जिस सुजाता को तूने उस तरह अपमानित करके त्यागा था वही सुजाता चारो ओर है। हर स्त्री वही सुजाता है। सुजाता ! सुजाता ! मत या आओ तुम ! मत या आओ सुजाता ! सुजाता !

[**बढ़ते-बढ़ते आगे, बिल्कुल दायें किनारे पर पहुँच जाते हैं, दायें हाथ मे दोनो आँखें भिंच गयी हैं। मंच का प्रकाश धीरे-धीरे ख़त्म हो जाता है, और क्षण भर बाद जब फिर प्रकाश लौटता है, तो फिर वही आसमानी पर्दा दीख पड़ता है। हल्का वाद्य संगीत, धीरे-धीरे उभरता हुआ ऊँचा, फिर गहरा होने लगता है, और सबसे ऊँचे उठकर सहसा टूट जाता है।**

तभी बायीं ओर से अरविंद का प्रवेश, कुर्ता पैजामा पहने हैं, हाथ में एक अधूरा चित्र और ब्रश है।]

अरविंद : (**प्रवेश करते ही**) सुजाता ! ..सुजात !

सुजाता : जी आयी.. (**प्रवेश कर**) क्या है ?

अरविंद : मेरा स्टैन्ड यहीं ला दा। मैं वहाँ अपने कमरे में बैठकर कोई चित्र नहीं पूरा कर सकता ?

सुजाता : और क्या ला दूँ ? बोलिये...।

अरविंद : मुझसे पूछती हो 'और क्या ला दूँ !' तुम्हे खुद मालूम होना चाहिये मुझे क्या चाहिये और क्या नहीं चाहिये। तुम्हे मेरे पूरे मन को जानना चाहिये।

सुजाता . आपको बाहरी आवश्यकताओ को तो मैं जान लेती हूँ, पर आपके मन को नहीं जान पाती, क्या करूँ, प्रयत्न तो करती रहती हूँ।

अरविंद : यही तो मेरा दुर्भाग्य है, क्यों नहीं तुम मेरे मन को जान पाती !

सुजाता : आपका मन तो आपके चित्रों मे रहता है।

अरविंद : फिर मेरे चित्रों से ही मेरे अन्तस् के भावो को क्यों नहीं जान लेती ?

सुजाता : (चुप है)

अरविंद : बोलो, चुप क्यों हो गयीं ? डरो नहीं, खुलकर कह दो कि आपके सारे चित्र अधूरे हैं, मैं कैसे जानूँ उनके भावों को।

[सुजाता सिर झुकाये वापस चली जाती है।]

अरविंद . भाग गयीं न तुम ! मुझे पता है तुम मन ही मन में कुढती हो, तभी मेरे मुँह पर नही बोलती। घर-गृहस्थी मे इसका एक भयानक परिणाम होता है, और उसका शिकार मैं हो रहा हूँ।

[सुजाता स्टैन्ड लिये आती है।]

सुजाता : यह स्टैन्ड किधर... कहाँ लगा दूँ ?

अरविंद . लाओ इधर लाओ. . .।

[सुजाता संकेतानुसार रखने लगती है।]

सुजाता : देखिये ठीक है न !

अरविंद कभी तुमने ठीक लगाया भी है। ऐसा खड़ा किया है कि हवा लगते ही यह गिर जाय। (रुककर) हर चीज़ का संस्कार होता है, एक सहज रुचि होती है, जो इन्सान को काम में लगाती है।

सुजाता . मेरे संस्कार मे घर-गृहस्थी है।

अरविंद : और रुचि चौका-बर्तन करने की। यही न। ठीक...खुश हो गयी न।

सुजाता : यहाँ तो बहुत ठंड है, कैसे आप काम करेंगे !

अरविंद : पता नहीं।

सुजाता : रुकिये, मैं अँगीठी ला देती हूँ।

[प्रस्थान]

अरविंद (तेज स्वर में) कुछ मत लाओ सुजाता। बस, मुझे यहाँ अकेले छोड़ दो।...सुना तो...मेरी बात सुन लो, अँगीठी पर हाथ मत लगाओ। (सुजाता आती है)

सुजाता · क्या है ?

अरविंद : सुनो ! मैं चाहता हूँ कि मुझे यह महसूस हो कि इस घर में मैं उतनी देर तक बिल्कुल अकेला हूँ जब तक मैं यहाँ यह चित्र पूरा करता हूँ ।

सुजाता : अर्थात् इस घर में मेरी उपस्थिति आपकी कला में बाधक है ।

अरविंद : नहीं...नहीं...ऐसी बात तो नहीं । पर न जाने क्यों मेरा मन कैसा होता चला जा रहा है । जैसे मेरी कला धीरे-धीरे मुझसे दूर भाग रही है ।

सुजाता : नहीं, ऐसा नहीं होगा । मैं देख रही हूँ, आप परेशान रहते हैं । मैं तो कहती हूँ, जो आपको निष्क्रियता दे, उदास करे आपको, उसे आप निःसंकोच त्याग दीजिये ।

अरविंद : लेकिन त्याग कैसे दूँ । जो जीवन के अंग बन गये हैं, उन्हें क्या करूँ ।

सुजाता : उनमें से आँख मूँद कर निकल जाइये, जैसे साँप अपने ही केंचुल के बीच से निकल जाता है ।

अरविंद : तुम यह सब क्या कह रही हो सुजाता ? किससे कह रही हो ? क्यों कह रही हो यह सब ? होश में तो हो ? मतलब जानती हो, जो तुम बक रही हो ?

सुजाता : जी बिल्कुल होश में हूँ मैं ।

अरविंद : जो मुझसे कह रही हो, वह क्या है ?

सुजाता : जानती हूँ ! उसकी गति भी जानती हूँ ।

अरविंद : तुम कभी-कभी कितनी ऊँची बात करने लगती हो । पर अब मैं कोई चित्र पूरा क्यों नहीं कर पाता ? क्या बात है ? यह मैं अपने में पिछले एक वर्ष से पा रहा हूँ । ऐसा तो पहले नहीं था । जिस चित्र को मैं सोचता था, उसका सम्पूर्ण सृजन कुछ ही घन्टों में हो जाता था । प्रेरणा, उत्साह के मारे मैं जैसे छलकता रहता था । बोलो, अब क्या हो गया मुझे ?

सुजाता : (भरे कंठ से) आप अपना काम कीजिये ।

(भीतर चली जाती है अरविन्द कुछ क्षणों तक चुप शून्य में देखता है, फिर स्टैन्ड पर अधूरे चित्र को लगा कर फिर उसे देखता ही रह जाता है, उसी समय बाहर से दद्दा जी का प्रवेश, गर्मशाल ओढ़े हुये)

दद्दा : (**आते ही**) क्यो अरविन्द ! अब तुम्हारे चित्र 'बनेंगे ! कहाँ इतने छिप कर भीतर बैठे बनाते थे, अब घर मे से निकल कर बरामदे मे आ गये ?

अरविंद : लगता है एक दिन सडक पर चला जाऊँगा । क्या करूँ दद्दा समझ नही पड़ता, कोई चित्र पूरा करने बैठता हूँ तो जैसे कुछ सूझता ही नही । इतनी थकान और ऊब मालूम होने लगती है कि . . .।

दद्दा : कुछ दिनो के लिये स्थगित कर दो इन चित्रो का बनाना। कही घूम आओ । किसी यात्रा पर चले जाओ, या बिल्कुल साधारण आदमी की तरह कुछ दिनो जी लो ।

अरविंद : स्थगित कर दूँ कुछ दिनो के लिये, शायद आप ठीक कहते हैं, यह सब कुछ रोक दूँ कुछ दिनो के लिये । (**रुक कर जैसे परिणाम निकालता है ।**) अर्थात् कुछ दिनो के लिये मर जाऊँ, क्यो दद्दा, क्या ख्याल है आपका ?

दद्दा : आज कैसी बात कर रहे हो तुम ? . चलो गर्म-गर्म चाय पियें, छोड़ो इसे । (**बढ़ कर अरविन्द के कन्धे पर हाथ रख देते हैं**) जिन्दगी से बड़ी और कोई कला नही है । स्नेह मे जीना, दया और ममता मे जीना, दूसरो को अपने सग लेकर जीना, यह बहुत बड़ी चीज है, सारी कलाओ से कही श्रेष्ठ !

अरविद : ऐसी बात हर बाप अपने पुत्र से करता है, पर शायद आप मुझसे ऐसा नहीं कह सकते ।

दद्दा : क्यो ?

अरविद : क्योंकि जो आपने अभी मुझसे कहा है, वे शायद सब झूठ है जीवन मे, महज उपदेश की बाते हैं ।

दद्दा : नहीं तो ।

अरविद : आप स्वय अपना जीवन देखिये. . मेरी माँ के स्वर्गवास के बाद आपने दो शादियाँ की, और सबके सग आपका क्या व्यवहार था. ।

(**उसी बीच बड़ी तेजी से सुजाता का प्रवेश**)

सुजाता : (**प्रवेश करते ही**) नही नही ! बन्द कीजिये ये बाते । चाहे मैं हूँ चाहे मेरी माँ हो, या मेरी माँ की माँ हो, सारी स्त्री जाति को

मत खीचिये यहाँ। (**कंठ रुँध जाता है**) प्रश्न महज मेरा है। महज मेरा।

अरविंद : नहीं, मेरा भी है, और उसी मे मेरी कला का भी प्रश्न है।

दद्दा : लेकिन बीच की इसानियत का सबूत किसके माथे जायेगा?

अरविंद : जो इसका दावेदार होगा। (**रुक कर**) तो मुझे यहाँ से भी जाना पडेगा। शायद मेरे लिये वह स्थिति असम्भव है, जहाँ मैं जी सकूँगा।

[स्टैंड उठाने लगता है। सुजाता उसे सहायता देती है, अरविंद आवेश में उसे झिड़क देता है।]

अरविंद :

दद्दा : यह क्या कर रहे हो? कहाँ जा रहे हो?

अरविंद : पता नही। (**अरविंद स्टैंड सहित भीतर चला जाता है।**)

दद्दा : सुजाता बेटी। यह सब क्या है?

सुजाता : कला की पृष्ठभूमि। और मेरे माथे का घाव, जिसे मैं सदा सहेज कर रखूँगी।

[फफककर रो पड़ती है।]

दद्दा : रोओ नही बेटी।

सुजाता : मैं कभी नही रोती दद्दा। सच, स्त्रीत्व की सौगन्ध लेकर कह रही हूँ, मैं चुपचाप ऐसी अदृश्य हो जाती कि मुझे कोई न जान पाता। (**स्वर सिसकियों मे बह जाता है**) लेकिन वे जो यह कहते हैं कि मेरा विवाह मेरा कला को खा रहा है....यह बड़ा भयानक है दद्दा।.... पत्नीत्व कलाकार को सुख देता है, यह कितना निर्मम है सोचना।

दद्दा : (**परेशान हो पुकारने लगते हैं**) अरविन्द! अरविन्द!! चलो मैं तुम्हे आवाज दे रहा हूँ।

सुजाता : (**सिसकियों के बीच**) मैं रोती नही, चुप रह लेती, लेकिन जैसे मेरी वजह से सारी ब्याहता स्त्रियां....।

[ऑचल में मुँह छिपा लेती है। दद्दा अरविन्द को आवाज देते रहते हैं, उसी समय मंच का सारा प्रकाश धुंधला होते हो खत्म हो जाता है। विलम्बित और करुण गति वाले संगीत के साथ जब प्रकाश लौटता है तब हम फिर वह मूल दृश्य पाते हैं—

अरविन्द का बरामदा। बाहर से चिंतित, अपमानित से दद्दा आते हैं, गंगाराम को बुलाते हैं, कुर्सी पर बैठ जाते हैं।]

दद्दा : एक गिलास पानी पिलाओ गंगाराम।

[दरवाजे से लौट जाता है]

दद्दा : गंगाराम जल्दी से लाओ।

गंगाराम : (**पानी का गिलास देते हुये**) आज आप बड़े चिन्तित लग रहे हैं दद्दा जी।

दद्दा : (**पानी पीकर**) मेरी एक सुजाता बेटी थी, तुम्हारे साहब की धर्मपत्नी, आज वह मुझे बेहद याद आ रही है, लग रहा है वह मेरे सामने सामने चल रही है। लगता है अभी-अभी वह आयी थी।

गंगाराम : अब वह कहां रहती हैं दद्दा जी ?

दद्दा : क्या बताऊँ गंगाराम, यह बहुत गहरा घाव है। (**रुक कर**) अब वह एक स्कूल में अध्यापिका है, पर कान की बहरी हो गयी है।

[टेलीफोन की घंटी बजती है।]

गंगाराम : (**रिसीवर उठाता है**) हलो जी...सुधीर बाबू आज सुबह यहाँ आये थे, यही नौ साढ़े नौ बजे के करीब। आज वे पिकनिक के मूड में थे।...आनन्दा बेटी यहां आयी थीं, वही कह रही थी कि सुधीर बाबू कहीं पिक्चर देखने गये होंगे।...जी...अभी तो नहीं गये मेरे साहब, आप ही के यहां गये थे।...अच्छी बात है .जी जी नमस्ते।

[रिसीवर रख देता है।]

दद्दा किसका टेलीफोन था ?

गंगाराम · डाक्टर पापा के घर का, रानी माँ बोल रही थीं। सुधीर बाबू को पूछ रही थीं, सुबह यहाँ आये थे न, अब बारह बज रहें हैं, अब तक घर नही पहुँचे।

दद्दा : साहब तुम्हारे वहीं हैं ?

गंगाराम : माँ ने बताया है, मेरे साहब रानी बेटी के संग कहीं गये हैं। अब तक नही लौटे हैं।

दद्दा : आनन्दा जब यहां आयी थी, उसे सच बुखार था।

गाराम : जी, तब दद्दा, सरासर मेरी गल्ती थी...मैंने भूल से खराब वाला थर्मामीटर आपको दे दिया था।

दद्दा : (उठ कर) और उसे खाँसी भी थी (रुक कर) गंगाराम ! आनन्दा बेटी, और सुजाता की कोई तुलना नहीं, कोई समानता नहीं, पर न जाने क्यो आनन्दा को देखकर मुझे मेरी सुजाता बेटी याद आती है, तभी आनन्दा मुझे इतनी प्रिय है। उसका बुखार भरा हाथ, जैसे अब भी मेरी मुट्ठी में है। (रुक कर सामने दायीं ओर बढ़कर) गंगाराम वह देख कौन आ रहा है?... जल्दी देख !

ंगाराम : (बढ़कर) डाक्टर पापा हैं।

दद्दा : बेचारे पैदल आ रहे हैं। मुझसे जवाब माँगने आ रहे हैं। गंगाराम मैं अन्दर जाकर कहीं छिप जाना चाहता हूँ, तुम डाक्टर पापा से कहना कि दद्दा जी चले गये यहाँ से ! मैं उनसे आँख नहीं मिला सकता !

ंगाराम : नहीं दद्दा जी ! डाक्टर पापा जी बिल्कुल घबड़ा जायेंगे। बड़े कमजोर हैं दिल के।

दद्दा . घबड़ा तो मैं बहुत गया हूँ, पर मैं उस सत्य को कैसे कहूँगा डाक्टर पापा से, इतने ऊँचे ख्यालात के लोग इतने साफ दिल, इतने विश्वासी ! (बढ़कर स्वागत में) आइये, आइये डाक्टर साहब .।

[डाक्टर पापा का प्रवेश]

दद्दा नमस्ते ! आइये...इधर आइये...।

डा०पापा : नमस्ते। जी, बहुत आराम है।

गंगाराम . नमस्ते साहब।

डा०पापा . नमस्ते।

[गंगाराम भीतर जाता है।]

दद्दा : गंगाराम भीतर जा रहे हो, चार बीड़े पान दे जाना।

डा०पापा : जी नहीं, बिल्कुल जरूरत नहीं। जब असली दाँत नहीं रहे, फिर क्या पान खाना। अब पान-सान कुछ नहीं खाता।

दद्दा : डाक्टर साहब, मैं भी बीड़ी पीने लगा हूँ। (बीड़ी दागते हैं)

डा०पापा : आनन्दा और अरविंद अब तक नही लौटे। पता नही कहॉ चले जाते हैं। रात भर बुखार था उसको, खॉसी बढी थी।

दद्दा : और कमाल देखिये, सुबह यहॉ आयी थी, कहने लगी, 'अब तो मैं बिल्कुल ठीक हूँ, बुखार कहॉ है ? 'लेकिन आँखे उसकी बुझी-बुझी थीं, खॉसी भी थी।

डा०पापा : बुखार सिर दर्द को तो वह कुछ समझती ही नही। कहती है, 'यह भी कोई बीमारी है, रात को सोकर काट लिया बुखार, सिर दर्द सुबह ठीक।'

दद्दा : बड़ी जीवन्त बेटी है।

डा०पापा : लेकिन मैं तो बुड्ढा हो रहा हूँ न !

दद्दा : मै तो आपसे भी आगे हूँ।

डा०पापा . चार साल पहले आनन्दा और आज की आनन्दा की कोई तुलना नही, कोई पहचान नही सकता कि वही आनन्दा यह है। बिल्कुल सुर्ख, तेजस्वी। अब तो बल्कि छोटी लगने लगी है, तब इससे ऊची लगती थी।

दद्दा : जी, वह तो जाहिर है। गंगाराम भी बता रहा था।

डा०पापा . अक्सर बुखार, तेज सिर दर्द, कमर और घुटनो मे पीड़ा... लेकिन सबसे छिपाती है यह। अपने दुख-दर्द मॉ तक को नही बताती...और अगर आप उसका कमरा देखिये, स्टडी रूम देखिये...तो बस किताबे ही किताबे, चित्र ही चित्र, तथा दवा की शीशियॉ और पैकेट।

दद्दा : जी, बेशक बेशक।

डा० पापा : फर्स्ट क्लास फर्स्ट एम० ए०, युनिवर्सिटी मे लेक्चरर, चित्र-कल , सगीतकला की पुजारिन.. लेकिन स्वभाव मे बिल्कुल बच्ची है...कुछ मना करो, कुछ सलाह दो, कहीं कोई कड़ी बात कह दो तो फिर बेतरह रूठ जायगी, रोयेगी, खाना-पीना छोड़ देगी।

दद्दा : जी उसी का तो यह सब परिणाम है।

डा०पापा : क्या बताऊँ कुछ समझ नही पाता। (**रुककर**) कुछ आपसे अरविद से बाते हुई ? क्या फैसला किया आप लोगो ने।

दद्दा : (**आश्चर्य से**) आप लोगों ने, जैसे मे भी उसमे शामिल हूँ।

नहीं डाक्टर साहब इस समस्या से मैं अपने को बिल्कुल अलग पाता हूँ। यह तो आपके बुलाने से मैं यहाँ आया हूँ, वरना मैं यहाँ कभी नही आता। आज करीब छः साल हुये, जब इन्होंने अपनी पत्नी सुजाता को छोड़ा था, तब इन्होने मुझसे अपनी सफाई देते हुये कहा था, 'दद्दा जी, जब से सुजाता से मेरा विवाह हुआ, तब से मुझे लग रहा था कि मैं रिक्त होता जा रहा हूँ, मेरी सारी प्रतिभा, रचनात्मक शक्ति क्षीण होती जा रही है।' डाक्टर साहब उसी दिन से मै इस अरविद से जैसे टूट गया और फिर कभी नही मिला इनसे। (रुक कर) वैसे डाक्टर साहब, मेरा यह लड़का हिन्दुस्तान मे अकेला है। इसकी प्रतिभा और कला को लोग पूजते हैं।

डा०पापा : जी बेशक। इसे कौन नही जानता। मेरी आनन्दा बेटी कोई अज्ञानी लड़की नही। अपने ही अनुकूल उसने अरविद को पाया। अब शुभ इसी मे है कि जल्द से जल्द दोना का विवाह हो जाय।

दद्दा : तब तो कहना ही क्या था! पर स्वर्ग शायद कल्पना मे ही है।

डा०पापा : अब तक मै कभी का पाडिचेरी चला गया होता, पर मन की एकमात्र यही लालसा शेष है कि आनन्दा के पॉव पूजूॅ, अकेली यही लड़की है।

दद्दा : डाक्टर बाबू। (रुक कर एक ओर टहल कर) डाक्टर बाबू— कैसे कहूँ आपसे, बहुत बडा अपराधी अनुभव कर रहा हूँ अपने आप को।

डा०पापा : नही—कहिये—कहिये।

दद्दा : विवाह तो शायद अरविद नही ही करेगा। वह कहता है 'विवाह एक पुरानी प्रथा थी, सरासर ढकोसला। हम और आनन्दा, इससे ऊपर उठकर रहेगे, पर रहेगे सदा एक सग।'

डा०पापा : अपने इसी व्यक्तित्व का प्रभाव अरविद ने आनन्दा पर भी बुरी तरह डाल रखा है। वह भी कहती है 'कि क्या हम दोनो विवाह से ऊपर उठ कर सच्चे दोस्त और सहयोगी की तरह एक संग नही रह सकते।' (रुक कर) पर मै इसे बिल्कुल नही मानता!

दद्दा : और मैं तो इसे सरासर झूठ समझता हूँ।

डा० पापा : तो फिर क्या होगा इसका परिणाम ? आपने क्या फैसला लिया !

दद्दा : यही कि आज रात की गाड़ी से मैं निश्चय ही घर वापस चला जाऊँगा।

डा० पापा : (**एकाएक भावावेश में**) तब आज मैं आपसे इतना ही चाहूँगा कि अरविंद मेरी आनन्दा को छोड़ दे। मैं उनके पाँव पड़ता हूँ, वे मुक्ति दे दें मेरी बेटी को।

दद्दा : (**अजीब हँसी बिखेर कर**) छोड़ दे ! जैसे मर्ज मरीज को छोड़ता है। वे दोनों इतने पढ़े लिखे हैं, विवेकशील हैं, खूब आपस मे एक दूसरे को दोनो ने समझा बूझा होगा, बहुत कुछ पाया खोया होगा—सो इतनी गहरी 'अंडरस्टैन्डिग' से वे कैसे मुक्ति पा सकेंगे। कहाँ ले जायेंगे उसे ? (**रुक कर**) बहुत गहरे इस समस्या की जड़ पैठी हुई है, जिसे शायद कोई नहीं देख सकता। मात्र अनुभव केवल वही दोनो करते होंगे।

डा० पापा : पर मैं क्या करूँ, यही मैं नही सोच पाता।

दद्दा : मैं भी कुछ नही सोच सका। मैं बहुत लज्जित हूँ डाक्टर साहब।

डा० पापा : और मैं अपमानित हो रहा हूँ।

दद्दा : आप से कई गुना अपमानित मैं हुआ हूँ। और आप का अपमान मेरा ही अपमान है। वह मेरे ही सिर माथे है।

डा० पापा : फिर मैं जा रहा हूँ। (**उठते हैं।**)

दद्दा : कैसे कहूँ मैं। पान तो खाते जाइये— (**पुकार**) गंगाराम कहाँ रह गये तुम ?

गंगाराम : (**प्लेट में पान लिये आता है**) पुलिस थाने के चौराहे पर चला गया था पान लाने। बहुत मशहूर पान लगाता है।

दद्दा : (**देते हुये**) लीजिये डाक्टर साहब, मेरी खुशी के ही लिये लीजिये।

डा० पापा : नहीं जा, बहुत विवश हूँ। (**जाते जाते**) तो आज चले जायेंगे ?

दद्दा : जी !

ड० पापा : पर मे कहाँ जाऊँगा, कुछ समझ नहीं पाता।.. अच्छा नमस्ते ।

गंगाराम : नमस्ते सरकार।

[**दद्दा चुप खड़े रह जाते हैं, उनकी ओर देखते हुये। हाथ से प्लेट गिर कर फूट जाती है।**]

गंगाराम : (**उठाता हुआ**) दद्दा जी ! . दद्दा जी ! . अन्दर चलिये ...थोड़ी देर आराम कर लीजिये. चलिये । मत देखिये उधर...।

[**गंगाराम उन्हें लिये अन्दर चला जाता है। पृष्ठभूमि में कार की हार्न बजती है और कार रुकने की आवाज़, क्षण भर बाद अरविंद के संग आनन्दा का प्रवेश। आनन्दा के बालों में बेहतर फूल गुथे हैं दोनों हाथों से अंक में फूलों के बड़े बडे गुलदस्ते भरे हैं।**]

अरविंद : बस, आओ इधर यूँ खडी हो जाओ...इसी तरह फूलो मे डूबी हुई। मैं झट से स्केच कर लूँ।

[**खड़े खड़े स्केच करने लगता है।**]

आनन्दा : मेरे पॉव कॅप रहे है, मैं इस तरह खड़ी नहीं रह सकूगी ! आह ! वह लड़खड़ा कर कुर्सी का सहारा ले लेती है [**हाथ के सारे फूल गिर जाते हैं।**]

अरविंद : अरे क्या हो गया ? उफ ! पानी ले आओ गगाराम। तुम्हारी तबीयत ठीक नही...! कोई बात नहीं, मै स्केच तैयार कर लूँगा। इतवार को अपनी 'इक्जबीशन' है उस दिन के पेपर में तुम्हारी कला पर एक परिचय लिखूँगा, और मैं तुम्हारा चित्र भी छपने को दूँगा। चलो आराम करो !

आनन्दा : (**जैसे जग कर**) अयँ यह क्या है, आप कुछ कह रहे थे ?

अरविंद : नही तो (**हंसकर गंगाराम के हाथ से पानी लेकर देते हुये**) लो जरा सा पानी पीलो। (**आनन्दा पानी पीती है**) चलो किसी डाक्टर को दिखाऊगा तुम्हे। क्या हो गया कुछ बताती नहीं तुम। बडी चुप्पी हो !

आनन्दा : (**उठती हुई**) जी नही, मुझे अब मेरे घर छोड़ दीजिये।

अरविंद : ये सार गुलदस्ते तो ले लो। तबीयत बहली रहेगी। (**रुककर**) गंगाराम ! मैं अभी आया"। [**अरविद सारे गुलदस्ते हाथ में लिये आनन्दा के संग बाहर जाने लगते है उसी समय भीतर से दद्दा जी दौड़े आते हैं**]

दद्दा : रुको...रुको न बेटी ..जरा टेम्प्रेचर ले लू, नया थर्मामीटर है। रुको...!

[वे दोनों रुक कर दद्दा की ओर देखते हैं, उसी पर तेजी से पर्दा गिरता है। बहुत घना और ऊंचा वाद्य संगीत]

दूसरा अंक

●

[वही दृश्य। वही वस्तुस्थिति, सुबह के साढे आठ बज रहे हैं। अन्तर इतना ही है –

'बेस पर तीन कैक्टस के स्थान पर अब केवल दो ही है, मादा कैक्टस नहीं है।

पर्दा उठने पर कुछ क्षण स्टेज सूना रहता है। उस सूनी स्थिति में नगारची पर नीलम वाला बाजा बजता रहता है, उसके बन्द होते ही दायीं ओर से जैसे दौड़ा हुआ सुधीर आता है ..बिल्कुल नये सूट-बूट में। टेबुल पर रखे हुए हिन्दी अंग्रेजी के अखबारों को उलट कर देखता है, फिर उसी तरह रख देता है।

सुधीर : (दरवाजे पर आवाज देता है) सुधीर दा। सुधीर दा। सुना है आप बाहर से आ गये। [बड़ी आवारा मस्ती से दायीं उंगली मे कुंजी की चेन नचाते हुए उसी ताल पर गाने लगते हैं।]

हमारा एक्सीडेंट हो गया
हमारा स्वीट सेटिलमेन्ट हो गया
हमारा होम गवरमेन्ट हो गया
अजी,
हमारा इंगेजमेन्ट हो गया
हमारा ऐक्सीडेन्ट हो गया॥

[उसी समय गाऊन पहने भीतर से अरविंद का प्रवेश]

अरविंद : (आते आते) नमस्ते...नमस्ते...क्या बात है। आज तो बिल्कुल एक्सीडेंट के गीत गा रहे हैं आप। बात क्या है? सब शुभ है न!

सुधीर : शुभ क्यो न हो अरविंद दा। आज मैं शायराने मूड में हूँ। अभी-अभी मेरा पहला गीत बना है 'वियोगी होगा पहला कवि आह से निकला होगा गान' यह गलत है, 'सोल्जर होगा पहला कवि, घॉय से निकला होगा गान।'

(अखबार उठाकर देखता है) लीजिये अखबार, लोकल न्यूज़ देखिए

[जब तक अरविंद अखबार देखते हैं उस बीच सुधीर फिर गुन-गुनाने लगता है:

हमारा स्वीट सेटिलमेन्ट हो गया]

अरविंद : ओफ ओ। 'काग्रचुलेशन्स।' तो यह खबर है आज मिस खान से मिस्टर सुधीर का इंगेजमेंट हो गया। ओफ ओ! बड़े हीरो आदमी हो तुम तो। मान गया भाई। बिल्कुल मान गया। (आवाज देते हैं) गगाराम। अरे ला जल्दी अपने बेबी साहब का मुह तो मीठा करा।

सुधीर : अब बेबी नहीं। मिस खान ने कहा है, देखिए जी, मुझे बेबी नहीं पसन्द है। मैंने कहा, जी मुझे ही कौन पसन्द है बेबी! लाइन क्लियर।

अरविंद : यानी मैं दो दिनो के लिये बाहर क्या गया कि शहर में इतनी बड़ी घटना हो गयी।

सुधीर : तभी तो हुई ही। आप होते तो शायद कभी न होती। (रुककर) आनन्दा जिया अस्पताल में पड़ी थीं। पर यह सब उन्ही का करिश्मा है।

अरविंद : (घबड़ाकर) खैरियत तो? कैसी तबीयत है अब?

सुधीर : बिल्कुल घर पर हैं, सब ठीक ठाक है, कोई ऐसी बात नहीं, बस कमजोर बहुत हो गयी हैं, और अरविंद दा, यह हमारा स्वीट इंगेजमेंट, मेरी आनन्दा जिया ही ने अपने दम से कराया है। मैंने तो उनके चरण चूम लिये। मदर फ़ादर तो बिल्कुल नहीं तैयार होते थे।

अरविद : रुको, जरा मैं फ़ोन कर लूँ। जी बड़ा परेशान हो गया।

सुधीर : मेरे इगेजमेंट से ?

अरविद : नहीं भाई। आनन्दा और अस्पताल की बात सुन कर...(नम्बर मिला कर) हलो.. आनन्दा। नमस्ते, कैसी हो ? सच... बिल्कुल ठीक ! झूठ बोलती हो तुम। (हसी) अच्छी बात है ! हां हा. .सुधीर बाबू मेरे पास बैठे हैं। आपको बधाई।

सुधीर : (बीच ही मे) और मेरी मिठाई।

गगाराम : (प्लेट मे लिये आ जाता है:) लीजिए हुजूर।

[सुधीर खाने लगता है]

अरविंद : (फोन पर) जी,...सब ठीक हो चुका है 'इक्जबीशन' मे। ठीक चार बजे उद्घाटन है। आओगी न। अच्छी बात है। टेक कम्पलीट रेस्ट। मैं आऊगा...जरूर...जरूर। मैं व्यस्त हूँ तो क्या। (रुककर) आज का अखबार देखा, तुम पर आर्टिकल आया है न। (रुककर) अय ! मुझ पर आर्टिकल ? (टेलीफोन रख देते हैं)

गंगाराम : हिन्दी का अखबार तो देना !

सुधीर : (देता हुआ) जी, मुझसे लीजिए। सचमुच आप पर बहुत लम्बा चौड़ा लेख है।

[अरविंद अखबार देखते हैं]

सुधीर : ले जाओ गंगाराम।

गंगाराम : काफी लाऊं !

सुधीर : नहीं जी, अब सिगरेट पिऊगा कि ।

[**सिगरेट जलाता है, गंगाराम प्लेट लेकर भीतर जाता है।**]

अरविद : (आश्चर्य मे डूबकर) यह कौन है सुजाता ? इस समीक्षा में तो अद्भुत पैठ है। यह सुजाता कौन है ?

सुधीर : कोई उपासिका होंगी आपकी।

अरविंद : उपासिका ! (एकाएक भाव बदल कर) तो सुधीर तुम बड़े अच्छे लड़के हो। शादी कब हो रही है तुम्हारी ?

सुधीर : इसकी चिन्ता नहीं अब ! रजिस्ट्री हो ही गयी है। चिन्ता इसी की थी। (एकाएक भाव बदल कर) अरविंद दा, अब अच्छा, मैं चला। जरा मुझे चाय पीनी है एक जगह।

अरविद् : अब एक जगह क्यो कहते हो ?

सुधीर : जरा शर्माता हूँ अरविंद दा।

अरविद : तो आप मेरे यहां नही आये, आये वहां थे।

सुधीर : जी हां, जरा जल्दी चला आया था। और आपको यह सूचना भी देनी थी। आनन्दा जिया ने भी कहा था, पहले अरविंद को देख लेना। अच्छा अब चला .नमस्ते।

अरविद : (विदा देते हुए) नमस्ते। आनन्दा जी से कहना, बिल्कुल कम्पलीट रेस्ट लें। मैं 'इक्जबीशन' का कुछ बहुत ही जरूरी काम निपटा कर फौरन आ रहा हूँ।

सुधोर : मैं भी आऊगा 'इक्ज़बशन' देखने

अरविद : जरूर। और सपरिवार आइए !

सुधीर : श्योर . श्योर !

[हँमी बिखेर कर सुधीर गायब हो जाता है : क्षण भर बाद ही जैसे अरविंद हिन्दी अखबार को फिर से देखना शुरू करता है, पृष्ठभूमि में वही अनाथालय वाले बच्चों का आरकेस्ट्रा उभरता है, और कोरस गोत के स्वर से सारा वातावरण भर जाता है]

विधाता तू हमारा है, तुही विज्ञानदाता है।
बिना तेरी दया कोई नहीं आनन्द पाता है ॥
सताता जो न औरों को, न धोखा आप खाता है।
वही सद्भक्त है तेरा, सदाचारी कहाता है ॥

अरविंद : (क्रोध से जैसे चीख् पड़ता है) गगाराम। (अखबार फेंककर) चलो जल्दी।

गंगाराम : (दौड़ा हुआ आकर) जी साहब।

अरविंद : कान पकड़ के निकाल दो इन अनाथालय वालों को। मुझे इनकी सूरत और आवाज से नफरत है।

[गंगाराम बाहर जाता है। थोड़ी देर बाद गीत बन्द हो जाता है]

अरविन्द : (**बढ़कर ऊँचे स्वर में**) क्यो आते है ये लोग यहाँ (**झूमकर जैसे अपने आप**) दया—दया—और भीख। हमें हैवान समझते है ये लोग। (**टेलीफोन नम्बर मिलाकर**) हिन्दी दैनिक। हलो—जी, मैं अरविद बोल रहा हू। प्रिंसिपल फाइन आर्ट कालेज

सम्पादक जी। नमस्ते—देखिए—यह सुजाता जी कौन हैं, जिन्होंने आज के पेपर मे मुझ पर लेख लिखा है। उनका पता क्या है, वह करती क्या हैं ! कौन हैं वह ? जी—गर्ल्स कालेज की कोई लेक्चरर हैं, ओ ! धन्यवाद।

[टेलीफोन रख देते है]

गङ्गाराम : (आता है) जा, मन अनाथालय वालो को कम्पाउन्ड से बाहर कर दिया।

अरविंद : बहुत अच्छा किया। (**रुक कर**) चलो, नाश्ते के लिये जल्दी करो। मुझे जाना है।

[अरविन्द के पीछे गंगाराम भीतर जाता है। पृष्ठभूमि में किसी तांगे के आने और सहसा रुकने की आवाज होती है, और क्षण भर बाद किसी महिला का सामने से प्रवेश]

महिला : (दरवाजे पर आकर पुकारतो है) कोई है, चपरासी चौकीदार ! **(भीतर से आवाज आती है 'कौन !' और गंगाराम का प्रवेश)**

महिला : प्रिन्सपल अर्रविन्द जी हैं ?

गङ्गाराम : जी, हैं।

महिला : क्या कहा ?—मुझे जरा कम सुनायी पडताहै । क्या कहा ?

गंगाराम : हैं साहब ! साहब हैं।

महिला : उनसे कहो, आप से एक महिला मिलने आयी हैं।

[गंगाराम का प्रस्थान क्षण भर बाद अरविन्द का प्रवेश]

अरविंद : (देखते ही) अय। आप कौन ? **(जैसे बिलकुल घबरा गये हैं)** जी, आप हैं, बैठिये बैठिए ! देखिए मुझे बहुत काम है आज जी—बैठिए—औ—औ—औ—औ जी। हां ठीक है—बैठिये। हॉ नमस्ते।—आप—आप !

महिला : (जोर से) मुझे आपने निश्चय ही पहचान लिया होगा।

अरविन्द : आप तो मेरठ मे रहती थी।

महिला : (कान पर हाथ रखकर) मैं जरा ऊँचे सुननेलगी हूँ। मुझे पूछ रहे ह आप ? मैं लेक्चरर हूँ एक महिला गर्ल्स कालेज में।

अरविन्द : (जोर से) तो आप ही ने लेख लिखा है मुझ पर।

सुजाता : आप इतने बड़े कलाकार हैं, मैं क्या, हजारों लोग लिखेंगे,

आप पर। मैंने सोच रखा था कि कभी समय आने पर आपके सब चित्रों को देखूँगी।

अरविन्द: तो आप यहाँ 'इक्जबीशन' देखने आयी हैं।

सुजाता: जी मैं कानपुर से यहा आयी हूँ (**रुककर**) पत्र पत्रिकाओं मे आपके चित्रो को देखा करती थी, उन्ही के आधार पर मैंने वह लेख लिखा है। (**रुककर**) यह आनन्दा जी कौन हैं, जिन पर आपने लेख लिखा है अग्रेजी मे—बडा ही सुन्दर स्केच भी बनाया है आपने उनका। (**रुककर**) 'इक्जीबीशन' मे उनके सब चित्र तो होगे ही। मैं जरूर देखूंगी।

अरविन्द: आप ताँगे से आयी है?

सजाता: जी, अच्छा मुझे अब आज्ञा दीजिये। मैंने आपका बहुत अमूल्य समय लिया।

अरविन्द: रुकेगी नही? तो फिर आयी क्यो थी?—कुछ नाश्ता कीजियेगा!

सुजाता: जी, क्या?—मैं आयी क्यो थी! यहा पूछ रहे हैं न।

अरविद: जी हाँ यही पूछ रहा हूँ।

सुजाता: सुजाता का मन! मैं भी तो नही जानती अपने मन को!

अरविद: यह कान मे क्या हो गया?

सुजाता: कान मे? कुछ तो नही!

अरविद: कब से है?

सुजाता: (**कान समीप लगाकर**) क्या कहा?

अरविद: यह आप कब से ऊँचे सुनने लगी हैं।

सुजाता: जब से दुनिया ऊँचे चली गयी। मैंने सोचा, मेरा कान ही ऊँचा हो जाय!

[**निश्छल हंसी**]

सुजाता: नमस्ते! चलूँगी अब। दर्शनार्थ आयी थी। ठीक है न—नमस्ते।

[**निश्छल, स्नेहसिक्त हंसी**]

अरविंद: रुकिये न। नाश्ता बिल्कुल तैयार है।

सुजाता: धन्यवाद।

अरविद: पर रुकिये तो। आप 'इक्जबीशन' मे तो मिलेगी ही। आज रात को मेरे संग भोजन कीजिए।

सुजाता : जी, आज रात ही को हमे वापस चला जाना है। कल मेरा कालेज है। और उन्हे भी दिल्ली जाना है।

अरविंद : उन्हे ? कौन ? अय।

सुजाता : मेरे पति नाम सुना होगा आपने, श्री दिवाकर जी।

अरविंद : (त्रस्त सा) प्रसिद्ध उपन्यासकार और कवि ! वही...।

सुजाता : जी वही (वही हँसी रुककर) मैं कभी भी विवाह पर राजी न होती, पर मुझे चूँकि परीक्षा देनी थी अपने विवाह की। कठिनाई थी न !

अरविंद : (हाथ जोडकर) नमस्ते (क्षणभर बाद बिल्कुल आवेश में) रुको सुजाता। इधर आओ तो तुम इसीलिये यहा आयी थी... चुनौती देने मुझे...इसीलिए वह आर्टिकल लिखा था। (बढ़ कर अखबार उठा लेते हैं और गुस्से से फाड़कर उसे सुजाता के मुंह पर फेंकते हैं) यह लो अपनी चुनौती। आर्टिकल, मैं और तुम !

सुजाता : कोई बात नही। मैं यहाँ अपनी परीक्षा का रिजेल्ट सुनाने आयी थी, और देखने भी। अच्छा हुआ, एक ही साथ सब हो गया। धन्यवाद...नमस्ते। [सुजाता चली जाती है पृष्ठभूमि में तांगा जाने की आवाज होती है, अरविंद मूर्तिवत खड़ा रह जाता है, फिर उसी ओर दौडकर]

अरविंद : सुजाता। ...सुना। तुमने झूठ कहा है ...रुको ज़रा। (रुक कर) गगाराम सुनो, गगाराम।

गंगाराम : (आकर) हूजूर।

अरविंद : यहाँ को 'मादा कैक्टस' कहाँ गयी ? ...बोलो कहाँ हैं ? वह औरत तो नही ले गयी ! यहाँ तो महज दो ही है ...कहाँ है 'मादा कैक्टस ?...बोलो कहाँ है वह 'मादा कैक्टस' ? पकड़ लो उस ताँगे को !

गंगाराम : माली के पास है 'मादा कैक्टस' हुजूर।

अरविंद : अय ..क्यों ? .माली के पास 'मादा कैक्टस'.. अयं...क्यों... ऐसा क्यो ?

गंगाराम : हुजूर, पता नहीं कैसे, वह तो सूख गई।

अरविंद : क्या बकते हो। वह कोई छुई-मुई का पौधा है क्या ! वह कभी

नहीं सूखती। असभव 'मादा कैक्टस' कभी नहीं सूखती...कभी नही, कभी नहीं।

गंगाराम : मैं लाकर दिखाता हूँ हुजूर।...सच, वह सूख गयी। माली कहता था उसमे कोई जहर गल गया। हवा का ज़हर।

[गंगाराम का प्रस्थान]

अरविंद : (विक्षिप्त-सा) नौकर माली सब का दिमाग खराब हुआ है। कह दिया, "मादा कैक्टस" ही सूख गयी। न जानना न बूझना। (एकाएक बाहर देख कर) कौन ?...सुधीर...बेबी।... वहाँ क्यो बैठे हो?...कब से बैठे हो? आओ. क्या बात है ? ..उठो...वहाँ क्यो बैठे हो ?...हाँ...आओ !

सुधीर : (प्रवेश कर, लड़खड़ाती जबान से, जैसे कुछ पिये हो।) जी आया और वही बैठ गया। कुछ सोच रहा था। नही देख रहा था।

अरविंद : यह हाथ मे क्या लिये हो? ..क्या है· बोलो ! आज फिर पी ली तुमने न ! बुरी बात है !

सुधीर : छोड़िये जी उसे ! बताइये क्या है मेरे हाथ मे?...बोलिये... सोच कर बताइये।

अरविंद : कोई चित्र है।

सुधीर : ठीक ! इतना तो बिल्कुल ठीक...आगे बताइये...किसका चित्र ?

अरविंद : आनन्दा का बनाया हुआ चित्र।

सुधीर : नहीं।

अरविंद : तुमने बनाया होगा।

सुधीर : नहीं।

अरविंद : ओ समझा। मिस खान का बनाया हुआ, नहीं...नहीं मिसेज सुधीर।

सुधीर : नही बिल्कुल गलत।...सही-सही बताओ आज, हाँ।

अरविंद : अच्छा, मैं हार गया, तुम्हीं बताओ...किसका चित्र है ?

सुधीर : पहले आप वादा कीजिये कि इसे आप "इक्ज़बीशन" में रक्खेंगे।

अरविंद : चलो, वादा करता हूँ।

सुधीर : (हाथ का रोल पैकेट खोलता हुआ) यह देखिये लाजवाब चित्र, 'इक्सरे' का। आनन्दा जिया के दोनों फेफड़ो का यह 'इक्सरे चित्र।'

अरविंद : (**जैसे चीख पड़ते हैं**) आनन्दा ! (**कुर्सी में जैसे गिर पड़ते हैं ।**)

सुधीर : (**बड़ी तेज हँसी**) गश आ गया आपको ? पिये मैं हूँ, नशा आप को ! (**हँसता है**)...यह चित्र 'इक्जबीशन' मे रखे जायेंगे। अरविंद दा !

[**गंगाराम 'मादा कैक्टस' लिये आता है ।**]

सुधीर : गंगाराम ! यह क्या हुआ ? अरे ! ग्रेन्डी फ्लोरस सूख गयी ! यह असभव । (**बड़ी तेज हँसी, गंगाराम हतप्रभ खड़ा रहता है**)

अब बताओ मेरी मुट्ठी मे क्या है ? (**जैसे मंच का सारा प्रकाश सुधीर पर सिमट जाता है । पृष्ठभूमि में नीलाम का बाजा फिर बजने लगता है**) बताओ कोई ? क्या है मेरी मुट्ठी मे ?. यह देखो, मेरी मुट्ठी मे पिस्टल है। अरे ! इसमें तो जैसे खून लगा है ? ओ समझा ! वह जो मैंने मुर्गाबी पाल रखी थी न, उस पर मैंने फायर किया है ! ..छिः छिः (**घृणा से पिस्टल फेंक देता है**) पर मेरी मुट्ठी तो अब भी भरी है !...हाय कुछ लग गया है इसमे (**हथेलियाँ कपड़ों में रगड़ता है**) हाय, यह ख़ून का धब्बा कुछ नही रहा है। लोगो खरीद लो मेरी मुट्ठी...देखो यह गीली है।

[**तने हुये हाथों की हथेलियाँ फैली रहती हैं। आँखें आकाश की ओर हैं—उसी पर तेजी से पर्दा गिरता है ।**]

●

यन्त्र-युग
और मूल्यों का
विघटन

●

पाँच कृतियाँ

आदमी धुएँ के हैं

●

राजेन्द्र प्रसाद सिंह

ताँबे का आसमान,
टिन के सितारे,
गैसीला अन्धकार,
उड़ते हैं कसकुट के पंछी बेचारे !

लोहे की धरती पर
चाँदी की धारा
पीतल का सूरज है,
राँगे का भोला-सा चाँद बड़ा प्यारा !

गन्धक का झोंका है,
आदमी धुएँ के हैं, (छाया ने रोका है !)
हीरे की चाहत ने घड़ी-घड़ी टोका है,
शीशे ने समझा कि रेडियम का मौका है ।

धूल 'अनकल्चर्ड' है,
इसीलिए बकती है—
'जिन्दगी नहीं है यह, धोखा है ! धोखा है ?''

●

मदन वात्स्यायन की दो कृतियाँ

●

व्याख्या—मशीन युग अपने देश में अभी आया नहीं, सभी कारखाने भी प्राइवेट नहीं हैं, विभिन्न क्षेत्रों की संस्कृतियाँ भी एक दूसरे से काफी कुछ फ़र्क हैं, details में। इसलिए मेरे विचार ठीक पूँजीवादी व्यवस्था को फ़िट न भी करें, पर उस विशेष non-socialist State-controlled व्यवस्था को शायद ज़रूर फ़िट करेंगे, जो दिनोंदिन अपने देश की प्रमुखतर रूपरेखा होती जा रही है।

पूँजीवादी मशीनयुग का एक प्रमुख और आवश्यक अंग है, काम करने वालों की आर्थिक निःसहायता, सर्वहारा-पन। सेठ के बदले सरकार नहीं, सरकारी नौकरशाह के हो जाने से यह निःसहायता कोई विशेष कम नहीं हो जाती।

इस निःसहायता का एक बड़ा परिणाम होता है नैतिक मान्यताओं का तड़तड़ा कर टूटना। Mass scale पर मानवीय मूल्यों के विघटन का हृदय-विदारक दृश्य। Technical efficiency एक दुर्बोध वैदिक शब्द है जिसका अर्थ सिर्फ़ पुरोहित जी को पता है। अगर उन्हें हाथ में Technical efficiency के छत्र, चामर, पताका, दिखाई दें तो कल मेरा राज-तिलक भी हो सकता है, पर उन्होंने यदि शनिश्चर की वक्र रेखा देखा तो परसों मुझसे यह भी कहा जा सकता है कि "your services are no longer required"। इस ब्रह्मास्त्र के शमन की ताकत न कचहरी को है, न पार्लमेण्ट को, और किसी को तो हो ही कहाँ से सकती है।

लोभ और भय के इस अराजक भँवर में चित्त ठिकाने नहीं रहता। भाई भाई को छोड़ रहा है, ब्राह्मण जूठा उठा रहा है, कम्युनिष्ट डाली पहुँचा रहा है, कवि खुफ़िया का काम कर रहा है, कुल-नारी को देह भी अदेय नहीं।

धरा न काहू धीर, सबके मन मनसिज हरे।
जेहि राखे रघुबीर, ते उबरे एहि काल मँह॥

मशीनों को तो 'रघुबीर' में भी विश्वास नहीं। सच्चे हृदय से जो सती है वह भी हर रात को किसी और की 'नई परकीया' बन आती है—पति-पोषिका स्वकीया। (देखिये, नई कविता. ३—नई परकीया)

आदर्शों के यों पाँव उखड़ जाने पर हमारे व्यक्तित्व पर Unconscious की इच्छाएँ छा जाती है। मशीनों पर काम करने वाले को बारीकी नहीं सूझती, उसे फूल की सुगन्ध नहीं चाहिए, वह फूल को सीधे खा जाना चाहता है। गुलाबी, या सान्दली रङ्ग भी उसे पसन्द नहीं, उसे चाहिये लाल! पीला! नीला! काला!

आठ घण्टों तक वह मशीनो पर और मशीन-अफसरों के नीचे खड़ा रहा है, मौन, खून सुखाता, अपने ego को ठोकरें लगवाता। अब घर आकर वह लुत्फ को घोल कर पी जायगा। उसे उपभोग चाहिए। उपदेश नही। वह आदमी नही, शैतानियत का 'ईश्वर' है। वह अन्दर से विगटित मनुष्य है जो ऊपर से अपबे को ढके रखना चाहता है। उसके लिये मानवीय भाषा भी बिखर गयी है, व्यक्ति, समूह, ईश्वर, दिमाग, प्रगति सभी का वह गलत अर्थों मे प्रयोग करता चलता है।

इसीलिये मशीने मेरे हृदय मे एक भयावह fascination का भाव जगाती है। एक तरफ तो उनकी ताकत और technical सिद्धियो का सौन्दर्य, दूसरी ओर उनकी नर-भक्षी बर्बरता। लगता है, रावण की बेटी से प्रेम करने लगा होऊँ।

मशीन-युग की a-morality मे मुझे विश्वास नही। 'पूर्णिमा के अन्धकार' के बाद सुबह की ज्योति फूटेगी, सत्ता के रावण के दसो सिर कट कर गिरे गे, डेमोक्रे सी और स्वातन्त्र्य के राम का प्रकाश फैलेगा, रावण की बेटी सभ्य होगी और उसका तेजवन्त रूप कोमलता से ऐसा अद्भुत हो उठेगा कि इन्द्राणी भी सामने आते सकुचायेंगी।

●

ईश्वर

●

मदन वात्स्यायन

ईश्वर नाम के किसी बडे शक्तिशाली भूत का अस्तित्व नहीं है, व्यक्ति ही ईश्वर है। व्यक्ति ही प्रकृति का स्वामी है, व्यक्ति ही सर्वशक्तिमान है, व्यक्ति ही सर्वथा अद्वितीय है। क्योंकि उसके नाम के साथ जाति-वाचक पुछल्ला लगाना उसकी पर्सनैलिटी के फैलाव को छोटा करना है और कोई उपाधि जोड़ना सूरज को दीपक दिखाने जैसा बेकार है, इसलिए हमारे कारखाने के बिहारी इजीनियर डाक्टर ईश्वर प्रसाद ने अपने नाम से 'प्रसाद' और 'डाक्टर' झाड़कर अपना नाम सिर्फ ईश्वर रहने दिया।

ईश्वर बडे काबिल इंजीनियर थे। हमारा कारखाना जब चालू किया जा रहा था तो एक हिस्से में बड़ी गड़बड़ी उठ खड़ी हुई थी जिसके कारण सारे कारखाने का कारोबार ठप्प सा पड़ा हुआ था। उन्होंने अपनी सूझ से मशीनों में एक महत्वपूर्ण रद्दोबदल कर उस गड़बड़ी को दूर

किया और हमारा कारखाना चल पड़ा। सारे कारखाने भर में अभी तक कोई हिन्दुस्तानी या विलायती इंजीनियर नहीं था, या है, जिसने मशीनों मे इतना महत्वपूर्ण रद्दोबदल किया हो, इससे हम बिहारियो की नाक ऊँची हुई रहती थी, कम से कम हमारी अपनी छोटी ग़रीब मजलिस मे! ईश्वर की तारीफ और लोग भी करते थे, मगर फाइलो की माया, दूसरे लोग प्रमोशन पा पा कर कहाँ से कहाँ बढ गये थे, पर ईश्वर अभी फ़ोरमैन के फोरमैन ही पडे हुए थे। इसका उन्हे बड़ा रज था हमलोग भी बडे अफसोस से कहते कि आप 'डाक्टर' होते हुए भी अभी फ़ौरमैन ही पडे हुए हैं और वे चुप रह जाते।

ईश्वर बडे मेधावी और चिन्तनशील थे। किसी के यहाँ जाते-वाते नहीं, घर पर बैठे कुछ पढते-लिखते-सोचते रहते। कभी कभी जब हम लोग उनके क्वार्टर पर जाते और बाते करते होते, तो मजेदार से मजेदार बातों के बीच वह आप से आप मे सिमटे कुछ सोचने लग जाते, उनकी आँखे एक ओर स्थिर हो जाती, सिर्फ पाँव हिलते होते या हाथो की उँगलियाँ एक दूसरे से फेंटी जाती होती। उनके विचारो का तूफान तीव्र हो उठता और वे सहसा कुछ बोल उठते और हम लोग झेपकर सोचते कि ख्वामख्वाह हम लोगो ने आकर इस प्रतिभाशाली व्यक्ति का वक्त बरबाद किया। पर वह बतलाते कि सोये से भी अक्सर कुछ बोल कर वह जाग उठते थे।

उनकी स्त्री उनकी इस विचित्रता पर कभी कभी मजाक कर बैठतीं। कहतीं, तुम जागे मे बोलते नही हो, सोये मे चुप नहीं रहते। शहरों मे बराबर रही हुई बी० ए० पास उनकी स्त्री को यह छोटी सी नई जगह पसद नहीं आती थी। अपने बिहार के पढे लिखे लोग कम ही थे, उनकी पढ़ी लिखी स्त्रियाँ तो और भी कम, अपने बच्चे-वच्चे भी नही थे। ईश्वर की स्त्री रहतीं रहतो, उनकी या अपनी माँ के यहाँ चल देती और वहाँ महीनों रुक जातीं।

जब उनकी पत्नी उनके साथ नही होती, तभी हम लोग घर पर उनका दर्शन कर पाते थे क्योकि उस वक्त उनके आँगन मे घुस जाना सभव होता था, जहाँ वह बैठा करते थे। उनसे बाते करना सौभाग्य की बात थी, क्योंकि उनकी General Knowledge और बहुत से विषयो का विशेष ज्ञान बेशक कमाल का था। कारखाने मे आठ घण्टे काम करने के बाद हम लोग अक्सर हाँ खेलने-कूदने या रेडियो पर सिनेमा के रेकर्ड सुनने मे ही वक्त बरबाद कर दिया करते थे। उनके साथ कभी कभी बातें करते

तो बहुत-कुछ सीखते। सिर्फ किताबो की बातें ही नहीं, क्योंकि ईश्वर आविष्कारक दिमाग के थे और बहुत सी बातें खुद सोच निकालते। वे जब मुँह खोलते तो उनका सबसे प्रिय विषय होता था, मानव-दिमाग के विकास का इतिहास। उनका मत था कि मानव-दिमाग़ का जितना विकास हुआ है वह सब अकेले-अकेले आदमियो ने किया है, समूहों ने नही, क्योकि समूह बराबर पिटी-पिटाई लकीर पर चलने वाला होता है, प्रगति का विरोधी, भारी रौलर की तरह जो जिस तरफ लुढ़क रहा है, उसी तरफ लुढकता जाता है, अपनी दिशा न खुद छोड़ता है और न कोई दूसरा ही आसानी से छुड़ा सकता है। वे कहते कि खेती का आविष्कारक अनाज के पौधो से गिरकर अँकुरने वाले दानों को देखने वाला वह अकेला आदमी ही रहा होगा जो और लोगों से अलग एक ओर जा बैठा होगा और सोच रहा होगा, न कि वह झुण्ड जो उस वक्त मांस और भॉग ठूस-ठूस कर हुडदग मचा रहा होगा। बोलते, आप ही सोचिये—दो पत्थरों या सूखी लकड़िया को परस्पर रगड़ने से आग पैदा होती है, यह वह झुण्ड तो पता लगा नही सका होगा जो पेड़ों मे घर्षण से आग लग जाने पर मै-बाल-बच्चे चिल्लाता, शोर मचाता, आग को दानव समझ भाग चला होगा, बल्कि वह अकेला आदमी ही तो जिसने सबो से छिपकर डरते डरते पेड़ो के घर्षण की नकल मे दो सूखी लकड़ियाँ रगड़ी होगी। वह न्यूटन का जिक्र करते। कहते कि अगर वह सबों के साथ मिलकर भेड़ी चराने के बजाय आलसी की तरह अलग बैठा सेब का पेड़ न निहारा करता तो शायद उसे पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का पता भी न लगता।

उन्हीं दिनों, कारखाने के दो ताकतवर अ-बिहारी दलों का गँठ-बन्धन कुछ मनमुटाव से ढीला पड़ गया और दोनों ही दल अपनी-अपनी बाजी मजबूत करने के लिये बिहारी प्यादों को चलाने लगे। सयोग ऐसा कि ईश्वर के अफसर गये छुट्टी पर और उनकी जगह औफ्रिशिएट दूसरे दल वाले एक जनाब करने लगे। उन्होंने ईश्वर को एक लिफ्ट दे दिया। जब पहले अफसर छुट्टी से लौटे तो बहुत भुनभुनाये, पर करते क्या, चुप्पी लगा गये। मगर किस्मत की बात, ईश्वर खुद तो नाटे थे, छोटे से थे, पर लम्बे और ऊँचे आदमियों से पीछे नही रहना चाहते थे, अतः उन्होंने ऐल्यु-मिनियम की नलियों के लम्बे लम्बे दो पॉव बना डाले थे, जिन्हे पॉवों मे बाँध-

कर वे अपने पैरों को दुगने लम्बे, और अपनी चाल औरों से दुगनी तेज कर लेते थे। जितनी देर में हम लोग सड़क से होते साइकिलों से पहुँचते, उससे जल्दी ही वह इन पाँवो से पगडण्डियाँ होते एक रोज कारखाने पहुँच गये। तहलका मच गया। लोग चिल्लाने और थपड़ियाँ पीटने लगे। उनके अपने मज़दूर हँसी के मारे उनका हुक्म न सुन पाते। उनके अफ़सर के कानों मे खबर गई, ईश्वर तलब हुए और अफसर की बगल मे उनसे तीन फीट ऊँचे जा खड़े हुए। अफसर ने उन्हे ऊपर से नीचे चुपचाप एक नज़र देखा और चले गये। औफिस मे जाकर कौन्फिडेन्शियल लिखा कि वह नयी पोस्ट के काबिल नहीं। उनके क्वार्टर के बगल वालों ने भी रिपोर्ट की कि ईश्वर कई दिनो से अपने आँगन मे किसी ऊँची चीज़ पर चढ़कर इधर उधर झाँकते हैं। ईश्वर का 'पुनर्मूषिको भव' हो गया।

हम बिहारियों का भाग्य ही ऐसा है, हम लोगों ने कहा। पर ईश्वर को भाग्य नाम के हौआ पर विश्वास नहीं था और न उन्हें अपने प्रति सहानुभूति के शब्द से बढ़कर कटु और कुछ लगता। दया का पात्र होने मे ईश्वरत्व मे कमी जो होती थी। भाग्य की कोई बात ही नहीं थी, ईश्वर तारों से लेकर पृथ्वी तक के सारे ब्रह्मांड को एक विशाल दिमाग मानते थे जिसमे वस्तु (मैटर और एनर्जी) और घटनाएँ तरगायित विचार का समूह भर थीं।

ईश्वर कहा करते कि जिस तरह हमारा दिमाग़ कोई कहानी सोचने लगे और सोचते-सोचते जब कहानी कुछ ऐसी ओर बढ़ने लगे जो उतना मनोरञ्जक न हो तो हम उसके सोचे हुए अंश को भी फिर से सोचकर उस पुराने इतिहास का अस्तित्व ही लोप कर दे सकते हैं। उसी तरह इस ब्रह्मांड की घटनाओ और वस्तुओं का भूतकाल भी निश्चित नहीं है, भविष्यत् का क्या पूछना। विचारधारा मे ऐक्सिडेन्ट से भूत भी बदल सकता है, भविष्य भी।

इस क्लिष्ट दर्शन से हम घबड़ा जाते, पर ईश्वर के तर्क अकाट्य थे और इस विषय पर उनके तर्कों की आँधी दुर्विवाद। यह विश्व नितांत शून्य मे विकार मात्र है, यह उपनिषद् भी कहते हैं और आइन्स्टाइन भी, वह कहते, और यह दूसरा हो ही क्या सकता है जब एनर्जी भी शून्य मे तरगायन है और मैटर के सूक्ष्मतम कण एलेक्ट्रन और प्रोटन आदि भी।

परन्तु शून्य मे तरंगायन और विकार क्या, सिवा इसके कि वह कुछ दिमाग मे विचार जैसा हो।

हम लोगो मे से कोई कह बैठता, मगर जब दिमाग़ है तो दिमाग़-वाला भी तो कोई होगा, नही तो सोचने का सकल्प कौन करता है। हम लोगो के विचारों का सकल्प कौन करता है, ईश्वर पूछते। हम कहते, हम। हम क्या, क्या हमारी आँखे, हमारा मुँह, हमारा दिल, जिगर, अँतड़ियाँ? हमारा दिमाग़, हम कुछ-कुछ भटकते जवाब देते। 'आऽऽह!' ईश्वर चिल्ला उठते, 'मगर बाहर से तरगो के आघात और उनकी प्रतिक्रिया मे स्वयभूत सकल्पो के द्वन्द्व के क्षेत्र के सिवा दिमाग़ और है ही क्या?'

जिस तरह पृथ्वी-तत्व बर्फ जलतत्त्व पानी में, पानी वायु-तत्त्व भाप में, बदल जाता है, जिस तरह जल-तत्व तेज अग्नि-तत्त्व प्रकाश मे बदल जाता है, उसी तरह से सारे तत्त्व शून्य-तत्त्व मे बदलते हैं और उससे फिर उत्पन्न होते हैं। यह शून्य-तत्त्व ही चेतना है और सारा विश्व चेतना की हिलकोर मे प्रतिक्षण 'ऊपर' जाता है, 'नीचे' आता है और इन दोनों के बीच, क्षणांश भर को लय हो जाता है, ईश्वर शेष करते। उनके यहाँ से जब हम उठते तो चमचमाते कुहासे से घिरे हुए।

फिर एक रोज ऐसा वाकया हो गया जो भुलाये नहीं भूलता और जिसका हमें बराबर अफ़सोस रहेगा। ईश्वर ने बहुत से बिहारी मज़दूरों को बुला कर मीटिग की थी और बतलाने की कोशिश की थी कि उनकी (ईश्वर की) तरक्की का सवाल बिहार भर के लिये बहुत महत्व का था, क्योंकि बिहार को इस वक्त टेकनिकल एक्सपर्टों की कमी ही पगु किये हुए है, अ-कुशल और अर्द्ध-कुशल मज़दूरो की नहीं, वह तो बाएँ हाथ का खेल है। आप मेरी तरक्की के लिये हड़ताल कीजिये। यह न घबड़ाइये कि आपकी नौकरी चली जायगी तो भूखो मरना पड़ेगा। अपने छोटे-छोटे स्वार्थों में भटक न जाइये।

जब मज़दूर भुनभुनाते और ताने कसते हुए थोड़ा-थोड़ा करके उठके चले गये, तब भी ईश्वर आवेश में बोलते रहे। उन्होंने भविष्य का एक बड़ा भीषण चित्र खींचा। एक बार बाकी सारी दुनियाँ एक ओर होगी और एक दैत्य दिमाग़-शाली महान मानव दूसरी ओर, जो अफ्रीका के गोरिल्ला-चिम्पैञ्ज़ी आदि बन्दरों और रीछों की सेना लेकर लड़ेगा। वे

बन्दर और भालू भीषण अणु-अस्त्रों से लैस होंगे जिन्हें उस मानव ने बनाया होगा। उस भयानक युद्ध में बानर-रीछ मनुष्यों की सेना को हराकर मनुष्यों का संहार करेंगे और फिर आप भी परस्पर लड़ मरेंगे। और तब वह महा-मानव अपने आप मे परिपूर्ण, अपने आप में संतुष्ट, खूब सोचेगा, विश्व मे सर्वथा अकेला, विश्वमित्र की तरह एक नई सृष्टि सोच डालेगा।

बोलते-बोलते छोटे से, नाटे से, कुरूप से ईश्वर खडे हो गये, उनकी टॉगे कडी और टेढी हो गई, हाथ फैल गये और अँगुलियाँ भी कड़ी और टेढी होकर फैल गईं, मानों वह कोई आक्रमणकारी गोरिल्ला हो। उनकी आँखें गोल हो गईं, मुँह भयकर तरह से खुल गया, काट खाने की भङ्गिमा में दॉत निकल आये, आकृति डरावनी हो गई! शुक्र था कि वह शून्य की ओर देख रहे थे, हमारी ओर नहीं। उन्होंने भीषण किटकिटाहट की आवाज की और वही मर कर गिर गये।

हम आज भी कैण्टीन मे बैठे कभी कभी उनकी याद करते हैं और अफसोस करते हैं कि बिहार का एक हीरा चला गया।

●

पूर्णिमा का अन्धकार

—मदन वात्स्यायन

(कुतुब मीनार पर दो साधारण आदमियों के साथ चढ़ने की गति वाली अ 'दार्शनिक' तर्क-प्रधान एक गद्य-कहानी)

गुलगुला बालू, उतरती है चॉदनी
किस नाज से,
सहमी सहमी ॥१॥

टीलों से, पेड़ों से, छतो से,
धुल धुल कर ,
जमा होती नीचे अँधियाली ॥२॥

हंसिनी यह चॉदनी
चाँदी के पॉख
आहिस्ते फैला रही है ॥३॥

घिर रही है मलमली ज्योत्स्ना—
सोये चॉद के जगते मुँह पर
फेन जैसी चादर उड़ा दी है
अनंग ने ॥४॥

रहस्यमय प्रकाश से
सुनसान का, बियाबान का,
एकान्त का, भूत का,
आभास बढ़ता है ।।५।।

शोर करता, 'चलता',
दूध सी गगा मे जहाज सा,
बल रहा है पन्त्र[1] ।।६।।

बाढ़ के पानी पर वर्षा सी,
पन्त्र के किनारे
बिजली की रोशनी पर चाँदनी
झड़ रही है ।।७।।

गर्मी है,
पूर्णिमा है,
प्यारी प्यारी हवा बह रही है ।।८।।

ऊँघ रहा है कमकर बैठा,
हाफ पैण्ट, हाफ कमीज, में,
सुन्दर, नौजवान, भावुक ।।९।।

नन्हीं-नन्हीं, गोरी-गोरी, रेशमी
फ्रॉकों वाली,
नाचती हैं परियाँ, आसपास,
विरोधी प्रकाशो मे छायाओं की
अल्पना करतीं ।।१०।।

थोड़ी थोड़ी देर पर
अफ़सर इजीनियर आ निकलता है,
मशीनों सा भरकम, भारी
आवाज़, वि-रूप ।।११।।

परियाँ
(विद्रूप के स्वर में)—
"धक धक
धक धक !
धक धक
धक धक !
और फिर
धक धक
धक धक ।।१२।।

"ये राक्षसी मशीनें
नोचती हैं, चोथती हैं,
चबा जाती हैं,
सपने, शान्ति, दोपहर को खाने
के बाद का आलस्य, उफ़
ओह ! ।।१३।।

"धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक !" ।।१४।।

मशीनें—
"धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक ! ।।१५।।

"बाप पुरुष, माँ, शक्ति-हिडिम्बा,
चलती हैं, रुकी भी हैं,
कन्धों पर आकाश उठाये

[1] Plant कारखाने का एक पूरा हिस्सा। आविष्कृत शब्द। तुलनीय—यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र।

सभ्यता का, समाज, दोपहर को
खाने के बाद के रेडिओ संगीत
का ! ॥१६॥

"धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक !" ॥१७॥

कमकर—
"पार्क में आइसक्रीम सी चाँदनी
पिघल रही होगी !
आई होगी उर-बसी, मुझे न पा
पति के पास पलट गई होगी ॥१८॥

"पन्त्र जल रहा है
कौरप्ट ब्यूरोक्रेसी सा !
कहाँ पकड़ गया रात को मैं
आज ?
कब शिफ़्ट खत्म होगा ?" ॥१६॥

जीनियर—
"क्या खूब स्मूथ चल रहा है
पन्त्र, मेरा शिफ़्ट है !
प्रोडक्शन का सुर तार पर है ।
(जोर से—) कौन है ?" ॥२०॥

परियाँ छिप जाती हैं,
कमकर उठ खड़ा होता है,
बोलता है—"जी, मैं" ॥२१॥

इंजीनियर—
रजनीगन्धा के झाड़ सी
अंग अंग में खिल आई है
चाँदनी दिशाएँ भर रही है। ॥२२॥

"दिप रहा है पन्त्र
कि जैसे
चाँदनी के भीगे लेप से" ॥२३॥

कमकर—
"चाँदनी के गोरे वक्ष पर,
जल रहा है पन्त्र
रुई के फाहे के तले घाव सा," ॥२४॥

इंजीनियर—
"आयोडीन सा !
घाव पर,
गोरे वक्ष पर नहीं" ॥२५॥

कमकर—
"दूषित हो रहा है चाँदनी का
तेज
पन्त्र की कुदृष्टि से,
कि जैसे डालडा मिला घी ॥२६॥

इंजीनियर—
"कान मे झुमका
उपहारी झुमका
चाँदनो अँगरा रही है ॥२७॥

"अमाँ,
छोड़ो भी शिकायतें दिल की !
सोचो तो सही ॥२८॥

"यह चाँदनी,
यह प्यारी हवा,

प्रेम के उपयुक्त, । २६॥
"शायद,
जगी लेटी होगी
प्राणेश्वरी !" ॥३०॥

कमकर—
कोमल है प्रकृति, कमनीय है।
पीड़ता है परुष यह पुरुष का
असुन्दर यन्त्र कोमल ख्यालों को
॥३१॥

इंजीनियर—
"पुरुष की अनुभूति कोमल है,
पुरुष की सवेदना सुन्दर,
प्रकृति निर्मोह और अ-रूप है ॥३२॥

कमकर—
"प्रकृति कोमल और कमनीय है,
पुरुष बर्बर असुन्दर,
शोषने वाला सगों का" ॥३३॥

इंजीनियर—
प्रकृति शोषती नहीं, सच है,
सीधे खा जाती है—
मेमने सा किसलयों को ।" ॥३४॥
"अ-शिव होकर भी शिव,
स बल होकर भी कोमल,
पुरुष होता है !" ॥३५॥

कमकर (चिढ़ता हुआ)—
"दिमाग वाले !"

इंजीनियर (,,)—
"दिल वाले !"

दोनो हँसते हुए—
"प्यार वाले ! ॥३६॥

इंजीनियर चला जाता है,
कमकर जा बैठता है,
परियाँ घिर आती हैं ॥३७॥

परियाँ (पूर्ववत्) —

धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक ॥३८॥

"यन्त्रण, नियन्त्रण, नियन्त्रण
नियन्त्रण !
यह समवेत कुरूपता,
यह समवेत यन्त्रणा ! ॥३९॥

धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक ! ॥४०॥

मशीनें (पूर्ववत्) —

"धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक !॥४१॥

"क्या उड़ते से चलते हैं हज़ार
पाँव, नियमों में सधे, उन्मुक्त !
यह पाताल ! यह पृथ्वी ! यह
आकाश ! ॥४२॥

"धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक ! ॥४३॥

कमकर—
बदसूरत और निर्मोह भीमाकार
मशीनें,
अनवरत कर्कश कोलाहल,
यह गर्द, यह धुआँ, यह दुर्गन्ध,
यह गर्मी! ॥४४॥

"व्यास, दास, रास और कैलास
ताश खेल रहे होंगे—
कहाँ पकड़ गया रात को मैं आज!।
कब शिफ्ट खत्म होगा!" ॥४५॥

इंजीनियर—
"टार्गेट के खमे तक हम अब
पहुँचे, अब पहुँचे, मेरा शिफ्ट है!
कवायदी घोड़ा सी मशीनें भाग
रही हैं!
(जोर से—) कौन है?" ॥४६॥

परियाँ छिप जाती हैं,
कमकर उठ खड़ा होता है,
बोलता है—"जी, मैं," ॥४७॥

इंजीनियर—
अद्भुत है डिज़ाइन इस यन्त्र का!
बे रोक, बे खटके,
दिन रात भागता है!" ॥४८॥

कमकर—
"भागता कहाँ लिये जा रहा है
हमें?
उत्तरोत्तर उत्पीड़न को,
उत्तरोत्तर स्वार्थ को।" ॥४९॥

इंजीनियर—
"समवेत स्वार्थ को,
व्यक्तिगत स्वार्थ को नहीं।
समवेत परमार्थ भी कोई चीज है
क्या?" ॥५०॥

कमकर—
"दिमाग़ी दोपहर का उत्ताप है
यह यन्त्र।
आदमी को चाहिये
हृदय का कुछ तत्त्व कोमल,
शीतल चाँदनी।" ॥५१॥

इंजीनियर—
"विज्ञान है कमाऊ पति,
हृदय की तृष्णा उड़ाऊ पत्नी है,
जिसे न सन्तोष है न श्रद्धा, न
शान्ति ही ॥५२॥

"जन्म दिन के तोहफे सा
जो सुबह को बाग़ में हँसता
मिलता है गुलाब,
क्या चाँदनी का है? ॥५३॥

"जिसे लेकर अगरा रही है
चाँदनी,
वह ज्योति ही
क्या चाँदनी की है?" ॥५४॥

कमकर—
"आप क्या
बैचलर की
ज़िन्दगी चाहेंगे?" ॥५५॥

इंजीनियर—

"तुम क्या
ड्रोन की
ज़िन्दगी चाहोगे ?" ॥५६॥

कमकर—

"करुणा ही में सामंजस्य है ।"

इंजनियर—

"सामजस्य समझदारी में है,
प्रकाश मे ।" ॥५७॥

"बडे शहर की, चौमुहानी पर,
पुलिस चौकी के सामने,
एक बने दिन का, प्रकाश '॥५८॥

"कि तिनका भी खटके,
तो क्षुब्ध हो उठें सब लोग, एक
साथ—
कि, चौमुहानी पर ' पुलिस चौकी
के सामने !! दिन दहाडे !!! '५६॥

कमकर—

"कि जहाँ
बैंक लुट जाते हैं !—"

इंजीनियर—

"—एक" ॥६०॥

"कि जहाँ
पर-नारी का परमानन्द नहीं पाते
हज़ार लोग" ॥६१॥

"नौ लाख
जहाँ गालियाँ नहीं खाते, पिटते
नहीं,
लुटते नहीं, क़त्ल नहीं होते" ॥६२॥

घूस नहीं मिलती,
जाल नहीं करते,
साज़िश नहीं होती ।" ॥६३॥

कमकर—"चोर बाज़ारियाँ ?
भुखमरी मजबूरियाँ ?
क़ानूनी कुर्की ?" ॥६४॥

इंजीनियर—

"अभी पहुँचे नहीं
जन-ज्ञान की चौमुहानी पर,
हम गलियारे में हैं" ॥६५॥

"जन-सकल्प की पुलिस चौकी,
जन-समझ की दुपहर,
अभी कहाँ, अभी चले चलो,
हम-राही ।" ॥६६॥

कमकर—

"धर्म घट रहा है,
करुणा घट रही है,
आस्तिकता घट रही है", ॥६७॥

"प्रकाश बढ़ रहा है,
कालिमा बढ़ रही है,
घट रही है चाँदनी—हम खो
रहे हैं दिशा ।" ॥६८॥

इंजनियर—

"तुनुक-वादी है धर्म क्या ?
अन्धकार-वादी है करुणा क्या ?
आस्तिकता क्या अनियम-वादी
है ?" ॥६६॥

"कलिमा घट रही है, आँखों का
गुण बदल रहा है—कभी हम
सिंह थे,
आज आदमी हैं, भोर भी झुटपुटा
लगता है।।७०।।

"ब्रह्मास्त्र-विस्फोट गौरव था
अणु शस्त्र विस्फोट गर्हित है—
इतिहास के किस कोने में है
चाँदनी की वकालत ? ।।७१।।

"... में गोलियाँ चलती हैं,
लन्दन में नहीं चलती—
भूगोल के किस कोने मे है
चाँदनी की वकालत ? ।।७२।।

"बेटी के हकों पर देखो पार्लमेंट मे
बहस, धार्मिकों की—अधार्मिकों
की। संस्कृति के किस कोने मे है
चाँदनी की वकालत ?" ।।७३।।

कमकर—
"दुपहर दण्ड है,
दबा सकती है, बदल नहीं सकती,
हृदय-परिवर्तन है चाँदनी दृढ़
नीव को" ।।७४।।

इंजीनियर—
"नींव
क्या रात को देते हैं,
जिन तिन ईंटों से ? ।।७५।।

"चेतन दिमाग़ है किसान सा,
मोहग्रस्त हृदय
बीज-निरपेक्ष खेत है ।।७६।।

"चेतन का ही संभव है विकार
भी, संस्कार भी, समझ का,
दानाई का, विचार का,
वेदना का, सवेदना का ।।७७।।

"(चिढ़ाता हुआ—) दिल वाले !"
कमकर—
(चिढ़ाता हुआ)—"दिमाग
वाले !"
दोनों—
(हँसते हुए)—"आशा
वाले !" ।।७८।।

इंजीनियर चला जाता है,
कमकर जा बैठता है,
परियाँ घिर आती हैं ।।७९।।

परियाँ—
(पूर्ववत्)—"धक धक धकधक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक ।।८०।।

"मशीनें खून पीती हैं, आयु
खाती हैं,
मुनाफ़े पर मुनाफ़े कमा कर
लाती हैं।
लाती होंगी, हमें क्या ? ।।८१।।

"धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक" ।।८२।।

मशीनें (पूर्ववत)—
"धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक धक ॥८३॥

"फ़सलें लहलहा उठी हैं हमारे
स्वेद से,
शस्य-श्यामल देश है।
जगल मे शहर है, शहर मे दूकान
हैं, होटल हैं, क्लब हैं, सिनेमा-
अस्पताल हैं ॥८४॥

"धक धक धक धक !
धक धक धक धक !
और फिर धक धक !" ॥८५॥

कमकर—
"साहब का दिल साफ है, आज
मूड भी है।
अच्छा हुआ इस शिफ़्ट में आ
गया मैं,
कब शिफ्ट खत्म हो !" ॥८६॥

इंजीनियर
"टार्गेट के क्षितिज से ऊपर
प्रोडक्शन का ग्राफ पहली किरण सा
निकल रहा है, सुबह हो
आई।
भूख जोरों से लग रही है।
(ज़ोर से—) कौन है ?" ॥८७॥

परियाँ छिप जाती हैं,
कमकर उठ खड़ा होता है,
बोलता है—"जी, मैं।" ॥८८॥

इंजीनियर—
"हम दोनो को बधाई, मेरे दोस्त !
आज चलो, चाय तुम्हे मैं
पिलाऊँगा घर पर !"

कमकर—
"सर !—। ८६।

"इस प्रोडक्शन से
मुझे क्या मिला ?
प्रोमोशन की मेरी कल की
दरख्वास्त दया के साथ देखि-
येगा !" ॥९०॥

इंजीनियर —
"दया ? वह कुमुदिनी
दूसरे की मजबूरी की छिपी कीच
की बेटी ?
अहकार जिसका सौरभ है ?
अधकार चाँदनी ? ॥९१॥

प्रिय है गुलाब, सत्य का और
न्याय का,
दूसरे के अधिकार की बराबर
भूमि का बेटा।
सौरभ है सवेदना, जिसके नियम
काँटे।" ॥९२॥

कमकर—
"सत्य क्या है,

न्याय क्या है—
ज्ञात हो गया क्या ?" ॥९३॥

इंजीनियर—
"न्याय
है समानता,
सत्य—॥९४॥

"पृथ्वी सा ऊपर उठ रहा है
हृदय की Unconscious
वासनाओं के अर्द्ध-स्पष्ट जल में
तपस्वी विज्ञान की दाढ़ों पर।"
॥९५॥

कमकर—
"हृदय—"

इंजीनियर—
"हृदय पाखण्ड है,
संवेदना बोलो।॥९६॥

"जड़ से जीव,
जीव से मनुष्य, और मनुष्य से
आगे भी—
वेदना की राह है ॥९७॥

"नियमित है गति वेदना की—
गंगा के प्रवाह सी,
दिन रात और वर्ष के हिसाब सी,
॥९८॥

"ट्रेन सी, शिफ्ट सी,
निर्बाध—क्षीर सागर को,
समवेत स्वार्थ को ॥९९॥

"हृदय के 'मन-मौजी' घोड़े,
कहाँ पटकें, कहाँ पहुँचे,
आज यहाँ, कल वहाँ, परसों कहीं
भी नहीं ॥१००॥

"कीमत है चाँदनी की,
जेठ में, अन्धकार में,
न कि फागुन में, या दिन में"
॥१०१॥

कमकर—
"मगर विश्वास और हिम्मत—

इंजीनियर—
"अ-न्याय में है क्रूरता, हिम्मत
नहीं,
अ-सत्य दाँत से पकड़ता है,
विश्वास नहीं करता।"॥१०२॥

कमकर (चिढ़ाता हुआ)
"दिमाग वाले!"

इंजीनियर (चिढ़ाता हुआ)
"दिल वाले!"

दोनों (हँसते हुए)—
"विश्वास और हिम्मत वाले।"
॥१०३॥

सुबह का भोंपा बोलता है,
बहुरंगे प्रकाश के औरकेस्ट्रा सा
भोर उठता है,
चाँदनी छिप जाती है ॥१०४॥

इजीनियर और कमकर,
यन्त्र के बाहर दोनों ही ठमक
जाते हैं,
विस्मित, विमुग्ध ॥१०५॥

शहर मे,
क्वार्टरों की चिमनियों से
नया धूआँ उठने लगा है ॥१०६॥

सुकुमार नई नील आभा वाला,
श्वेत और लाल किरणों से
सुपुष्पित ॥१०७॥

तुनुक माधवी लता सा, छितराया
हुआ,
कि जैसे सारा शहर
लता-मण्डप हो ॥१०८॥
हवा ठण्डी ठण्डी है,
चौको की गन्धों से स-रस बनी;
पसीना सूख रहा है, मुँह भर
आया है ॥१०९॥

इंजीनियर—
"देखो, चूल्हे पर 'गुड्ड-गुड्ड'
कर रही चाय।
हमारा इन्तज़ार कर रही है।"

कमकर—
"चलिये, चले चलें, आइये।"
॥११०॥

शब्द-दश

●

जगदीश गुप्त

''शब्द तो है ब्रह्म'
श्रुति ने कहा कह कर हो गयी चुप

'शब्द है आनन्द . वह संवेदना है'
गुन लिया संगीत ने, साहित्य ने माना

'शब्द है आतंक'
अणु ने हो अधोमुख
वाष्पमय आकाश मे विस्फोट बन
जब किया उद्घोषित
प्रलय के वज्रस्वर में
ब्रह्म की सत्ता अनास्था मे तिरोहित हो गयी

आनन्द का स्वर डगमाया
हो उठीं विक्षिप्त सी संवेदनाएँ

विश्व-संस्कृति का समावृत खोखलापन
'शब्द है फुंकार'
कहकर डस गया
आतंक अभिशापित मनुज को

गारुड़ी ! ओ गारुड़ी !!
तुम हृदय तल के क्षीर सागर मे अभी तक सो रहे हो।

●

विष-कारा

भारत भूषण अग्रवाल

●

अस्तित्व विकल्प,
और नियति सम्बन्धी
एक सांकेतिक-कथा

उसका नाम तो कुछ न था, क्योकि साँपों के नाम नहीं होते, पर नाम न होने पर भी उसका अस्तित्व था, और अपने अस्तित्व का उसे पूरा ज्ञान भी था। और यह ज्ञान ही मानों उसकी सबसे बड़ी समस्या थी, क्योकि जब उसे लगता कि उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा रहा है तो उसे चोट लगती, और वह तड़प उठता।

उसे मनुष्यों से बडा प्रेम था। आप चाहे इसका विश्वास न करें—असल मे उसे कभी एक भी ऐसा मनुष्य नहीं मिला जिसने उसका इस बात का विश्वास किया हो—पर फिर भी उसे मानव से प्रेम था। और इसी कारण वह अक्सर बिलबिला उठता था कि क्यों उसके अस्तित्व के बावजूद मनुष्य उसे नहीं मानते, या मानना नहीं चाहते, और क्यो उसका अपना प्रेम मानव मन मे प्रतिध्वनियाँ उत्पन्न नहीं करता। जब कभी भी वह मनुष्य के पास जाने की चेष्टा करता तो या तो मनुष्य ही भाग जाता, या फिर वह ऐसी तैयारियाँ करता कि उसी को भागना पड़ता। इस स्थिति में उसके त्रास का ठिकाना नहीं था।

और तब एक दिन इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए उसने जमीन के नीचे घुसकर समाधि लगायी, और भूखा-प्यासा, भगवान का स्मरण करने लगा।

भगवान तो प्रकट नहीं हुए पर उसके मन में ही एक नया ज्ञान जागा। उसने पाया कि मनुष्य उसका अस्तित्व मानता है। अन्यथा वह उसे भगा क्यो देता है, या स्वय ही क्यों भाग जाता है। इस ज्ञान से उसे कुछ आश्वासन मिला, उसका त्रास कुछ घट गया।

पर उसका मानव-प्रेम, और उसका प्रतिदान ? वह फिर अचल-अटल वैसे ही समाधि लगाकर बैठा रहा।

स्वप्न, सुषुप्ति और न जाने कौन-कोन-सी अवस्थायें पार कर लेने पर उसके मन मे दूसरा ज्ञान उदित हुआ। उसके मन में प्रेम है तो हुआ करे, पर उसके मुख मे विष भी तो है। यह उसका विष ही है जो उसे मानव से तिरस्कार दिलाता है।

और ऐसा ज्ञान पाकर उसने निश्चय किया कि वह अपने विष का कभी प्रयोग न करेगा और तब मानव उसके प्रेम का अनुभव पाकर प्रतिदान भी देगा।

इस निश्चय से उनका मन हलका हो गया, वह प्राणों में एक नये आलोक का अनुभव करने लगा। कुछ दिन नियमित आहारादि से पुनः स्वास्थ्य-लाभ कर वह अपने निश्चय पर दृढ होकर बस्ती की ओर गया।

बस्ती के सीमान्त में ही एक बहुत बड़ा बॅगला था। वह ज्योंही उसके पास पहुँचा उसे बीन पर मोहन राग बजता सुनाई दिया। खुशी के मारे वह उछल पड़ा। 'नहीं, नही, यह मेरा भ्रम है' उसने सोचा, 'मानव भी मुझसे प्रेम करता है, वह मुझे बुला रहा है, वह जानता है, बीन में मेरे लिए कितना आकर्षण है।' और राग के स्वरो की डोर से खिंचता वह अन्दर प्रविष्ट हुआ।

पहले मुलायम घास मिली। 'सचमुच, मनुष्य कितना महान है' उसने सोचा 'मेरे लिए घर में भी जगल सजा रक्खा है।'

फिर दालान, फिर बरामदा, फिर कमरे पर कमरे पार करता वह उस कमरे में पहुँचा जहाँ रेडियो से बीन के स्वर निकल रहे थे। रेडियो से निकलने वाले क्षीण प्रकाश के अतिरिक्त सारा घर अंधकार में था। उसे लगा, अधकार का यह प्रबध गृहस्वामी ने सचमुच मेरे स्वागत में ही किया होगा।

बीन अब भी बज रही थी। उसका मन एक नई आशा, एक नए मोह से आन्दोलित हो रहा था। वह मृदु, मथर गति से बढता हुआ, रेडियो की छोटी-सी टेबिल पर चढ गया, कुण्डली मार कर आराम से बैठ कर, उसने अपना कान रेडियो से लगा दिया। अपने भोलेपन में वह सोच रहा था कि अभी इस बीन के स्वरो से निर्मित स्वर्ग-कारा के द्वार

खुलेंगे, और इसमें से मानव निकल कर उसे अपनी भुजाओं मे भर लेगा।

पर जिस भुजा ने उसे स्पर्श किया वह रेडियो के भीतर से नही बाहर से आई, और ज्योंही उसे स्पर्श की सिहरन महसूस हुई त्योंही वह मानवी भुजा तड़प कर अलग हो गई। पास में पडे पलग से एक छाया कृति धीमे, धीमे उठी, और सहमते-सहमते न जाने किधर को चली गई।

क्षण भर बाद सारे कमर में प्रकाश भर गया। उसकी आँख जलने लग गई। बड़ी मुश्किल से वह देख सका कि एक मनुष्य दूर पर खड़ा, उसे ताक रहा है। उसके चेहरे का भाव पकड़ना तो उसके लिए असभव सा था। फिर भी न जाने क्यों उसे लगा कि यह वह स्वागत नहीं है जिसकी वह आशा बाँधे था।

थोड़ी देर अ-गति रही। बीन बजती रही, वह सुनता रहा, और दूर पर खड़ा मनुष्य उसे घूरता रहा।

अरे, यह क्या! यह केवल उसका अनुमान होगा, या सत्य? उसने अच्छाई से देखा कि अब एक नहीं, काफी मनुष्य वहाँ जमा हो गए हैं, और सब उसकी ओर उसी तरह घूर रहे हैं।

'आओ', उसने कहा 'आओ, मेरे पास आओ न! देखो, मैं तुम्हारे लिए कितनी दूर से कितनी बाधाएँ लाँघकर यहाँ आया हूँ। तुम्हारी बीन सुनकर भला मैं दूर रह भी कैसे सकता था। आओ मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। मैं तुमसे घुल मिल जाना चाहता हूँ।'

जब सामने खड़े मनुष्यों की मुद्रा या चेष्टा में कोई प्रतिक्रिया न हुई तो उसे लगा कि उसकी बात उन तक नहीं पहुँची।

और तब पहली बार उसे अपनी एक असमर्थता का ज्ञान हुआ। वह जो कुछ कहता था, उसका अर्थ था, उद्देश्य था, पर उसकी सारी कथा, उसके प्राणों का सारा निवेदन मनुष्यों के निकट केवल निरर्थक फुककार बनकर रह जाता था! अब मैं क्या करूँ, वह सोचने लगा।

कि मनुष्यों की भीड़ में हलचल मची। कठोर पुरुष स्वर भी सुनाई पड़े, पर उनका अर्थ समझने में वह भी उतना ही लाचार था। केवल उनकी भगिमा से ही वह साध सकता था कि जो कुछ कहा जा रहा है, वह उसके लिये प्रीतिकर नहीं है।

'मैं समझा नहीं', उसने बिलख कर कहा 'मैं तो छोटा-सा जीव हूँ।

तुम्हारी भाषा नहीं जानता। पर तुम तो मानव हो, महान हो, तुम क्यों नहीं मेरी भाषा समझ पाते। चेष्टा करो तो सीख नहीं सकते ?'

लेकिन दूसरे ही क्षण वह समझ गया कि उसके वचन केवल फुफकार बनकर रह गए हैं क्योंकि अब बहुत से लोग डरावने ढग से उसकी ओर बढ़ रहे थे और उनके हाथों में विचित्र विचित्र हथियार थे।

उसके मन ने कहा : भाग चलो, आसार अच्छे नहीं हैं। पर फिर उसे अपना निश्चय याद आया, और अपनी दृढता से उसे बल मिला 'आने दो कोई चिन्ता नहीं', उसने सोचा, 'ये अभी ही समझ जायेंगे कि मैं इतनी हानि नहीं करना चाहता। जब मैं अपने जहर का उपयोग ही न करूँगा, तो फिर ये मुझे क्यों भगायेंगे।' और कहीं उसकी बात फुफकार मे परिणत न हो जाय, इसलिए उसने एक शब्द भी कहना ठीक न समझा। केवल अपना फन झुकाकर गुड़-मुड़ होकर शान्त भाव से बैठ गया, मानो पालतू हो।

तभी एक लाठी उस तक लगी। चोट से वह तिलमिला गया, और उसने बड़ी कठिनाई से अपने मुँह से निकलते दुर्वचन रोके। उसके मन मे बैठा कोई बोल उठा : अब भी समय है, भाग चलो। पर उसने अपने सिर को एक झटका देकर अपना निश्चय प्रकट किया। नहीं, नहीं मैं आज फैसला करके ही रहूँगा। तुम......तुम मेरे जहर के कारण ही मुझ से घृणा करते हो न ? हाँ, मेरे पास जहर है। पर मैं उसका उपयोग न करने का निश्चय कर चुका हूँ। मार लो, एक लाठी नहीं, दस और मार लो--पर मैं कुछ नहीं करूँगा ! बस, योहीं तुमसे करुणा की, मैत्री की भीख माँगता बैठा रहूँगा। आखिर कभी तो पिघलोगे।'

एक लाठी और। उसकी देह तड़प गयी 'कोई बात नही ! उसने मन ही मन कहा 'यह तुम्हारा अज्ञान है, जो तुम मेरे साथ यह दुर्व्यवहार कर रहे हो। मैंने तो मुक्त कण्ठ से अपना निश्चय घोषित कर लिया है, पर मैं क्या करूँ जो हम एक दूसरे की भाषा समझने में असमर्थ हैं। पर आचरण की भाषा भी क्या तुम न समझोगे ? क्या तुमने कभी ऐसा साँप देखा है जो मार खाकर भी फन न उठाये ? फिर क्या तुम यह नही विश्वास कर सकते कि मैं दूसरी तरह का हूँ। मैं और साँपो से भिन्न हूँ। मैं तुम्हारा मित्र हूँ।" तभी किसी लोहे के पाश मे उसका फन, और उसका मुँह जकड़ गया। कोई उसे अपनी ओर घसीट रहा था।

...

आत्मदान : वेदना : स्वातन्त्र्य

●

पश्चिमी यूरोप यात्रा
के दौरान में लिखे गये
जर्नल के कुछ सूत्र

एक

यान्त्रिक उन्नति इसे क्रमशः सुगमतर बनाती जाती है कि मानव अधिकाधिक काम बिना आत्मदान के कर सके।

अर्थात वह क्रमशः अधिकाधिक मानवों का अकेला होना अधिकाधिक सम्भव बनाती जा रही है यदि वे यान्त्रिक उन्नति पर ही निर्भर करते हैं।

यान्त्रिक उन्नति अपने आप में दूषित नहीं है। वह मृत्यु को सुगमतर बनाती है, इस का अर्थ यह नहीं है कि वह जीवन को असम्भव बनाती है।

किंतु यान्त्रिक उन्नति आत्मा को प्रेरणा नहीं देती, और वह प्रेरणा आवश्यक है। उस प्रेरणा के स्रोत की खोज आधुनिक मानव की खोज है।

* * *

लोक-कल्याण का अर्थ जब परिस्थितियों का प्रतिमानीकरण समझ लिया जाता है, तब शिक्षा का अर्थ भी मानसिक प्रतिक्रियाओं का प्रतिमानीकरण हो जाता है। तब हम परिस्थिति की विशिष्टता को अरक्षित होना समझने लगते हैं और भाव-प्रतिक्रिया की विशिष्टता को अशिक्षित होना।

शिक्षा विवेचन की परिपाटी देती है। जो शिक्षा विचार शक्ति की बजाय भावना का नियमन करना चाहती है, वह सर्वसत्तावाद की चेरी है।

दो

क्यों, जब-जब मैंने पूछा कि मैं किस की बलि दूँ, तब-तब तेरा उत्तर एक प्रश्न हुआ। "तू किसे अधिक चाहता है?"

एक विकृत उपपत्ति : अगर मैंने किसी की बलि देने का निश्चय कर

ही लिया है, तो मुझे केवल अपने को यह विश्वास दिलाना शेष रह जाता है कि मैं उससे प्रेम करता हूँ।

सर्वसत्तावादी स्वतन्त्रता से कितना प्रेम करते हैं !

काश कि मैं अपने आप से कुछ अधिक प्रेम करता—क्योंकि तब मैं अपने को बलिदान के लिए उपयुक्त महत्त्व और गौरव दे सकता !

अथवा मैं अपने को कुछ कम प्रेम करता—ताकि दूसरों का बलिदान करने में मुझे द्विधा न होती !

* * *

प्रेम के आयाम में मैं जानता हूँ कि जो प्रेम करता है वह अकेला है।

दुःख के आयाम में जानता हूँ कि जो दुःख भोगता है वह अकेला है।

सवेदना के दूसरे आयामों मे भी क्या मैं नहीं जानता कि उस आयाम का अनुभावक भी अकेला है ?

अर्थात् : क्या 'होना' ही 'अकेला होना' नहीं है ?

* * *

मानव सभी एकाकी हैं यद्यपि पूर्वापर सभी कालों में नहीं। किंतु काल-पूर्वापर होने के साथ-साथ सभी समवर्ती भी हैं, अतएव प्रत्येक मानव का एक अश सर्वदा एकाकी होती है।

यह एकाकी अश ही प्रेम कर सकता है, शेष मानव तो केवल कामना करना जानता है। और इसी लिए त्याग भी यह एकाकी ही कर सकता है, शेष मानव नहीं।

परिणाम : मानव का जो अश सर्वाधिक अनासक्त है, वही सब से अधिक सहता है और अपने अस्तित्व का अनुभव करता है।

* * *

सख्य मानव की स्थिति है।

अकेलों की भीड़ से अकेलापन नहीं मिटता, किन्तु अकेले के आत्मदान से मिट सकता है।

तीन

मेरी वेदना ही मेरी स्वतन्त्रता का प्रमाण है। यदि मुझे स्वतन्त्र

निर्वाचन का अधिकार न होता तो मुझे वेदना भी न होती। क्योकि या तो मैं निर्विकल्प भाव से वही कर्म करता जो सही है, या निर्विकल्प भाव से उसे स्वीकार करता जो सही नहीं है।

*　　　*　　　*

मेरी विकल्प की स्वतन्त्रता का और क्या प्रमाण है, सिवा मेरी वेदना के?

*　　　*　　　*

क्या मैं इस लिए स्वतन्त्र हूँ कि मैं नगण्य हूँ, कि मेरा कोई मूल्य नहीं है?

चार

अमरत्व का अर्थ अनन्तकाल तक जीवित रहना नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो अनन्त काल तक मरते रहने का ही दूसरा नाम है। अमरत्व तभी सार्थक है जब वह काल-निरपेक्ष हो—अर्थात् जब वह एक अनुभूति हो, एक मनस्थिति हो, दृष्टि हो।

*　　　*　　　*

मैं या तो इस क्षण मे अमर हूँ, या कभी नहीं हूँ

पांच

उपलब्धि के बिना मूल्य नहीं है, किंतु मूल्य केवल उपलब्धि मे ही नहीं है, वह उस गहराई मे भी है जिस पर उपलब्धि हुई हो।

प्रत्येक वस्तु जो अपनी माप है, उस गहराई की भी माप है जिस में उस की रचना हुई है।

*　　　*　　　*

सत्य इस से कम सच्चा नहीं हो जाता कि उसे थोड़े लोग जानते हैं।

पर सत्य इस से झूठा हो जा सकता है कि उसे हर कोई जानता है।

छह

ईश्वर ने अन्धकार मे 'न-कुछ' से सृष्टि की।

अतः सृष्टि का मूल रहस्य क्या है ?
न-कुछ ।
ईश्वर ने चित् से सृष्टि की कल्पना की।
अतः सृष्टि का मूल रहस्य क्या है ?
चित् ।
ईश्वर ने अपनी तपन की पीड़ा से सब कुछ रचा ।
अतः मूल रहस्य क्या है ?
पीड़ा ।

सृष्टि रच कर उसे अपने से अलग करके
ईश्वर के पास क्या बचा ?

आनन्द ।

अतः चरम उपलब्धि क्या है
आनन्द ।

किंतु
ईश्वर से अलग हो कर
आनन्द ईश्वर को सौंप कर
मानव के पास क्या बचा ?

स्वातन्त्र्य ।

अतः चरम उपलब्धि क्या है ?
स्वातन्त्र्य ।

सागर तट की सीपियाँ

●

सीपियाँ ।
ये शुभ्र-नीलिम :
दर्द की आँखें फटी-सी
जो कभी अब नहीं मोती दे सकेगी ।
यह गन्ध-दूषित
मुख-विवर जो किरकिराते रेत कन से
अचकचा कर अधखुला ही रह गया है ।
ये बन्द, बाहर खुरदुरी, छेदों-भरी :
हाय रे, अपनी घुटन का ले सहारा मुक्त होना चाहना
निस्सीम सागर से—
उसी के उच्छिष्ट का।

ये टूटी हुई रंगीन
इन्द्रधनु रौंदे हुए ये,
रेत से मिस चले-से भी स्निग्ध,रंगारंग –
जैसे प्यार ।

और यह जो –
चलो, यह अच्छा हुआ जो बाहर उसको कोख में खेती गयं –
न जाने क्यों मुझे उसके
कँटीले रूप से संकोच होता था ,

•

देहरादून
मई १६५६

●

रूप की प्यास

हृदय के भीतर से

सहसा कुछ उमड़ कर बोला :
सुन्दर के सम्मुख यह तुम्हारी जो उदासी है—
वह क्या केवल रूप, रूप, रूप की प्यासी है ?
जिसने बस रूप देखा है
उसने केवल कुछ चाहा है
भले ही कितनी भी उत्कट लालसा से चाहा है
पर जिसने दिया है अपना दान
उसने अपने को, अपने साथ सब को
अपनी सर्वमयता को निबाहा है ।

मैं गिरा . पराजय से, पीड़ा से
लोचन आये भर-से
पर मैंने मुंह नहीं खोला ।

डैन्यूब के तट पर
आस्ट्रिया—जून १९५५.

बर्फ़ की झील

●

चट-चट-चट कर सहसा तड़क गये हिम खंड
जमे सरसी के तल पर
लुढ़क-पुढ़क कर स्थिर...
वसन्त का आना
यद्यपि पहले नहीं किसी ने जाना—
होता रहा अलक्षित।

नयी किरण ने छुए शृंग : हो गये सुनहले
बहते सारे हिमद्वीप। हाँ, गाओ—
"हेम-किरीटी राज-किशोरों का दल
नव-वसन्त के अभिनन्दन को मचल रहा है।"
गाओ, गाओ : गान नहीं झूठा हो सकता!

गाओ!
पर ये हेम-मुकुट-हैं केवल .
दूर सूर्य के लीला-स्मित से शोभन
कौतुक-पुतले।

नीचे की हिमशिला पिघल कर जिस दिन
स्वयं मिलेगी सरसी-जल में
नव-वसन्त को उस दिन
उस दिन—उस दिन
मेरा शीश झुकेगा!

क्योंकि तपस्या
चमक नहीं है
वह है गलना
गल कर मिट जाना—मिल जाना -
पाना।

कोपेन हेगेन, डेन्मार्क
जुलाई १९५५.

असीम काल : एक अनन्त वर्तमान

उपन्यास का अंश और

एक कविता

पाषाण

अपने सम्बन्ध में कुछ —डरते-डरते......

अनंतकुमार पाषाण

●

बहुत दिन हो गये। स्वय अपने पर व अपनी रचनाओं पर एक टिप्पणी लिखनी है। एक योजना का यह आग्रह है। मैं डरता हूँ।

साहित्य लिखता हूँ—यों ही। साहित्य मेरा ध्येय नहीं है। ध्येय है ईश्वर। साहित्य उन्हीं के लिये है।

देश का बन्धन मुझे नहीं चाहिये। किसी को नहीं चाहिये। काल की समस्या बड़ी है।

सृजन के क्षण मे काल अटूट है। भूत और भविष्य का सङ्गम सृजन का क्षण है। असीम काल एक अनन्त वर्त्तमान है।

काल की सयोजक शक्ति की उपलब्धि के लिये मैं अहङ्कार को पूर्णत नष्ट करने मे प्रयत्नशील हूँ। "मैं करता हूँ," का भाव न हो, तो अहङ्कार न होगा।

श्रेष्ठ कला मे मुझे लगता है, 'वास्तव' नही होता। कला का 'यथार्थ' जीवन के 'वास्तव' से कही अधिक विशाल है। वर्ड्स्वर्थ ने जिन डैफ़ोडिल के फूलो पर कविता लिखी है, वह उसने स्वय अपने भीतर देखे थे—सुनहरी पाँखरी वाले वास्तविक फूल मुरझा सकते हैं, वर्ड्स्वर्थ के डैफ़ोडिल फूल नहीं मुरझा सकते।

अहङ्कार के जाने से व्यक्तित्व की रुचि-अरुचि का लोप हो जाता है। पक्षपात नहीं रहता। तब पकड़ आती है।

पानी जिस बर्तन मे रखो, उसी का स्वरूप ग्रहण कर लेता है, क्योंकि उसमें सब स्वरूप गोपन हैं।

व्यक्तित्व की सीमा टूटने पर समभाव आता है। तब चोर का वर्णन करने मे जितना आनन्द आता है, उतना ही आनन्द सन्त के चित्रण मे आता है। द्वैत नहीं रहता।

अद्वैत की इस स्थिति में दिखता है—भगवान ही अनेक रूपों में अनेक खेल खेल रहे हैं। सामाजिक क्रांति भी उनका एक खेल है।

भाषा लेखक की पराजय है। काल से शासित भाषा में काल के परे का, देश के परे का अनुभव पकड़ने का एक ही उपाय है।

भाषा के प्रतिष्ठित अर्थ सम्बन्धों को तोड, जैसे मकड़ी अपने भीतर से तार निकाल कर जाला बुनती है, वैसे भाषा बुने!

इन बड़ी-बड़ी मान्यताओं के आधार पर मुझ जैसा छोटा आदमी लिखने की चेष्टा करता है, यह भी किसी अन्य की ही एक लीला है।

परख

●

"आभा ! जिस तरह के प्रेम की तुम बात करती हो वह केवल स्वतन्त्र भोगवाद है। उसके पीछे परिष्कार नहीं, क्षय है।"

और अब आभा रो रही है। आभा, कि जो इतनी कम उम्र में ही बुढ़िया दिखने लगी है। जिसने जीवन को पूरा भोगा है। उस भोग का नाम शुरुआत मे था 'इन्टेलेक्चुअल फ्रेंडशिप', फिर हुआ 'इमोशनल आउट लेट' फिर हुआ 'रेशनल आउटलुक'! अब यह सब 'लिबरल वे' है—स्वतत्र मार्ग है।

नकुल ने अपनी आस्था को चूर चूर कर दिया है। प्रेम के किसी परिमार्जक स्वरूप की सम्भावना उसके अपने जीवन के लिए नहीं रह गयी है। वह सोचता है और हँस देता है। उस बालक की तरह है वह, जिसे जन्म क बाद से ही माँ का दूध नहीं मिला। अब तो उम्र भी नहीं रही है मेरी उस पय की याचना की! मैं जीवन मे भोग के पीछे दौड़ा था पर भोग मेरे लिए नहीं है। मेरे लिए योग है।

बम्बई के बहुत बडे एक होटल मे बैठा नकुल देख रहा है। वेटर है जो साफ सुथरे कपडे पहिने इधर से उधर घूम रहे हैं। एक साधारण क्लर्क के वस्त्र कभी इतने साफ नहीं होते।

जिस जगह वे लोग बैठे हैं उसे फैमिली रूम कहते हैं। हिफ़ाजत है दुनिया की नज़रों से, तो आभा का रोना जारी है!

काश, कि मैं रो सकता! यह भी कितने काम की चीज़ है। दर्शक के मन मे एकदम से घर कर लेने का तरीका है। इस तरीक़े को मौके-बेमौक़े इस्तेमाल करना चाहिये। और नकुल को मन ही मन कोफ़्त हो गया। वह रो क्यो नहीं सकता! हेलन थी कि उसके पास आकर रोकर चली गयी। अब आभा रो रही है। यह उबल-उबल कर फफकना जिन्दगी का रास्ता नहीं है। करुणा कवियों और अपाहिजों में पायी जाती है। बलवान समरस होते हैं। और नकुल आज आभा की आत्मा को चीर-

फाड़ करके देख लेना चाहता है—उस भ्रामक माधुर्य के पीछे का छल, जो आसानी से पकड़ मे आने वाला नहीं है।

"रोने से क्या होगा आभा! मुझ पर रोने से कोई असर भी हो जायेगा तो तुम्हारा मसला तो हल नहीं होने का।"

और आभा ने मुँह ऊपर उठाया। उसकी आँखो मे अहकार था और विद्रोह था। "शट अप!" वह बोली, "कौन तुम पर असर डालना चाहता है?"

और बहुत कुछ नकुल के सामने साफ होता जा रहा है। भाग की उस असीम लालसा के पीछे की वृत्ति खुलती जा रही है। आज वह निर्विराग है। कही कोई अपेक्षा उसे नही है। फलतः वह सशक्त है। पानी की तरह सबका है! वैयक्तिक इच्छा के जाल को उसने तोड़ डाला है।

उसे याद आ रहा है, जब वह कालेज मे पढता था, एक लड़की उसे जरूरत से ज्यादा महत्व देती थी

एक दिन रात को दस बजे गर्ल्स कालेज की दीवार फांद कर अमिता उसके कमरे मे आयी। वह बैठा पढ रहा था एक दस्तक हुई। उठकर उसने द्वार खोले।

"क्यों अमिता?"

और अमिता अन्दर आ गई है, और उसकी खाट पर बैठ गयी है। उसका मन आर्द्र हो उठा है। कोई लड़की है दुनिया मे जो उससे मिलना चाहती है!

"इस वक्त तुम आई कैसे अमिता? तुम्हारे हास्टल में तो सात बजने के बाद बाहर निकलने की मनाही है न?"

"उंह!" कह कर अमिता ने मुंह बिचका दिया।

और नकुल मेज के सामने बिछी अपनी कुर्सी पर बैठ गया। इस जगह सब शून्य है। उस शून्य मे रोज़ असख्य चक्रवात बन कर टूट रहें हैं।

"अमिता यह ठीक नहीं है। अगर तुम्हें कोई देख लेता तो।"

"मैं दुनिया की परवाह नहीं करती।"

और यही मुश्किल है। आभा दुनिया की परवाह नहीं करती! जहां उसके भोग को दुनिया ने भोग कहा है, वही आभा आज नाराज़ हो गयी है—"मैं दुनिया की परवाह नहीं करती?"

नकुल ने दुनिया की परवाह की है। उसने माना है कि दुनिया उससे अलग कुछ नहीं है। नैतिकता कोई कानून नहीं है। यह सब तो एक सलीका है! जिसे सलीका नहीं, वह गवार है!

वेटर अन्दर आया। उसे शक हो गया कि यह कुछ रोमान्स का मामला है। बम्बई का तीन चौथाई रोमान्स होटलों में ही पनपता है। नकुल को लगा जैसे उलझन हो रही है। यह वेटर समझता होगा कि नकुल उन असंख्य आदमियों में से एक है जो यहां के होटलों में अपनी चाशनी का कटोरा लेकर जाते हैं और उसे आराम से चाटते हैं।

और नकुल जो चाशनी से अपरिचित है। जिसने जीवन का ज्यादा गंभीरता से समझा है, वह अब क्या इस तरह पराजित होगा इस विशाल मिथ्यात्व के सामने?

वह एक बार फिर से जन्म लेना चाहता है। एक बार फिर नये सिरे से सब कुछ शुरू करना चाहता है। और शायद आभा भी यही चाहती है। दुनिया का हर एक विवेकहीन व्यक्ति यही चाहता है!

होटल में से निकल जाने के बाद भी नकुल आभा के साथ ही है। यह लोग चुप चल रहे हैं, जैसे पथ अनन्त है। आभा ने हाथ के इशारे से एक टैक्सी रोकी—'हिन्दुस्तान मोटर्स!"

बिजली के खंभे गोल चक्करों में नाचते चले जा रहे हैं! टैक्सी में से दुनियाँ अपने से अलग मालूम होती है। टैक्सी ऐसे चली जाती है जैसे पथ उसके लिए बाहरी है। भीतर तो पूर्ति है। आवश्यकता की स्वीकृति है। इस सब के परे जैसे अनन्त विश्व हैं। प्रत्येक विश्व की अपनी सीमा है—अपनी कुण्ठा है। प्रत्येक विश्व का अपना पार्थक्य है, अपनी दाम्भिकता है। इस पार्थक्य, इस सीमा से परे कुछ भी लेकर चला जा सकता है क्योंकि परे नैतिक संतोष है, अपने को किसी भी तरह प्रसन्न कर लेने की क्रिया है। नकुल देख रहा है। टैक्सी जैसे अपने आप में अदृश्य हो गयी है। सीढ़ियाँ हैं। एक के बाद दूसरी। पाँच समाप्त हुई कि मोड़ आ गया, मोड़ के बाद फिर पाँच सीढ़ियाँ। पुरानी, सँकरी—जैसे किसी तहखाने का रास्ता हो—पत्थरों की दरारों में से सूखी घास झांक रही है, और नीचे ही नीचे चलते जाना है। नीचे जहाँ सीढ़ियाँ और आगे चली गयी है और अँधेरा गहरा होता गया है। जड़ों में हमेशा अन्धेरा

ही रहता, प्रकाश के भोक्ता तो फूल होते हैं। फूल वह हैं कि जिनका पोषण जड़ें करती हैं।

और फिर आगे सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ियाँ—जो उन तहखानों में गयी हैं जहाँ सैकड़ों मन सोना बोरों मे चुरा कर रक्खा है। बोरियाँ जो कि इतनी पुरानी हो गयी है कि मिट्टी से मिल जाना चाहती है और धूल बेतहाशा है।

सीढ़ियो पर पतले-पतले साँपों की सी प्रकाश की रेखाएँ चढ़ने लगी हैं और फिर मोड़ है।

नकुल मुड़ गया है, तालाब है। गन्दा पानी उसमें भरा है। एक आदमी वहाँ भोग की अग्नि पर सुखों की दोतार चाशनी बना रहा है।

नकुल ने उसे ज़मीन पर दे मारा और पटख-पटख कर उसका सिर फोड़ दिया। उस सिर मे दरार पड़ गयी। एक बार और मारा तो उसके दो टुकडे हो गये। अन्दर से निकला नारियल का सा गूदा!

वह आदमी कौन है! वह जनेजा साहब हैं, दिलीप कुमार वांचू है, और शायद वह आदमी मैं भी हूँ... ..

टैक्सी उड़ी चली जा रही है। इरॉज सिनेमा पर बहुत भीड़ है और फिर मोड़ है। उस मोड़ पर सुनसान है, सुनसान कि जो गजा है, बूढ़ा है। सुनसान कि जो उकताट है!

हिन्दुस्तान मोटर्स......

"मैं टैक्सी पर बैठ बैठ कर थक गयी हूँ।"

नकुल हस दिया। टैक्सी जैसी तकलीफदेह सवारी पर बैठ कर कोई भी थक जायेगा, उसने सोचा।

आभा खट खट करती हुई दुकान के अन्दर घुस गयी। और नकुल यन्त्रवत उसके पीछे-पीछे चल अन्दर पहुँच गया। मोटरें खड़ी हैं—चमकती हुई नयी।

सेल्समैन दौड़ता हुआ आया। "जी" उसने झुक कर बिना किसी प्रश्न के उत्तर दे डाला।

"स्टुडिबेकुर !"

देखी गयी। खरीद ली गयी। नकुल देख रहा है, उत्तेजना के क्षण......क्या होता है!

उसे याद आया। उसके चाचा फॉरिस्ट ऑफीसर थे। उनके पास दो मोटरें थी। एक थी 'सनबीम'—जर्मन मेक और दूसरी थी 'एसैक्स'!

सनबीम बहुत ठाठ की गाड़ी थी। बहुत बड़ी और कुशादा। उसमें अन्दर से बत्ती जलती थी। जब वह गाड़ी खरीद कर लाई गयी थी, नकुल कितना उत्तेजित था।

और एसैक्स बिचारी थी अपनी काम चलाऊ। उसको नालों पर कुदा दो, पत्थरों पर चढ़ा दो पर चू तक नहीं करती थी। और एक बार जब उन चाचा के साथ नकुल भी उनके दौरे पर गया था, तो वह खिड़की पर ठोढी टिकाए बाहर ही देखता रहा था।

तीसरे पहर की फाख्तई धूप मुरझाने लगी थी और किसी प्रेम-क्लान्ता नायिका सी ज्योति शर्मा रही थी। जगल था, और जगल था, और जगल था। नकुल के चाचा पीछे बैठे थे और ड्राइवर के सामने दर्पण में उनकी उदास शक्ल स्थित थी—धक्कों स कभी कभी अवश्य हिल उठती थी --- नकुल उस शक्ल को देखने से प्रेरणा पाने का अनुभव कर रहा था। और आगे ड्राइवर की सीट के पास बैठा था नकुल। ड्राइवर जो बहुत लम्बा था, दुबला था छोटी-छोटी उसकी आखें थीं --चुन्नी-चुन्नी। सूखे हुए आटे सा उसका रग था। मूछे उसकी भूरी थीं। होठ उसके गुलाबी रहते थे हमेशा और कानो मे वह सोने के कु डल पहने रहता था जो हमेशा चलते हुए हिलते थे। नकुल उन हिलते कु डलों को देखता था!

मगर मुझे जगल पार करना है। मोटर आभा ने खरीद ली है। एक दिन आभा से कहू गा, कि मोटर पर बिठा कर मुझे जंगल के पार ले चलो!

और स्टूडिबेकर गाड़ी आभा बाहर निकाल लायी और नकुल को अपने पास ही बिठा लिया है आभा ने। नयी गाड़ी मे कितना उल्लास होता है!

नकुल सोच रहा है। जगल की वह धु धली सड़क कि जिस पर वह बूढ़ी एसैक्स भागती ही चली जाती थी। पीछे पीछे छूटती जाती थी दुनिया और आगे आगे नये नये रास्ते बनते जाते थे। नकुल एकदम नये रास्ते पर नहीं चल सकता। वह तो धीरे धीरे पुराने रास्ते को नये रास्ते पर ले जा कर नया रास्ता बना देगा।

मोटर के समाने टिटहरी आती है और फुर्र से उड़ जाती है। तपी हुई राह को खरगोश काट जाते हैं। कई बार गिलहरियां दौड़ जाती हैं। पेड़ पीछे को भाग रहें हैं। ढलानो पर के साये औंधे मुह लटके हैं, कुल्फी के शकल की एक चट्टान मैदान की तश्तरी मे रक्खी है।

नकुल देख रहा है। पेड़ जैसे कुछ बोलना चाहते हैं, पर इसलिए नहीं बोलते कि उनकी भाषा कोई इन्सान समझ सकेगा, इसमे उन्हें शक है। नकुल उनसे बात कर रहा है। हर छूटे हुए पेड़ की अधूरी बात को अगला पेड़ पूरा कर देता है। और एक जगह गाड़ी रुकी। नकुल अपने चाचा के साथ उतरा तो उसने ताजी लौकिया लटकती देखीं। हरी लौकिया! मजा और अब नकुल आभा स्वतन्त्र हैं कि जहां चाहे जायें, तो नकुल प्रसन्न है। आज उसे एक युवती के सामीप्य की जरूरत है, क्योंकि वह अपने को परखना चाहता है कि जिस आग को उसने थपकी देके सुला दिया है, वह पूरी तरह सोई भी है या सिर्फ बहाना करके आँख बन्द करके पड़ी है। आभा से कम से कम यह तुष्टि तो उसे है ही कि लो वह विजयी हो गया है। जिस स्त्री ने एक दिन उसकी अवहेलना की थी, वही उसे अब लिए चलती जाना चाहती है।

आभा जैसे फिर जवान हो गयी है। अनेक युवकों को बाँटा हुआ यौवन-अमृत उसने किसी मन्त्र बल से वापिस लेकर अपना घट भर लिया है। मानों उन अमृत के लुटेरों मे उसने कहा है—"लाओ, हमारा अमृत वापिस कर दो! हमे नहीं देना!" और अपने घट को पुनः भर कर आई है अपने आद्य प्रेमी के पास आद्य प्रेमी जो मात्र' है। उसने अनुभव से जाना है। शेष तो सब लूटपाट है। अधिकार-लिप्सा की बात है। अपने प्रेम को अनेक लोगों मे बांट कर जब उसे तृप्ति नही हुई तो वह पुनः आई है अपने आद्यप्रेमी के पास। आद्यप्रेमी कि जो मानों प्रतीक्षा कर ही रहा था!

और नकुल जैसे आज ऐसा अनुभव करना चाहता है कि वह अपने को भी भूल जाये! अच्छा अभिनेता तो वही है न कि जो स्वयं अपने को भी भुला देता है। शून्य मे चक्रवात बनने आरम्भ हो गये हैं।

नकुल मन ही मन एक कविता याद कर रहा है! मानो अभिनेता

अपना पार्ट याद कर रहा है। इसी मे नजात है, मुक्ति है, अभिनय का अर्थ है—

मोटे घने जंगलों मे लिपटे चिपटे से
सर्पीले रस्ते जो ऊपर को उभरे थे
आगे-आगे, मेरे कदमों से भी आगे जाने के द्रुततम प्रयास में
भाग रहे हैं केवल पीछे को मुड़ मुड़ कर
देख कभी लेते हैं
मेरी आँखें वहशत मे कुछ ढूँढ़ रही हैं
किसी भीड़ मे खोये दो छोटे बच्चो सी...

चौपाटी की तरफ जा रही है वह स्टुडिबेकर! चौपाटी कि जहाँ समन्दर का छल है, कि जहाँ महासमुद्र की उन्मद लहरा मे मनुष्य गन्दे दोना को फेंक कर तृप्ति का अनुभव कर लेता है। चोपाटी, जहाँ सडी हुई भेल पूरी को अपने पेट मे ठूँस कर आप घर आकर खाना नहीं खाते। वह एक दूसरा छल है कि आप सांस्कृतिक उन्माद मे भारतीय विद्याभवन मे घुस जाये :—

ऑक्टोपस की खून चूसने वाली लम्बी टाँगों की सी
विटप-डालियाँ बल-खाती सी बढ़ी आ रही हैं
मानों मुझको कस लेने,
भूखा है, सारा जंगल प्यासा है, फिर भी
मैं इस जंगल में जाऊँगा ...
शतरंजों की भग्न बिसाती की अनुकृति सी
मैदानों की लम्बी काया चौड़ी होकर पड़ी हुई है!
नाजुक पीली कामातुर बेशर्म हवाएँ,
बरगद जिनको मठाधीश सा
शत-शत चाबुक मार दण्ड देता रहता है शाम सबेरे!
यह तो बड़ा क्रूर जंगल है......

मोटर गति मे बढ़ी जा रही है
जैसे नाइल नदी में पीला पत्ता झर कर बह उठता है,
बिम्बक-दर्पण ड्राइवर के जो पास लगा है

पल पल मरते जाने वाले, पुनः पुनः पैदा हो जाने
    को चिर आतुर
रस्ते का एक्स-रे सा, दर्पण काँप रहा है
तनिक गुलाबी और फिरोज़ी बीती यादें
जिनको समय-कीट ने खाकर ख़तम किया है...

मोटर गति मे बही जा रही; खरहे पथ को काट रहे हैं,
मोटर का तप जाने वाला बूढ़ा इंजन क्रंदन-कातर हांफ रहा है,
आज चला हूँ मैं फिर से वह स्वाँग रचाने,
अपनी बाहों में अपनी ही छलना का प्रतिबिम्ब उठाने
जिसे प्रणय कह विश्व तोष में खो लेता है .

"क्या भुनभुना रहे हो ?" आभा ने इलैक्ट्रिक हार्न बजाते हुए कहा।

"एक कविता है ?"

"कविता !" आभा हँस पड़ी।

"हाँ, कविता !" नकुल बोला। और फिर मौन। केवल मोटर की भन्न भन्न थी और ऐसी सड़क थी जो लगता था हमारे ऊपर ही चढ आयेगी। ट्रकें निकल जाती थी... ...आतीं थी टैक्सियाँ...और फिर निकल जाती थीं......और...

"तुम कवि भी हो नकुल ?" आभा ने मानो व्यग्य से पूछा। आप से तुम और नकुल जी से मात्र नकुल ! यह तो खूब रहा। प्यार की नयी अदा है, कौशल है। नकुल मन ही मन हँसा, "काफी होशियार हो गयी है आभा घाट घाट का पानी पी कर।"

और नकुल देख रहा है—विडस्क्रीन पर रोशनी के कसीदे बन बन कर मिट रहे हैं ! उसको लगता है आभा का मन इस विडस्क्रीन की तरह है लासिका ज्योति उसमे आती है, जाती है—अनन्त रोगो का लास्य है किन्तु उपहास से उसे अस्वीकार करने की चेष्टा की जा रही है।

"आभा तुम हँसती हो, रोती हो, जैसे इस हास-रोदन में छिप जाना चाहती हो।"

"ओफ़्फ़ो ! सायकालोजिस्ट ! बात को जड़ से पकड़ लिया। भई, मानव मन का बहुत ज्ञान है तुम्हें।"

और मोटर चल रही है। सड़क है जो ऊपर चढ़ी चली आना

चाहती है, पर हार कर गिर पड़ती है, पराजित हो जाती है। इस सड़क को नकुल गति मे लहराता देख रहा है, क्योंकि आभा गति के विन्यास मे अपनी स्थिति को चीन्हने देना नही चाहती !

तो आज आभा अपना समस्त आक्रोश, आक्रमण-चेतना इस मोटर के माध्यम से व्यक्त कर डालेगी क्या ? आज क्या अपनी पराजय को परोक्ष रूप से उसे स्वीकार ही कर लेना है ! क्यो नहीं एक और प्रयास करतीं तुम ?

और प्रयास के पीछे जो एक निष्ठा, एक विश्वास चाहिए वही तुम्हें चाहिए न ! मैं दूँगा तुम्हे वह ! मेरे कन्धे पर हाथ रख कर तुम ऊपर चढ सकती हो आभा। आज तुमने अनन्त क्षितिजो की स्वर्ण अर्गलाएँ खोल दी हैं। मेरे शैशव के समस्त सूर्योदय निचोड़ कर एक क्षण में भर दिए हैं। जीवन मुकुर पर अलक्रुतियाँ पकड़-पकड़ कर छोड़ दी हैं। और नकुल को लग रहा है जैसे कसौटी चिटख रही है। परख अपूर्ण ही रह जायेगी।

"आभा मेरे और अपने बीच व्यंग्य की कृत्रिम दीवार मत खड़ी करो ! दीवारो को तोड दो आभा ! जीवन के निकटतम पातालों के उपवन तुमने अपने यौवन रक्त से सीच डाले हैं ! अब पृथ्वी पर पुनः जन्म लो।"

"पुनर्जन्म की फिलासफी शुरू कर दी यह तो तुमने ! आकाश और पाताल को बाँधने लगे। अच्छी बात नही है नकुल ! तुम भी मुझे अपनी गम्भीर बुद्धि से धोखा देना चाहते हो !"

"गम्भीर बुद्धि !" और नकुल हँस पड़ा—"बुद्धि तो है ही नहीं आभा ! बुद्धि होती तो मैं यहाँ ऐसा होता !"

"क्या होते फिर ?" आभा ने पुनः व्यंग्य किया। सामने से एक आदमी जा रहा था। आभा निरन्तर हार्न बजाती रही। जब मोटर बिलकुल पास आ गई, तब हटा वह।

"बिचारा मालूम होता है मरना चाहता है ?" आभा जी खोल कर हँसी। लगता है मानो अब आभा पारा बन जायेगी, पकड़ में नहीं आयेगी। मगर नकुल उसी पारे को ग्रहण करके उसी को अपने माप का माध्यम क्यों न बना ले। मैं गिरना चाहता हूँ। इतनी बुरी तरह गिरना चाहता हूँ कि हाथ-मुँह टूट जाये। पतन के समान कोई भोग नहीं। और भोग से मैं सदा वंचित रहा हूँ।

"आभा, मुझे अपने यूरोप के टूअर के बारे मे कुछ बताओ ना ?"

"क्या ?"

"यही कि कैसे इन्वाय किया तुमने वहाँ ?"

"अब सोचती हूँ तो लगता है कि इन्वाय तो सदा दूसरे करते हैं। मैं तो केवल साधन हूँ।"

"यूरोप मे भी यही हुआ क्या ?"

"और क्या होता ! पुरुष सब जगह एक ही से हैं। एक ही डायलॉग सुनने को मिला। दिल्ली से रोम तक—'तुमने मेरे जीवन मे आमूल क्रान्ति पैदा कर दी आभा ! मैं खो गया था, भटक गया था, तुमने मुझे मार्ग दिखाया। कितनी अच्छी हो तुम ! भगवान ने तुम्हे जैसे मेरा उद्धार करने को ही भेजा था।" और आभा रुककर बोली, "जहाँ गयी पतित-पावन बनकर ! बहुत पुण्य कमाया है मैंने !" और आभा पुनः हँस पड़ी। नकुल उस हँसी की आँच मे मोम की तरह पिघल रहा है। कसौटी का नाश हो गया है ! परख समाप्त हो गयी है ! नकुल सँभलो ! तुम्हारा पार्थक्य टूट रहा है। दया और करुणा की राक्षसी प्रवृत्तियाँ मुँह बाये तुम्हारी ओर लपक रही है। आये हो तुम पाने, पर खो रहे हो। जीवन मे अनन्त बार खोकर अब पाने का सकल्प लेकर आये हो। प्रमाणित करने आये हो कि दिलीपकुमार वाचू से तुम श्रेष्ठ हो !

और कार जा रही है।

जिन्दगी के पहिये दौडे चले जा रहे हैं। आगे पीछे, दायें-बायें सर्वत्र शून्य की नीलिमा का प्रसार है। ठूँठ है, पेड़ो के सूखे-सुखाये ककाल हैं और अन्धे कुएँ है कि जिनमे पानी कभी पैदा नही हुआ, जिन्हे खोदते ही खोदते मजदूर उसमे गिर कर मर गये—ऐसी ही व्यर्थता है। पहाड़ियों का कलेजा यहाँ बैठा जा रहा है। फरेब अजगर की तरह यहाँ आग उगल रहा है !

बच्चो की किताबो वाली तस्वीरो सी सडक है कि एक मस्जिद भी खड़ी है उस पर—किसी मानिनी सी, जो अपने हाव भावो से अपने वृद्धत्व को धोखा देना चाहती है। मगर धोखा कैसा और किसे ? लोग आदत के मुताबिक पूजा भी करते हैं . .

"क्यों फिलॉसफर ! फिर कोई थ्योरी बनाने लगे क्या ?" आभा मौन

तोड़ेगी। जो कहोगे, वह तोड़ेगी। उसे किसी भी रूप में सक्रिय रहना है। सक्रिय का अर्थ है आभा के लिए वाचाल!

"थ्योरी क्या आभा! मैं सोच रहा हूँ... ." और नकुल जैसे कुछ कहते कहते चुप हो गया। जैसे नदी के मुहाने पर बाँध बाँध दिया!

"क्या सोच रहे हो?"

"एक जमाने मे तुम कितनी अच्छी थीं। लगता था कि जैसे जीवन में बहुत कुछ है जो तुम कर लोगी और अन्य जनो की श्रद्धा प्राप्त करोगी।"

"क्या प्राप्त करोगी?" आभा ने पूछा! मोटर और तेज हो गयी थी। नकुल के स्वर को हवाओ ने उड़ा दिया था!

"श्रद्धा!" नकुल ने यांत्रिक रूप से शब्द दोहरा दिया।

"श्रद्धा?—वह क्यो प्राप्त करनी होती है नकुल? उसकी ज़रूरत कहाँ पड़ती है?"

सडक लम्बी लम्बी होती चली गयी है—बस स्टैंड है और फिर थोड़ा आगे चल कर एक सिनेमा हाउस है कि आभा इस सब को देखने की जरूरत नहीं महसूस करती। उसे आगे ही आगे देखते जाना है। बच्चो जैसा कौतुक है कि देखे आगे क्या आता है! धुएँ की कड़वाहट से मुँह न बिगडे और हाथ तापने को आग तैयार हो जाये! किसी चाँदी के बैल के उखडे हुए सीग का सा विकृत चन्द्रमा ऐंठ गया है।

हवा के झकोरे ठण्डे और मासूम हैं। चाँद की हँसी में चालाकी जरूर है और आभा के मुख पर सकल्प है कि जो सामने आयेगा, आये—हम देख लेंगे!

●

बादलों के उधर और इधर

अनन्तकुमार पाषाण

बादलों के पार हवाओं में डूबती
किन्नरों की अधेड़ स्त्रियाँ रो रही हैं.
भगवान ने अवतार लेने से इंकार कर दिया है।

आदमी को अब और भी सहारे है,
चप्पू हैं, नाव है, हवाएं है,
खिवय्या की बात तो वह केवल
नय्या से तुक भर मिलाने को
कविता मे कहता है !

वह अपने बाजू उछालेगा,
थक गया तो हँसेगा,
किसी प्रेयसि के नाम
मरने के ज़रा पूर्व कोई सन्देश भेजेगा !

बादलों के पार
वीणा पर मुख लटकाये नारद प्रशान्त है,
केवल भगवान कृष्ण
मंद-मंद डूबे रहस्य में मुस्काते लगते है।

उन्हें याद है अब भी
गन्धोच्छल पुष्प-विमल
प्यारा भाण्डीर-वन, उन्हे याद है अब भी
वृन्दावन !

दारुक चुपचाप वहाँ खड़े हैं
जहाँ अश्व भी मानों सपनों में खोये से

अड़े हैं। शान्त-शान्त-शान्त है —
केवल उन किन्नरों की उ न स्त्रियों का
गूँज रहा है रोदन !
पश्चिम के पीले—से पथराये सिंधु पर
चौड़ी चट्टान के
सीने पर सिर रख कर
एक बलवान युवक
कह रहा है रो रो कर

"बल से यदि गर्व हो, बल का सहारा हो !
धन से यदि मद आये, मान बहुत प्यारा हो !
तो मै इस क्षण निर्बल हो जाऊ,
धन से चिर-वंचित यह जीवन प्रभु, हो जाये !
रूप नहीं चाहिये, प्रेम नहीं चाहिये,
साँपो-सी मालाएँ ग्रीवा मे यश की यदि
डसने मुझको आयें
अपने पद पद्मों से कुचल उन्हे देना तुम
मेरी सब वासना मिलकर हो जाय एक
मात्र एक तुममें ही !"

प्रेमियों की टोलियाँ उसे देखती निकलीं
प्रेमी फीके पड़े, तरुणियाँ सोच चलीं—
"अहा, संगमर्मर की मूरत सा फरिश्ता
काश प्रणय मेरा ले, मुझको देता प्रणय !"

और भी भीड़भाड़ करती सी छेड़छाड़
आयी औ; चली गयी,
केवल समन्दर की थुड़ड़ थुड़ड़ शेष रही !

फिर कुछ साधू आये, उसे देख ठिठक गये,
बोले—"यह ज्योतिदूत निर्विकल्प का निश्चय
सुन्दर अधिकारी है !"

युवक रहा अविचल पर, चिन्तन-रत लीन सुघर,

दिन बीता, रात झुकी—नीरव पथ हो गये,
केवल समन्दर की थुड़ड़ थुड़ड़ शेष रही !
किन्नरों की स्त्रियाँ रोती ही मगर रहीं,
नारद का म्लान मुख वीणा पर टिका रहा,
दारुक भी था उदास,
लेकिन भगवान ने कुछ न कहा,
कुछ न कहा !

साँझ के धुँधलके मे
एक रुद्ध गली मे
लालटेन के प्रकाश में लेटी भारी-सी
भोथरी अधेड़ एक
वेश्या विसूर उठी—
'त्यागने के योग्य नहीं
मेरे कुछ पास है,
भूख की विवशता और
मिटता इतिहास है !
हे प्रभु, मन मे पर
अभी विश्वास है—
जिसने पुकारा है उसको उबारा है
पतितो को तुम्हें छोड़
किसका सहारा है !'

और फिर एक बार सन्ध्या के दृग काँपे
होठो ही होठों मे प्रभु बोले—
'त्याग का भी सहारा इसको अप्राप्य है
दारुक प्रबन्ध हो पृथ्वी पर चलने का !'
किन्नरों की स्त्रियाँ गा उठीं,
नारद की वीणा झंकार उठी,
वह वृद्ध वेश्या भगवन्मय हो चली,
लोगों ने कहा—"खूब !
सौ चूहे खा कर क्या हज की तयारी है !!"

श्रद्धा : एक चमत्कार

करुणा : एक नक़ाब

दो कविताएं, एक नाटक

●

लक्ष्मीकांत वर्मा

ईश्वर की मृत्यु के बाद
बची केवल एक अवकाश ज्योति आभास छाया।
एक ने उस अवकाश शून्य को श्रद्धा कहकर पूजा।
दूसरे ने करुणा कहकर प्रबुद्ध बनना चाहा। जो
श्रद्धा के पीछे दौड़े उन्होने ईश्वर की मृत्यु का
कारण नही ढूँढा क्योंकि वह ईश्वर से लेकर श्रद्धा
तक को मानवीय स्तर से देखने मे असमर्थ थे। उन्होने श्रद्धा
को निरपेक्ष माना। इसलिये उनकी निरपेक्ष श्रद्धा
केवल चमत्कार बन कर रह गई।

स्टैम्पीड भी उसका लौम हर्षक चमत्कार है।

वे जो निरपेक्षता को मानते थे और आज तक
मानते है उनकी श्रद्धा रक्त-पिपासित मुद्रा मे
भी, उन्हें प्रिय है। उन्होने उस श्रद्धा को मानव
से परे रक्खा। उसके विवेक और स्वाभिमान दोनो
ही की बलि ली। स्टैम्पीड के बाद भी वह
जीवित रखी गई है निरपेक्ष, मूल्यरहित, केवल एक काई सी .

और

वे जो दूसरे थे उन्होंने निरपेक्ष करुणा को
कोढ़ से लदी हुई वेश्या बना कर छोड़ दिया
ताकि मनुष्य उसके गलित अग को देखे,
झूठे मूल्यों के आधार पर करुणा को
झूठे कलेवर दे। आदमी का जहर ऐसा
बना दे कि फिर वह संक्रामक बन जाय
एक प्रदर्शन से स्थिति बन जाय निरीह, आडम्बरमय, झूठी
लिप्सामय ताकि गलत अग छिप सकें .

किन्तु

मिट्टी ने उस श्रद्धा को केवल स्टैम्पीड
ही के रूप मे लिया। मिट्टी को तो
न निरपेक्ष श्रद्धा की निहाई [चाहिये

न स्टैम्पीड की कुचलाहट, उसे तो न गलित अंग
करुणा चाहिये न उसके विकल आडम्बर . उसे
तो चाहिये
केवल
वह खलरी—निर्जीव खलरी
जो अब भी अपने मे कुछ सासे सजो सके,
कुछ ताप संचित कर सके, कुछ ऐसी आच
रख सके जो सापेक्ष हो, जो न पूजा
हो, न निर्वाण और इससे भी अधिक
जो उस रिक्तता मे फौलाद को
भी दूषित कर सके, फौलाद भी गलता
लोहा बन सके, सक्रिय बन सके,
मिट्टी का सोधापन स्वीकार कर
ममता को परिष्कृत कर सके

क्या करे गे उस श्रद्धा को जो केवल चमत्कार हो प्रभु का
क्या करे गे वह करुणा जो केवल स्थितप्रज्ञ का एक
अभिनय हो
चाहिये वह साँस जो आँच को सँजो सके,
मूल्यो को पिरो सके।

●

'स्टैम्पीड' मे
कुंभ के अवसर
की उस घटना
का सकेत है
जिसमे सहस्राधिक
व्यक्ति आधे घण्टे
के अन्दर कुचल
कर मर गये थे।

स्टैम्पीड

●

वे चरण नहीं थे। नतमस्तक श्रद्धा के इस्पाती भाल थे
जो तर्कहीन, अव्यवस्थित संस्कार-रहित होने के नाते
अनभिज्ञ, दुराचारी चरण बन, जाने कितने चरणों के
अंकुरित मस्तक कुचल गये।
वे मात्र भक्त नहीं थे।
अहंकार के अन्धकूप थे जो गंगा की पावन ज्योति से
अन्तःकरण रसस्निग्ध करने आये थे।
किन्तु जो मर गये वे अज्ञानता के शव नहीं थे,
अन्धे कुएँ थे जो तीर्थराज की पुण्य-भूमि पर
गिरे और टूट गये।
वे जो मर गये

व्यवस्था : मलिन वसना द्रौपदी सी खुले केश दंशयुक्त
व्यंग्य सी खड़ी रही, दुशासन को बिन सरोवर वस्त्र उठाते देख—
यह पहाड़ कपड़ों के : लाक्षागृह से
गठरियों के पठार
घाटियों से स्ट्रेचर की बाहें निराधार

आडम्बर : धर्मसंघों के, महामहिम मण्डलेश्वरों के ऊँचे आसन, दिव्यभाल
जैसे गोबडौरे एकत्र हो कर रहे अपनी अपनी बात
बैठे घिनौने, कृत्रिम गोबर की छत पर पहन गैरिक-वसन—
मण्डलाकृत आभूषण, वैभव विषयाक्त।

सहानुभूति धर्म की विमाता सी पुत्रवती होने पर वंचित है वात्सल्य से,
आदमी की मौत सहज, सहजतर घटना है। इनके लिये
धर्म जीवित रहे, आदमी यदि मरता है मर जाने दो—

●

आदमी का ज़हर

एक प्रयोगात्मक ध्वनि-नाट्य

●

लक्ष्मीकांत वर्मा

(शरन का कमरा जिसमें तीन व्यक्ति बैठे हुये हैं कमरा भी साधारण । कुछ बाँस की और काठ की कुर्सियाँ ही हैं कमरे में एक रेडियो है एक किनारे तिपाई पर फोन रक्खा हुआ है. ऐसा लगता है जैसे तीनों व्यक्ति बैठे बैठे ऊब गये हैं।)

कामेश्वर : न जाने कब आयेंगे हजरत ? मीटिंग इसलिये उनके घर पर बुलाई गई थी, लेकिन वाह रे आदमी ! ऐसा गायब हुआ जैसे गधे के सिर से सींग । जैसे हम लोगों को और कुछ काम ही नहीं है । सुनिये नरेन्द्र जी...भई मैं तो बाज आया तुम्हारी पशु-रक्षिणी-समिति से । अगर यही रवैया रहा तो मैं इस्तीफा दे दूँगा । पशु-रक्षिणी-समिति के लिये मैं पशु बनने के लिये तैयार नहीं । बुला लिया घर पर और खुद का पता नहीं !

नरेन्द्र : और घर भी क्या है ! यह काठ की बेडौल कुर्सियाँ .ये गन्दे बच्चे.. यह फूहड़ कमरा । डीसेन्सी तो है ही नहीं उस आदमी मे ! देखा नही है ? ढीला ढाला कुर्ता पहने, मुँह मे पान दबाये, चपुले चटखाता घूमता है । साहित्यकार बनता है। पशु-रक्षिणी-समिति का सयोजक यदि हम लोगो ने न बनाया होता तो कौन पूछता ? था कोई नाम लेवा ?

(फोन की घंटी बजती है)

डा० पाल : हलो...येस ! पशु-रक्षिणी-समिति का आफिस यही है । डा० पाल स्पीकिंग । हलो ! हलो । अच्छा, अच्छा, कोई खास बात नही है । कौन शरन जी ? उन हजरत का क्या ठिकाना ? बड़ा ही गैर ज़िम्मेदार आदमी है । जो आदमी खुद नही समझता उसे कौन समझा सकता है । खैर कोई बात नहीं, थैंक यू ।

कामेश्वर : कौन था पाल साहेब ?

डा० पाल : मि० खन्ना थे। शरन के बारे मे पूछ रहे थे। कहते थे परसो एक किताब के अनुवाद का वादा करके गये थे लेकिन आज तक शकल नहीं दिखलाई पड़ी। एडवान्स भी खा गये हैं।

कामेश्वर : कैसे गैरजिम्मेदार आदमी को पशु-रक्षिणी-समिति का सयोजक चुन लिया है...सारी समिति की कार्यविधि ही घपले मे पड़ी है...

नरेन्द्र : आप ही ने तो उसे सिर चढा रखा है कामेश्वर जी। कुल हाईस्कूल पास, शुद्ध हिन्दी भी तो नहीं आती लेकिन हजरत को मोगालता है कि अंग्रेजी भी उन्हें आती है। उस दिन जॉ पाल सार्त्र का नाम उच्चारण कर रहा था जीन पाल सार्त्र और दावा है...

डा० पाल : दावा है (खीभकर) मैं कहता हूँ मि० नरेन्द्र, दावा है न। फिर परीशानी तुम्हे क्यो होती है ? अभी भी सॅभल जाओ मि० नरेन्द्र। फायदा क्या, जिन्दगी भर स्पेलिग ही उच्चारण करते रह जाओगे !

कामेश्वर : डा० पाल ! यह तुम्हारी कौन सी आदत है जी ! जब कोई ठिकाने की बात करता है तो उलझ जाते हो। मैं तो कहता हूँ जिसे शुद्ध उच्चारण नहीं आता वह साहित्यकार बनने का दावा छोड़ क्यो न दे ?

डा० पाल : जी ! आपको चूँकि फ्रेंच शब्दों का उच्चारण आ गया और नरेन्द्र ने बर्नार्ड शा की सी दाढी रख ली तो बस इसी एक गुण के बल पर आप बुद्धिमान हो गये। पुराने ज़माने मे लोग अपने तोतो को गीता पढा देते थे, लेकिन मैंने तो नहीं सुना कि कोई तोता अर्जुन बन गया हो।

नरेन्द्र : लेकिन डा० पाल

डा० पाल : क्षमा करिये नरेन्द्र जी...मैं रेडियो ही सुनूँगा...आपके व्याख्यान से अच्छा ही होगा वह...

[रेडियो खोलने की आवाज]

रेडियो-ध्वनि—मौसमी खबरें ! पिछले कई दिनों से शहर में आँधी तूफान का समाँ छाया हुआ है यहाँ तक कि आधा शहर ही अन्धकार और पानी मे डूब गया है इस समय तक दस इच बारिश हो चुकी है आदमी तो मुसीबत मे है ही... पशुओ के भी जान के लाले पड़ गये हैं...पशुओं की रक्षा के लिये स्थानीय पशु-रक्षिणी-समिति की एक विशेष बैठक हो रही है. .समिति का कहना है कि वह शीघ्र ही पशुओं की रक्षा की कोई विस्तृत योजना प्रस्तुत करेगी...

खबर है कि एक आदमी ने एक कुत्ते को दाँत काट लिया है। आदमी द्वारा काटे गये कुत्ते ने आध घटे में तीन आदमियों पर हमला किया और तीनो जख्मी हैं !...जिले के अधिकारी उस कुत्ते को पकड़ना चाहते हैं लेकिन उस आदमी की भी तलाश जारी है। आपको आगाह किया जाता है कि उसे पनाह देना अपराध है। शिनाख्त नही मिल रही है। शहर में आतक सा फैला हुआ है ! ..आदमी और कुत्ते दोनों की तलाश है . दोनों ही गायब हैं। खबरें खत्म हुई। यह आपके शहर का रेडियो है। अब आप साज-सगीत का एक रेकार्ड सुनिये !...

नरेन्द्र : क्या ? आदमी ने कुत्ते को काट लिया ! आदमी का जहर !... मैं तो कहता हूँ ऐसे आदमी को शूट कर देना चाहिये...क्यों कामेश्वर जी..

कामेश्वर : लेकिन यह क्या मजाक है कि आदमी और कुत्ते को काटे .. क्यो डा० पाल

डा० पाल : हो सकता है कामेश्वर जी ? यह भी हो सकता है। कुत्तो के काटने से आदमी परीशान हो गया होगा। उसका धीरज टूट गया होगा, उसका सब कुछ खो गया होगा तब, तब मजबूर होकर आदमी ने कुत्ते को काटा होगा।

नरेन्द्र : जो भी हो, चाहे जो तर्क डा० पाल दें या कामेश्वर जी आप कहें, मैं तो कहूँगा अगर आदमी का इतना पतन हो जाय कि वह कुत्तों को काटने लगे, तो जरूरी है कि ऐसे आदमी को खत्म कर दिया जाय।

डा० पाल : खत्म कर दिया जाय ! पर आदमी खत्म नहीं होता कामेश्वर जी इसे आप तो जानते है कि नहीं ?

नरेन्द्र : खूब जानता हूँ । लेकिन नैतिकता न रहने पर आदमी कुत्ते से भी बदतर हो जाता है, कामेश्वर जी ।

डा० पाल : कौन जाने मि० नरेन्द्र हो सकता है आदमी ने कुत्ते को महज अपनी नैतिक रक्षा के लिये ही काटा हो...

नरेन्द्र : ज़रा धीरे बोलिये आप लोग ? यह भीतर से आवाज कैसी आ रही है ? कौन है ? अरे यह क्या बक रहा है ? (अन्दर से आती हुई आवाज़)

पुरुष स्वर : छोड़ो छोड़ दो मुझे... मैं कहता हूँ छोड़ दो यह समाज . यह नैतिकता .. यह, तुम, वह तुम्हारी आकृतियाँ... (सिसकते हुए) मुझे यह परछाइयाँ क्यो घेरे हैं... यह बौनी नन्ही... पगु... अपाहिज परछाइयाँ... मुझे इन से दूर जाने दो... दूर दूर . दूर... बहुत दूर... हट जाओ

कामेश्वर : यह शरन की आवाज तो नही है ! लगता है कोई पागल है, लेकिन यह...

डा० पाल : होगा कोई । इसकी चिन्ता कहाँ तक कीजियेगा कामेश्वर जी ?

कामेश्वर : लेकिन यह आवाज़ तो शरन के घर से आ रही है ।

नरेन्द्र : क्या शरन, शरन लगा रखा है ? शरन और सब कुछ हो सकता है, पागल नही हो सकता .....

कामेश्वर : हो सकता है उसे भी कुत्ते ने काट लिया हो ?

नरेन्द्र : नानसेन्स... मैं कहता हूँ यह सब कुछ नही महज एक वहम है आपका ।

(**मोटर की आवाज़**)

नरेन्द्र : लीजिये अदारकर साहब भी आ गये । आइये ! आइये ! डाक्टर साहब । कहिये खैरियत तो है ? उफ़, आप तो काफी भीग गये हैं ।

डा० अदारकर : कहिये । सयोजक जी गायब हैं न ? मैं पहले से जानता था ? पशु-रक्षिणी-समिति का जनाज़ा दफनाने गये होंगे हज़रत ? अगर आप लोग भी तैयार हों तो

यह किस्सा ही खत्म कर दिया जाय। टेलीफोन काट दीजिये। फाइल्स उठा ले जाईये। काम करना है तो किसी दूसरे के हाथ मे दीजिये। शरन जैसो से कुछ नही हो सकता

कामेश्वर : मेरा ख्याल है . डा० अदारकर।

डा० अदार० : आप का ख्याल ही ख्याल है कामेश्वर जी... मैं कहता हूँ शरन... शरन निहायत निकम्मा आदमी है जो आदमी चौबीस घटे यही कहता रहता है बीबी बीमार है, बच्चे बीमार हैं, पैसे नही हैं...तबियत ठीक नहीं है उसके बूते का यह सब काम नही है... वह निकम्मा रहा है और रहेगा।

डा० पाल : ऐसा क्यो कहते है डाक्टर साहब। अपनी तकलीफ आदमी अपनो ही से तो कहता हैं हम सब भी तो एक परिवार के समान है..

नरेन्द्र : देखिये साहब यह परिवार-वरिवार वाली बात आप अपने ही तक रखिये... यही तो सारे दोष का कारण है।

डा० अदार० : हां जी नरेन्द्र जी बिल्कुल ठीक कहते है। अभी उस दिन शरन मेरे पास आया था बोला २० रु० की सख्त जरूरत है। एक हफ्ते मे दे दूँगा। मुझे भी तरस आ गया। निकाल के दे दिये। एक हफ्ते बाद जब पैसा नही मिला तो फिर मैंने तक़ाज़ा किया।

डा० पाल : आखिर यह भी तो सोचिये वह आदमी बेकार है। किसी काम का सिलसिला नही है। आमदनी का जरिया नही है, जमाना इतना बुरा है।

डा० अदार० : अजी यह सब कहने की बातें होती है पाल साहब। मैं कहता हूँ जब आमदनी नहीं है तो खर्च करने की जरूरत ही क्या है ? जब जमाने की हालत खराब है तो जमाने के साथ चलो। मत करो डाक्टरी दवा। क्या होमियोपैथी की दवा खराब है ? उसी की गोलियाँ खिलाओ ! क्या जरूरत ज्यादा की !

डा० पाल : आदमी की मजबूरी ही उसकी सबसे बड़ी जरूरत होती है डाक्टर साहब।

डा० अदार० : मजबूरी कोई ओढी बिछाई नही जाती पाल साहब। वह हटाई जाती है ! क्यो नरेन्द्र जी।

नरेन्द्र : निकम्मा आदमी मजबूरी क्या हटायेगा उसे तो सिर्फ शिकायत करना आता है।

डा० पाल : हटाइये, मेरा एक सुझाव है। शरन का एक नाटक अभी अभी रेडियो से आयेगा उसके पीछे उसकी आलोचना करने से बेहतर है उस नाटक को ही सुना जाय। अभी तो कोरम भी नही पूरा हुआ है।

डा० अदार० : हॉ.. हॉ क्यो नही चला लो रेडियो. .बिचारे को शादी मे मिला है...तुम फायदा उठा लो...और भाई मैं तो चला ..

कामेश्वर : जाइयेगा कैसे ? बारिश भी ऐसी हो रही है कि लगता है घर जाना मुश्किल होगा ..

नरेन्द्र : और दोनों ही हालत मे होना है, बाहर जाकर या शरन का नाटक सुनकर चलिये जरा नाटक ही सुनें...

(रेडियो-ध्वनि)

अभी आप साज सगीत के अन्तर्गत रेकार्ड सुन रहे थे। यह स्थानीय रेडियो है। लीजिये अब आप हमारे नाटक आयोजन के अन्तर्गत शरन जी का लिखा हुआ यह नाटक सुनिये 'टूटा आदमी'।

(दरवाजा खटखटाने की ध्वनि)

शशि : जाने कहॉ चले गये है ? जानते है आजकल तकाजे वालो का तॉता लगा रहता है, फिर भी आप है कि बस ग़ायब ! आज इस सस्था की मीटिग है। कल गोष्ठी है। फला बीमार है। ढिका के घर शादी है। कितना बर्दाश्त करूँ ? कहॉ तक बर्दाश्त करूँ ?

(दरवाजा खटखटाने की ध्वनि)

शशि : कौन है...बोलते क्यो नही...आधी रात को खट खट लगा रक्खा है . कह तो दिया महिम जी का कुछ ठिकाना नही कब आवे...(**दरवाज़ा खोलते हुये**) अरे ..यह तो आप ही हैं... आज इतनी जल्दी !...मैंने तो तै कर लिया था आज दरवाजा नही खोलूँगी !.

महिम : तुम्हारे तै करने से क्या होता है ? .मेरी क़िस्मत तो तेज़ है,

जानती हो महिम की किस्मत जहाँ और मानों मे खराब है वहाँ इस माने मे तेज है।

शशि : हे भगवान ! कहाँ है इनकी किस्मत, जो तेज होगी ?

महिम : भगवान बिचारे को कोस रही हो ! कोसो, ठीक ही है। भई मैं तो किसी को भी कोसने की स्थिति मे नहीं हूँ ! भगवान ने तो मेरे साथ न्याय ही किया है ! हाँ, अन्याय तुम्हारे साथ हुआ है ! महिम के साथ इस मानी मे कोई अन्याय नही हुआ है।

शशि : आपका मतलब ?

महिम : यही शशि, मेरा भाग्य तो बडा ही अच्छा था। हर हालत मे अच्छा था जो तुम्हारी जैसी पत्नी मिल गई। रही तुम्हारी किस्मत, वह जरूर ही खराब रही होगी, नही तो मुझ जैसा पति तुम्हे क्यो मिलता।

शशि : फिर वही बातें शुरू कर दी। यह सब आप अपनी उसी चंडाल चौकड़ी को सुनाया कीजिये जो आपको मन से न चाहते हुये भी चाहने का अभिनय करते हैं। मुँह पर तारीफ करते हैं पीठ पीछे जाने क्या क्या कहते है।

महिम : अच्छा तो यह बात है। जाने दो शशि। वह मुझे बेवकूफ समझते हैं तो समझने दो उन्हे ? हम लोगो को दुनिया को बेवकूफ समझना चाहिये। लाओ तो लुगी कहाँ है। कपडे बदल लूँ।

शशि : लुगी नही है।

महिम : क्यो, क्या हो गई ?

शशि : बन्दर उठा ले गया। चिथडे चिथडे करके रख गया है।

महिम : अच्छा खैर तौलिया तो ले आओ।

शशि : खूब बात करते हैं आप। तौलिया घर मे कहाँ है ? कुछ पता है ? आज छः महीने से तौलिया घर मे नही है।

महिम : खैर मानता हूँ। अच्छा अपनी कोई साडी ही दे दो।

शशि : बस यही है जो पहने हूँ। लेखक की पत्नी हूँ न, इससे ज्यादा जरूरत क्या है।

महिम : ठीक ही तो है शशि। खैर यह पाजामा ही पहन कर सो

जाऊँगा। कल सुबह रामेश्वर ही के यहाँ तो जाना है। हाँ कोई खत तो नहीं आया था ?

शशि : हाँ उन्ही डाक्टर साहेब का है। लिखा है मैं आपको खान्दानी शरीफ समझता हूँ। यही समझ कर उस दिन बीस रुपये दिये थे। तीन खत छोड चुका हूँ लेकिन आपने कोई जवाब नहीं दिया है। वायदे करते जाते हैं पर पैसा देने का नाम नहीं लेते। सच कहता हूँ अगर इस खत के बाद भी रुपया नहीं मिला तो कानूनी कारवाई करूँगा।

शशि : मैं कहती हूँ क्यो लेते हो रुपये ?

महिम : तुम बीमार थी। बच्चे बीमार थे। क्या करता शशि ?

शशि : तो सुन लो मैं कहे देती हूँ। बच्चे अगर मरते हो तो मर जाने दो। मेरी लाश के लिये अगर कफन न मिले तो उधार लेकर कफन देने की कोशिश मत करो लेकिन मैं सच कहती हूँ यह बाते न तुम खुद सुनो और न मुझे सुनाओ।

(सिसकने की आवाज़)

महिम : शशि शशि...कितनी कमजोर हो तुम शशि ? किसी के कहने से मैं नीच खान्दान का नही हो जाऊगा।...फिर ये सब तो अपने शुभचिन्तक हैं। इनकी बात का क्या बुरा मानना।

शशि : शुभचिन्तक हे। आप दुनिया को दुनिया रूप मे क्यो नहीं देखते। क्यो नहीं समझने कि दुनिया दुनिया है। मैं सच कहती हूँ शरन इन शुभचिन्तको से अगर दुनिया को छुटकारा मिल जाय तो दुनिया सुधर जाय। ये शुभचिन्तक बडे खतरनाक होते हैं।

महिम : बन्द करो यह बाते शशि। मेरा जी घबरा रहा है। बची खुची आस्था तो शेष रहने दो। इसे तोडने की कोशिश मत करो इसके टूटते ही मैं पागल हो जाऊँगा। बिल्कुल पागल।

(सहसा रेडियो बन्द हो जाता .. बारिश और तूफान की ध्वनियाँ गूंजने लगती हैं)

डा० पाल : क्या बात है ? आ.. आप कैप्टन भरद्वाज जी ऐसे आ गये कि पता ही नहीं चला रेडियो क्यो एकदम से बन्द हो गया ?

डा० अदार० : ह... ह... ह .. बन्द हो गया तो बन्द हो जाने दो।

अशिक्षित लोगो की बकवास है। अपनी ही आत्मकथा लिखी है। फिलासफी बूझना चाहते हैं। गबन को आदर्श बनाना चाहते हैं। ठगी और बेईमानी को भावुकता में छिपाना चाहते हैं। शरन स्वय जैसा है वैसा ही पात्र भी बनाता है। मैं कहता हूँ क्या अन्तर है शरन मे और इस नाटक के महिम मे।

नरेन्द्र : कमबख्त नाटक लिखने चले हैं। ...नाटक का टेकनीक तक तो मालूम नहीं। दो पात्र इतना देर से बक बक बक बक लगाये है, बीच मे कोई घटना ही नहीं घटती। ऐक्शन तो है ही नहीं सिर्फ डाइलॉग पर नाटक चलाना चाहते ह। यह महिम नाम का पात्र बिल्कुल शरन का अवतार है अवतार

कामेश्वर : जाने क्या लिखता है यह शख्स। नाटक जीवन की घटना से लेना चाहिये। यह कोई घटना है ? यह तो मानसिक विक्षिप्तता, पागलपन है !

डा० पाल : यही तो नाटक है...

डा० अदार० : चुप रहो जी। माना कि तुम नाटक लिखते हो पर तुम्हें भी नाटक लिखना नही आता। तुम्हारी भाषा मे तो इतनी गलतियाँ होती है कि। फिर भी कोई आदर्श कोई ऊँची बात तो नाटक मे कहनी ही चाहिये न. यह कोई नाटक. .

नरेन्द्र : मैं तो कहता हूँ अदारकर साहब नाटक और आत्मकथ्य मे अन्तर है। यह जो कुछ आपने सुना यह नाटक नही आत्म कथा है

भरद्वाज : आत्मकथ्य... यानो सेल्फ कन्फेशन उहूँ ...हूँ .. देखिये यह सब नाटक मे नही होना चाहिये। यह कन्फेशन हमेशा किसी मजिस्ट्रेट के सामने होने चाहिये।

(**फोन की घंटी बजती है**)

नरेन्द्र : हलो... ओह... कल्पना जी शरन जी को पूछ रही हैं . बड़ी देर से बैठे हुये हम लोग तो उन्ही का इन्तजार कर रहे . . जी घर मे... अजी कई बार कोशिश की... कोई बोल ही नही रहा। कभी कभी कोई पागल की तरह चीखता चिल्लाता है। लगता है मिसेज़ शरन घर मे हैं। लेकिन आप

तो जानती हैं   शायद वह पर्दा करती हैं . जी ?... क्या नफरत   नफ़रत करती हैं ?.. एक ही बात हुई मैंने शरीफाना अन्दाज मे कहा था... खैर... हाँ... हाँ... आइये न... आपके बिना तो कोरम ही नही पूरा होगा..

(एक बच्चे का प्रवेश)

डा० अदार० : लीजिये साहब घर सन्नाटे मे नही है...यह देखिये शरन जी के जॉनशीन आ गये। यही तो है शरन जी का भविष्य।

नरेन्द्र : बाप से भी बढकर बेटा। वही . वही चाल... वही ढाल। पैन्ट मे बटन नदारद। कमीज की बाहें खुली। अस्तीने फटी। क्यो जी कहाँ गये तुम्हारे पापा...

बालक : जी... पापा तो सुबह के बाहर गये हैं अभी आये नहीं। कहा था आफिस खोल देना।

नरेन्द्र : अच्छा तो यह बात है। जरा इधर तो आओ। तुम्हारे पास कितनी कमीजे है ?

बालक : जी मुझे नही मालूम... माता जी जानती है।

डा० अदार० : और तुम्हारी माता जी कहाँ हैं   ...

बालक : जी घर मे है.. बीमार के पास।

नरेन्द्र : अच्छा बेटे, तुम बडे होगे तो क्या करोगे ?

कामे० · यह क्या है जी नरेन्द्र ? तुम लोग इस बच्चे को क्यो परीशान करते हो ? जो कहना हो शरन को कहो !

नरेन्द्र · बडी ममता है आपकी बच्चो के प्रति...जानते भी हैं कामेश्वर जी, मिसेज कल्पना ने आज के विमेंस कालम मे क्या लिखा है ?

कामे० : कुछ भी लिखा हो नरेन्द्र ! तुम्हे अपने विचार से मतलब होना चाहिये। कल्पना जी के विचार लेकर तुम क्या करोगे ?

नरे० : वाह ! हम स्कालर हैं। हमे हर एक का विचार जानना चाहिये। और फिर कल्पना जी ! ..आह   ह...ह . क्या कहने हैं ? क्या विचार हैं उनके ?   .मैं कहता हू बच्चे काफी हद तक एक न्यूसेन्स होते हैं ..कहिये ? नही होते...?

डा० अदा० : न्यूसेंस ? अजी वह तो कल्पना जी की बहस है। मेरे तो एक दर्जन बच्चे हैं। मैं तो कभी परवाह ही नहीं करता। रही

शरन की बात, ..खाली आदमी करेगा क्या ?...उसके बच्चे भी विक्षिप्त न्यूराटिक और न्यूसेस होगे ही ?

भारद्वाज : न्यूसेस ? डा० अदारकर! न्यूसेस नसल तो फ़ौरन बन्द कर देनी चाहिये ..राष्ट्र को नौजवानों की जरूरत है, नौजवानों की ! न्यूसेन्स पैदा हाकर क्या होगे ?

डा० पाल : वाह वाह कप्तान साहब वाह ! कहे जाईये आप लोग महान है। एकेडिमेशियन हैं। माडर्न हैं। लेकिन शायद...आदमी नही है।

नरेन्द्र० : ओह . फैन्टैस्टिक नानसेन्स !

डा० पाल : मै कहता हूँ आप लोगो के पास कुछ और विषय नही है . क्या सारा बहस शरन ही को लेकर होगा या

नरेन्द्र : इसस ज्यादा दिलचस्प विषय और कहाँ मिलेगा ? फियूडल और इ डस्ट्रियल एज के काम्पलेक्सेज का आदमी है शरन।.. जू में रखने लायक है जू मे

कामे० : तुम कुछ कम बोला करो मि० नरेन्द्र जितना कुछ पढा है उसे हर जगह उगलना क्यो चाहते हो नही हजम कर पाते या बदहजमी होती है तो भाई पढना बन्द कर दो लेकिन यह क्या है

(**भीतर से फिर आवाज़ आती है।**)

पुरुष स्वर : खोल दो ..खाल दो मेरे ये बन्धन गे जञ्जीरे...ये हथ-कडियाँ.. ये घूरती हुई आँखे यह सब मुझ से नही सहा जाता...मेरी दुशमनी आदमी से नही है...नहीं है...कोई तो सुनो...मैं प्यासा हूँ .मुझे प्यास लगी है...लेकिन तुम मुझे पानी क्यो नही देते क्यो नहीं मेरी बेचैनी समझते...क्यो नही मेरी तकलीफ समझते...समझते...स ..मझते...

नरेन्द्र : यह क्या हो रहा है घर मे कहा से चुन चुन के लोग इकट्ठा किये है...घर है या पागलखाना ?

भरद्वाज : ओह ! यह बात है। मैं जानता हूँ क्या है। जरा क्षमा कीजियेगा मैं अभी आया ! यह शरन तो बहुत खतरनाक आदमी लगता है।

(**बैकग्राउन्ड से**)

(**बैठे हुये गले से**) नायक सिंह...नायक सिंह (**ताली बजाता है**) ओ नायक सिंह...

नायक सिंह : जी हुजूर !

भरद्वाज : सिपाही तैयार हैं (**कान में कनफुस्की के स्वर में**). चुपचाप इस घर को घेर लो। कड़ा पहरा रखो।

कामे० : क्या बात है कप्तान साहेब ? आप जरूरत से ज्यादा परीशान हैं।

भरद्वाज : जी...(**कुछ छिपाते हुए**) . कोई बात नहीं, कोई बात नहीं। ...मि० पाल रेडियो तो आन कीजिये। जरा देखिये तो शहर की क्या हालत है। बारिश तो ऐसी है जैसे प्रलय की।

डा० पाल : रेडियो बन्द नहीं है कप्तान साहब लेकिन...

(**रेडियो ध्वनि**)

यह आपके शहर का रेडियो है...हमारा ट्रान्समिटर मौसम की खराबी से बद हो गया था...आँधी तूफान इतने जोर का चल रहा है कि कुछ भी ठिकाना नहीं कब क्या हो जाय। हम आपको शरन जी का नाटक 'टूटा आदमी' सुना रहे थे। आगे का अंश सुनिये

शशि : मैं कहती हूँ आखिर अपने मित्र प्रकाशक मि० खन्ना से कहते क्यों नहीं आज साल भर हो गये। अनुवाद के साथ दो किताबें और भी पड़ी हैं। आखिर...

महिम : प्रकाशक नहीं वह हमारे मित्र है शशि !

शशि : मित्र ! मित्र ! सभी तो आपके मित्र हैं। दो चार से दुश्मनी भी कीजिये। तो शायद कुछ काम चले।

महिम : बकवास से फायदा क्या ? चलो अपना काम करो। हमारा तुम्हारा झगड़ना ठीक नहीं !

शशि : ठीक है ! तो सुनिये...जैसे राजनीति से इस्तीफा देकर अलग हो गये हैं उसी तरह साहित्य से भी इस्तीफा दे दीजिये। अब मैं थक गई हूँ। जब तक बात अपने तक थी ठीक था। अब इसका असर बच्चों पर पड़ रहा है। यदि यह केवल अभाव में पलेंगे तो इनमे विकृतियाँ आयेंगी और .और

महिम : इस्तीफ़ा दे दूँ ! साहित्य का क्षेत्र छोड़ दूँ ! फिर बचेगा क्या ? क्या शेष रहेगा ? क्या आधार होगा ? किसके बूते पर जीऊँगा शशि ? इसे भी सोचा है ? कभी इस पर भी ध्यान दिया है ?

शशि : बहुत कुछ बचेगा . तुम्हारा पिता का रूप जीवन...पति का स्नेह. ....भरापुरा घर...अभावो से मुक्त सतान स्वस्थ जीवन..

महिम : और इसके अतिरिक्त...इसके अतिरिक्त भी कुछ बचेगा...

शशि : और क्या ? साहित्यकार से बड़ा है यह सब कुछ। अपनी अहम्मन्यता मे डूब कर साहित्यकार साधारण जीवन नही जी पाता वह असाधारण की खोज मे अपने को तोड़ डालता है।

महिम : नही नही ऐसा नही हो सकता शशि ! साहित्य मेरी आत्मोपलब्धि है वह मेरी अहम्मन्यता नही है ! वह मेरा प्रमाद नही है। वह मेरा अहकार नही है। नही है...नही है...

शशि : वह आपका जो कुछ भी हो। जीवन नही है। हमारे जीवन मे और उसमे विरोध है। कहा इतनी बडी खाई है कि उसमे हमारा सब कुछ बिखर जाता है। जो आपका साहित्यकार का क्षेत्र है वह शायद इतना सकीर्ण है कि उसमे मैं नही आ सकता। यह परिवार नही आ सकता। यह घर नही आ सकता।

महिम : यह सब उसमे ही है शशि। मेरी पीडा केवल मुझ तक ही नही है वह सब की हो जाती है वे सभी मेरी पीड़ा मे भाग लेते हैं जो मेरी रचना पढते है। वे सभी मेरे जीवन मे भाग लेते हैं जो मेरा साहित्य पढते हैं। मेरा परिवार इतना बड़ा है शशि कि वह इस घर मे नही आ पाता। यह घर छोटा है। इतना छोटा कि .. .

शशि : घर का छोटा होना ही तो बुरा है। बहुत बुरा है। छोटे घरो मे मस्तक झुका कर चलने वाला परिवार होता है। चौखट के जखमो से मस्तक पक जाते हैं। कभी कभी दिमाग़ भी खराब हो जाता है।

(शशि के प्रस्थान की ध्वनि)

महिम : छोटा घर ..छोटा परिवार.. मस्तक झुका कर चलने वाली

नसल . चौखट के जखमो से पका हुआ मस्तक .नहीं ..नहीं ऐसा नही होगा (**छोटे बच्चे के रोने की आवाज, बच्चे को गोद में लेता हुआ**) नही . नहीं तुम्हे चीखने नहीं दूंगा...तुम्हे बौना नहीं बनने दूंगा (**बच्चा चीखना बन्द कर देता है**) लेकिन करूँगा क्या ?

शशि : क्या हो गया है तुम्हे।

महिम : ऐ ..यह तुम पूछती हो...यही तो दुःख है शशि...कुछ हो जो नही रहा है...कुछ होना चाहिये न

शशि : मैं कहती हूँ क्या हो गया है आप को ? कुछ भी तो नहीं कहा मैंने। कह भी क्या सकती हूँ ? जाने क्यो इतनी बात आज मेरे मुँह से निकल गई। लेकिन मै भी तो मजबूर थी। आशाये जब टूटती हैं तो विश्वास भी बिखर जाता है। धैर्य अपना साहस छोड़ देता है।

महिम : साहस ? तुम्हारा साहस यदि टूट जायगा शशि तो मेरी आधी शक्ति ही टूट जायगी। शशि मुझ से मेरे सपने छीन लो। आग लगा दो उनमे। उनकी ध्वस्त राख पर हमे नये सिरे से ले चलो। समझ लो में निष्क्रिय हूँ। अकर्मण्य हूँ।

शशि : लेकिन यह तुम कह क्या रहे हो। मैं तुम्हारे सपने नही छीनना चाहती। तुम्हारे शुभचिन्तक मुझसे भी बडे है। वह ससार की बाते सोचते हैं। विश्व-कल्याण की बातें सोचते हैं। वह अधिक बुद्धिमान हैं। मैं छोटी हू। मेरे सपने छोटे है, बहुत छोटे उतने ही छोटे जितनी मैं स्वयम् हूँ।

महिम : नही शशि तुम्हारे छोटे छोटे सपनो का बड़ा महत्व है क्योकि उनके छोटे चौखटे नही है। सर मे जखम पैदा करने वाली संभावनाये नही हैं। दिमाग को पकाने वाली असमर्थता नहीं है, उसमे अपूर्णता की आग नही है।. महत्वाकांक्षा की जलती विभीषका नही है। उसमे वह लघुता है जो पूर्ण है अपने ही मे भरी पूरी है। वह बड़प्पन नहीं है जो सदैव अधूरा ही रहता है।

(रेडियो सहसा बन्द हो जाता है—
रेडियो से फिर ध्वनि आती है ·)

रेडियो : हम माफी चाहते हैं...जिस कुत्ते को आज सुबह एक पागल और विक्षिप्त आदमी ने काटा था आज दोपहर को उसी कुत्ते ने शहर के बहुत बडे समाज सेवी 'सेवा समाज' के प्रधान श्री अभिलाषचन्द्र को काट लिया था। अभी अभी हमे उनके देहावसान का समाचार मिला है हम अपना प्रोग्राम १५ मिनट के लिये स्थगित करते हैं.. और इस बीच दिवगत आत्मा की शान्ति के लिये आप के सामने गीता पाठ होगा ..

(गीता का श्लोक : बैकग्राउन्ड में लगातार गीता ध्वनि)

नरेन्द्र : बन्द भी करो यार अजीब लोग है.. गीता से क्या होगा यह मौत का प्रोग्राम मुझे नही रुचता.

कामे० : मौत का प्रोग्राम और गीता. ? नरेन्द्र ने ठीक ही कहा...बन्द भी करो यह गीता वीता बहुत सुन चुका।

नरेन्द्र : और गीता भी उसके लिये जो तमाम जिन्दगी समाजसेवी रहने के बाद भी समाज का मतलब नही जान सका होगा ..समाज की उत्पत्ति, विकास, पतन, परिवर्तन इसके बारे मे अभिलाष चन्द्र क्या जानेगे

कामे० : यह तो तुम्हारा ऐकेडिमिक विवाद है नरेन्द्र...लेकिन मैं समझता हूँ एकेडिमेशियन न होते हुये भी आदमी आदमी के काम आ सकता है

डा० पाल : जी क्या खूब कहा आपने कामेश्वर जी...आदमी आदमी के काम आये इसके लिये जरूरी है कि आदमी आदमी को जाने आदमी बिना आदमी की सवेदना जाने उसका सेवक बने यह मेरी समझ मे नही आता...

नरेन्द्र : मै तो कहता हूँ बिना ऐकेडिमिक ज्ञान के कोई साइन्टिफिक ज्ञान नही आ सकता और बिना साइन्टिफिक ज्ञान के आदमी आदमी की सवेदना जान ही नही सकता .

डा० अदार० : आ गये न आप लोग दिमागी फितूर पर...देखिये मैं कुछ काम की बातें करना चाहता हूँ। मेरी बात मान लीजिये... शरन जी अब इस समय आपसे नही मिलेगे मैं उनको जानता हूँ उनकी प्रकृति पहचानता हूँ...जब कुल बीस रुपये के लिये वह मुझे इतना नाच नचा सकते हैं तब यह तो कच्चा

चिट्ठा उधेड़ कर बात करने की मीटिंग है...इससे वह हमेशा दामन बचायेंगे इसलिये...

(**बाहर मोटर की आवाज़ सुनाई पड़ती है**)

नरेन्द्र : वह लीजिये मिसेज कल्पना भी आ गईं । लीजिये डाक्टर साहब अब तो मीटिंग का कोरम भी पूरा हो गया जल्दी निर्णय कीजिये। मुझे आज अनन्त के यहाँ डिनर पर जाना है। बारिश की यह हालत है। पर भाई मैं तो अंग्रेज आदमी हूँ। जहाँ वक्त हुआ चला जाऊँगा...

(**मिसेज़ कल्पना का प्रवेश**)

नरेन्द्र : ओह नमस्कार कल्पना जी, आईये, इधर आइये। (**मुग्ध भाव से**)

कामे० : नमस्कार (**आदर सूचक**)

डा० पाल : नमस्कार कल्पना जी **उपेक्षा भाव**)

डा० अदार० : नमस्कार...(**अकड़ के साथ**)

मि० कल्पना : ओह नमस्कार नमस्कार...नमस्कार माफ़ कीजियेगा मुझे बड़ी देरी हो गई। मेरे हसबेंड मि० राम का बड़ा लड़का आया था। जानते हैं सौतेला लड़का ठहरा। कर्टसी मे कुछ न कुछ करना पड़ता है। एक तूफान खड़ा कर दिया उसने। मि० राम को ब्लड प्रेशर की बीमारी है। उत्तेजना से उनकी तकलीफ़ बढ गई। उसी मे देर हो गई।

नरेन्द्र : अब तो ठीक है तबियत ! क्या बताऊँ मुझे यहाँ से सीधे डिनर मे जाना है नहीं तो अभी देख आता। किसी वक्त आऊँगा. .

मि० कल्पना : मैंने सिविल अस्पताल से नर्स बुलवा दी है। वह देख-भाल कर रही है। क्या करें ? पब्लिक लाईफ मे तो इतने इंगेजमेंट्स रहते हैं कि

भारद्वाज : इंगेजमेंट्स ! पब्लिक इन्गेजमेंट्स ! मैडेम, ...पब्लिक मीन्स कामन मैन। और पब्लिक इंगेजमेंट. .

(**सब लोग हँस पड़ते हैं**)

डा० पाल : खूब ! मानता हूँ कप्तान साहेब, क्या सेन्स आव ह्यूमर पाया हैं आपने ! वाह ! वैसे मिसेज कल्पना करतीं भी क्या ! नर्स से

ज़्यादा आराम आप मिस्टर राम को नहीं पहुँचा पातीं। वह तो सिर्फ गँवार बीवियाँ ही कर पाती हैं।

मि० कल्पना : ओह यस! आप ठीक कहते हैं डा० पाल! वह नौकरों की तरह अटेंड करती हैं। मैं क्या बताऊँ मैं तो बैलेंस रखती हूँ। क्या करूँ, रखना पड़ता है। कोई बीमार है ठीक है, दवा कर दो। इससे ज़्यादा कर भी क्या सकते हैं?

नरे० : ठीक तो है आपका कहना मिसेज कल्पना। आप हमेशा बैलेंस मेन्टेन करती हैं। अभी आज ही आपका वह लेख पढा है "चाइल्ड, ए न्यूसेंस"...बड़ा ही अच्छा है...बहुत ही साईन्टिफिक और माडर्न है...

कामे० : मैं थोडा असहमत हूँ .

मि० कल्पना : अच्छा . इट इज ए न्यूज। बच्चे तो कभी कभी न्यूसेन्स ही नही एन्टीसोशल भी साबित होते हैं जैसे मि० राम का बड़ा लड़का! और देखिये वैसे तो हम पशु के प्रति भी उदार हैं।

नरेन्द्र : जी हाँ! आप बिलकुल ठीक कहती हैं। ऐकैडेमेक व्यू यही है।

डा०अदार० : खैर साहब अब तो मीटिंग की कार्रवाई शुरू करनी चाहिये...

(फोन की घन्टी बजती है)

नरेन्द्र : कौन मि० भान जी...जी मैं हूँ नरेन्द्र। कौन शरन जी?... अरे साहब वह मिल जाय तो मुसीबत ही न हल हो जाय। लेकिन घबराइये नही सब ठीक हो जायगा। क्यो पानी में कष्ट करेगे? कल तक वालन्टियर्स जानवरो की रक्षा के लिये तैनात हो जायेंगे। अजी आदमी तो अपनी जान बचा ही लेता है। आप उनकी फिक्र छोडिए। जानवर बिचारे तो बेजबान होते हैं। उनकी रक्षा कीजिये। छोड़िये आदमी की चिन्ता।

डा० पाल : जरा खामोश हो जाइये। रेडियो से खबरें आ रही है।

(रेडियो-ध्वनि)

जैसा कि अभी आपको बताया गया...मौसम बहुत खराब है... सैकड़ो पेड़ शहर मे गिरे पडे हैं...सड़क और रास्ते की सारी स्थितियाँ खराब हैं, Traffic बन्द है...आदमी का आना जाना

बन्द है । रोशनियाँ बुझ गई हैं.. पुराने मकान गिर रहे हैं...नदी की बाढ का गन्दा पानी घरो मे घुसा जा रहा है...डाक्टरो का कहना है इस बाढ, इस पानी और गन्दगी मे बडे जहरीले बैक्टेरिया होते है...डिपथीरिया का रोग फैलता है...सब से पहला अटैक गले पर होता है आदमी की जबान बन्द हो जाती है आदमी घुट घुट कर मर जाता है...आप से प्रार्थना है आप अपनी नालियो से होशियार रहिये ..ताकि पानी घर मे न फैलने पाये बाहर का पानी आँगन मे न आने पाये... आँगन ही घर की जान है...वह गदा हुआ तो रोग फैलेगा फैल कर रहेगा यह आप के शहर का रेडियो है...हमारा ट्रासामटर इस आंधी तूफान की वजह से खराब हो गया था... बडी मुसीबत से ठीक हुआ है शरन जी का ड्रामा जहाँ तक आप सुन चुके हैं उसके आगे से शुरू हो रहा है

महिम : छोटा घर छोटा परिवार . मस्तक झुका कर चलने वाली नसल चौखट के जख्मो से पका हुआ मस्तक और उस मस्तक मे छोटी छोटी बाते...पडोसी के घर की नकल...बाबुओं की रिश्वत साहब को सलाम.. बेहरे की टिप.. इन सब का जितना गहरा सम्बन्ध है ।

शशि : जाने भी दो उन बातो को, उस घडी मेरी कुछ तबियत ही खीझ गई थी मुँह से यह बाते निकल ही गई , गुजरी बात को ढोने से फायदा !

महिम : बात ढोने की बात नहीं है शशि, बात समझने की है । तुम सब को मेरी वजह से तकलीफ है न। काश मे भी साधारण आदमी होता । कितने आराम से रहते । (रुककर) नहीं... नहीं शशि । मैं इस सबको छोड़ूगा, एक रास्ता निकालूँगा ।

शशि : रास्ता कोई नहीं है। रास्ता वही है जिससे तुम चल रहे हो वही ठीक है ।

महिम : लेकिन मैं शायद अब साहित्य नहीं लिख सकता क्योंकि मैं अभावों मे जी रहा हूँ...मैं इन झूठी सामाजिक सेवाओ का जो

अभिनय करता हूँ वह भी व्यर्थ है क्योकि उसमे मेरी पूर्णता नही हैं मैं तिलाजलि दूँगा अपनी समस्त कल्पनाओ को .. साहित्य को रचना को

(**बाहर से आती हुई कुन्डी खटखटाने की आवाज़**)

पहली आवाज : क्या कर रहे हे हज़रत आखिर आज इतनी देर क्यों हो रही है ?

दूसरी आवाज : कौन जाने शीर्षासन कर रहे हो ..

तीसरी आवाज : कोई कविता लिख रहे होगे...

चौथी आवाज : अरे ऐसे लिखाड होते तो .

पाँचवी आवाज : तो शेक्सपियर हो जाते...

संवेत : अभी किससे कम है

(**संवेत हँसी । घृणा तिरस्कार से भरी हुई । भीतर की आवाज़**)

महिम : फिर वही आवाज । फिर वही, व्यग्य ! फिर भी वही ताने !

शशि : तो क्या हुआ ? अभी तक यह ताने सहते आये हैं...और भी सहेगे । इन सब तानो को सार्थक बनाना होगा । सार्थक होके रहेगे—

महिम : शशि क्या इन व्यङ्गो से घृणा नही टपकती.. इन मे अपमान नही झलकता । लेकिन फिर भी मैं इसका विरोध नही करना चाहता क्योंकि ये मेरे अन्तिम विश्वास रहे है—इन्हे मैं छोड़ देना चाहता हूँ—इनमे उलझना नही चाहता—इन्हे काटकर निकल जाना चाहता हूँ ।

शशि : तो फिर इनसे मुँह क्यो छिपाते हो—क्यो नहीं इनका सामना करते—इनका जवाब देते—

महिम : क्योकि ये मेरी कमजोरियो है शशि, बहुत बड़ी कमजोरी—

शशि : तब इन्हे रोकना पडेगा । इनको इनकी सीमाये बतानी होगी ।

महिम : मत सुनो शशि ...इनकी बाते मत सुनो ...यह महज़ बकना जानते है ...इनका कुसूर नही है

शशि : लेकिन मुझे सुनना ही पडेगा आवाज जब घर की चहार दीवारी पार करके आँगन तक गूँजने लगे ...घृणा जब बरसने लगे तब उसे रोकने मे कर्त्तव्य है ! इस घर की मैं मालकिन हूँ ! इसे मैं रोकूँगी !

महिम : नही ! नहीं शशि, इन्हें मत रोको ! मैं फिर कहता हूँ ...ये मेरे अन्तिम विश्वास हैं ! ये मेरी असमर्थता हैं ! मैं इनसे उलझना नही चाहता ! ये मेरे शुभचिन्तक हैं !

(बाहर से)

पहली आवाज : श श ...श .. सुनो सुनो भीतर नाटक का रिहर्सल हो रहा है

दूसरी आवाज : रिहर्सल ? यह क्या कहते हो ! बीबी कर्कशा होगी यह नाटक नही है !

तीसरी आवाज : अरे मियां सही सलामत चलो यह बला यहाँ भी आने वाली है

चौथी आवाज : ह ...ह ह क्या खूब फर्माया जनाब ने . यहाँ क्यो आयेगी ...

पाँचवी आवाज : आपकी अकल नापने ...

संवेत हँसी : ह .. ह ...ह ह

(भीतर से)

महिम : वापस आ जाओ श श ...शशि वापस आ जाओ

(बाहर से)

पहली आवाज : शशि जी ओह श श भाभी ..

दूसरी आवाज : जी, नमस्ते !

तीसरी आवाज : नमस्ते जी !

चौथी आवाज : ओह भाभी जी नमस्ते !

पाँचवी आवाज : आप बोलती क्यो नही ..कुछ तो कहिये .

शशि : और भी कुछ कहिये ! घावो पर इतना नमक छिड़किये कि हम पागल हो जायँ .. जख्मो को कुरेदिये कि खून हो जायँ ! आप मित्र हैं न ? यह तो आपका फर्ज है!

(भीतर से)

शरन : मेरे साहस की परीक्षा मत लो शशि ! वापस आ जाओ ! वापस ।

(लम्बा मौन)

शशि : आप लोग भी चुप हो गये ..कहिये...कहिये न...इतना कहिये कि मेरे अन्धे कूयें से कान आपकी सारी बातें सुन लें । मेरा

धीरज तिलमिला उठे। आप सब शुभ चिन्तक हैं न आशीर्वाद दीजिये। बोलिये लेकिन आप नही बोलेंगे...मैं जानती हूँ आप नही बोल सकते क्योकि आप मे कहीं कायरता भी है... शायद इसी लिये आप खामोश हैं...लेकिन यह अधूरापन बड़ा ही कटु है ..दिल मे गुबार रखना ठीक नहीं. कह डालिये आज जैसा अवसर आपको फिर कभी नही मिलेगा... सच मानिये आप लोगो की खामोशी मुझे खलती है...

पहलीआवाज़ : शशि...भाभा...भा...भा भाभी

शशि : हाँ हाँ आप काँप क्यो रहे हैं। मैं मात्र स्त्री हूँ केवल स्त्री, मुझसे क्या डरना। मैं तो वही हूँ जो किसी उपन्यास कहानी नाटक मे चित्रित होती हूँ। जिसके अग अग के रस के लिये कवि नाटककार उपन्यासकार बनना पड़ता है। फिर आप मुझसे डरते क्यो हैं? ..कह डालिये!

(भीतर से)

महिम : आगे कुछ मत कहना शशि। बिल्कुल नही। आगे कुछ मत कहना। ये सब मेरे शुभ चिन्तक हैं। शुभ चिन्तक...

(बाहर से)

शशि : लेकिन मैं एक अन्तिम वाक्य कहे बिना नहीं रह सकती। मैं कहूँगी क्याकि वह मेरा अधिकार। क्योकि यह आवाजे अपनी सीमा लाँघ कर मेरे आँगन मे गूँज रही हैं।

(भीतर से)

महिम : सारा जहर निचोड़ने का क्या यही अवधि है शशि और...और

(बाहर से)

शशि : और वह यह कि आप सब लोग मेरे घर से चले जाइये। कृपा करके चले जाइये। आप लोगो का घर बहुत बड़ा है लेकिन आप बौने लोग है। मेरा घर बहुत छोटा है...लेकिन...

(शरन भीतर से बाहर आ जाता है)

(सब लोग उठ कर चले जाते है।)

पहली आवाज़ : चलिये खन्ना जी

दूसरी आवाज़ : चलिये...

तीसरी आवाज़ : चलिये साहब

चौथी अवाज : और क्या ..

महिम : उफ्। कितना अकेला हूँ मैं। शशि तुमने मुझे कितना अकेला कर दिया। तुमने अपने घर के चोखटे और छोटे कर दिये। आँगन मे तुमने धूँये के बादल बिखेर दिये। मेरा आधार ही नष्ट कर दिया।

शशि : आधार मनुष्य ढूढ निकालता है। आधार मैं ढूढूँगी विश्वास इनमे नही, आदमो मे मिलेगा...मिलेगा मिलेगा...

(समाप्ति सूचक संगीत और उद्घोषणा)

ड्रामा खत्म हुआ शरन जी का यह नाटक स्थानीय रेडियो स्टेशन से प्रसारित हो रहा था...रात के आठ बज चुके है लीजिए अब मौज सगीत का एक रेकार्ड और सुनिये।

नरेन्द्र : चलो बकवास बद हुई। क्या था इस नाटक मे ? बकवास।

डा० पाल : बकवास भी एक बहुत बड़ा यथार्थ है नरेन्द्र जी...आदमी जब टूटता है...अपना आधार खो चुकता है तब

नरेन्द्र : तब वह काम का नही रह जाता...बकवासी हो जाता है शरन जैसा हो जाता है या यूँ कहे महिम जैसा हो जाता है

डा० अदार० : अपनी कमजोरियो को छिपाने का यह एक बहाना है अपनी कमजोरिया पर मुलम्मा चढाया करता है...हीरो बनना चाहता है।

नरेन्द्र : जब आदमी कही से भी सहानभूति नही पाता तब वह अपने शरीर पर बनावटी जख्म पैदा करके दूसरो की त्रस्त कल्पना से सद्भावना निचोड़ना चाहता है। वही महिम ने किया है, वही शरन करता है!

कामेश्वर : लेकिन नरेन्द्र जी ड्रामा तो कम्प्लीट है। इसमे कमी क्या है ?

नरेन्द्र : कमी! क्या कहते है कामेश्वर जी ? इसमे लैक आफ विजन है।

डा० अदार० और सब से बड़ी चोरी है! मै कहता हूँ साहित्यकार को कौन सा सुर्खाब का पर लगा है ? वह कोई भी अन्य काम क्यों नहीं करता ? सिनेमा के पोस्टर लिखे। दवा बेचने वालो के लटके क्यों नही लिखता ? खासी आमदनी होती है साहेब।

सौ-सौ पेज के जासूसी उपन्यासों के दो-दो सौ रुपये मिलते हैं। साहित्यकार क्यों नहीं लिखता इसे ?

मिसेज़ कल्पना : देखिये बात आफ़ दि ट्रैक जा रही है आप लोग इतने पर्सनल क्यों हो जाते है—मुझे डिस्ट्रिक्ट फ्लड रिलीफ़ कमीटी की एक मीटिंग मे जाना है। १५ मिनिट का समय और है। मीटिंग की कार्रवाई जल्द शुरू कीजिये।

डा० अदार० : मैं तो कभी से कह रहा हूँ। मेरे ख्याल मे एक प्रस्ताव पास करके हम नये आदमी का चुनाव कर लें।

मिसेज़ कल्पना : देखिये प्रोसिडियोर की गल्ती मत कीजिये ! पहले शरन जी के खिलाफ अविश्वास का प्रस्ताव पास कर लीजिये, फिर पशु रक्षिणी समिति के नये सयोजक का प्रश्न उठता है।

कामेश्वर : मेरा ख्याल है श्रीमती कल्पना को ही चुन लीजिये ...

मिसेज़कल्पना : देखिये बात यह है कि मेरे पास वैसे ही पांच कुत्ते हैं। बुल डाग है, एक हाउन्ड है, एक एलमेशियन है एकपहाड़ी कुतिया है। और फिर मि० राम का भी स्वास्थ ठीक नहीं रहता। आप क्या समझते हैं इतना करने के बाद भी मेरे पास पशुरक्षिणी समिति के काय के लिये समय बच रहेगा ?

नरेन्द्र : वैसे तो मैं ही इस काम को ले लेता लेकिन इसके लिये तो ऐसा आदमी चाहिये जिसमे थोड़ी मिशनरी स्पिरिट हो।

कामेश्वर : यह आप कह रहे है मिस्टर नरेन्द्र मैने तो वैसे तय किया है कि इस साल मे केवल लिखने का काम करूँगा। सिर्फ क्रीएशन।

डा० पाल : अच्छा ...तो ...

नरेन्द्र : मि० पाल को क्यो न चुन लिया जाय।

डा० पाल : जी मैं इस सस्था से इस्तीफा देना चाहता हूँ। वैसे मैं समझता हूँ डा० अदारकर को यह काम दीजिये। बड़ी सजीदगी से करेंगे।

डा० अदार० : आप तो कमाल करते है पाल साहब। मवेशी डाक्टर होने के नाते मैं तो यह नित्य प्रति करता हूँ। रह गये आप लोग, सो अब यह काम आपका है।

मिसेज़ कल्पना : देखिये वैसे मैं यह काम स्वीकार लेती। लेकिन हमारे

सेवा समाज के मंत्री महोदय नहीं रहे। मुझे उनका काम सभालना ही पडेगा।

नरेन्द्र : नही अदारकर साहब। आप आइये भी, क्या रखा है इसमे !

डा० अदार० : यदि मैं यह न ग्रहण करूँ तो शायद ज्यादा अच्छी तरह काम कर सकूँगा।

कामेश्वर : नही नहीं अदारकर साहब। इस साल हमारे शहर मे अखिल भारतीय पशु सम्मेलन होगा। आप रहेंगे तो बड़ा काम बन जायगा।

डा० अदार० : नही नहीं साहब !

कामेश्वर : ठीक है, मैं थोड़ी देर के लिये आपकी बात माने लेता हूँ। लेकिन डाक्टर साहब आप यह बताइये सिवा आपके पशु और आदमी मे सबध समानता कौन स्थापित करेगा ?

नरेन्द्र : हटाइये भी साहब ! चलिये किसी को भी मन्त्री बनाइये ! लेकिन फिर इसके बाद क्या होगा ?

मिसेज कल्पना : यह कैसे हो सकता है। पहले शरन जी के खिलाफ प्रस्ताव रखिये।

डा० अदार० : जी...प्रस्ताव यो है...

पशु रक्षिणी समिति की यह बैठक शरन जी की कार्य विधि के प्रति असतोष प्रकट करती है और उनके विरुद्ध यह प्रस्ताव।

नरेंद्र : यह लीजिये थिंक आफ़ द डेविल...ही इज़ देयर...

मिसेज कल्पना : कौन मि० शरन ?

कामेश्वर : लगता है सुबह का भूला शाम को घर लौटा है।

मिसेज कल्पना : फेमली के लिये तो कुछ फीलिग ही नही है...ही इज़ ए

डा० पाल : चलिये...आये भी तो वैद्यराज को लेकर...

(शरन प्रवेश करता है ..पीछे पीछे वैद्य जी और उसके पीछे एक पान वाला)

शरन : चले आओ, महादेव पनवाड़ी...चले भी आओ...

(भीतर जाकर)

वैद्य जी...आज दो दिन हो गये होश ही नहीं आया इसे... जब कभी होश आता है तो बस...

(सहसा मरीज़ को होश आ जाता है)

कौन कहता है मैंने कुत्ते को काटा है...यह सब गलत है... मुझे छोड़ो...मुझे छोड़ दो...यह पानी...यह बाढ...यह तूफान यह नाली से घुसता हुआ गन्दा पानी यह सब मेरी जान लेकर रहेंगे.. मेरी...मेरी जान ..जान लेकर

वैद्य जी: आप बाहर जायँ . मैं देखता हूँ...

(शरन बाहर आ जाता है)

शरनः तो महादेव ! तुमने मुझे पान खिलाया है। लेकिन आज जरूरत ही ऐसी आ पड़ी है । यह रहा रेडियो । उठा ले जाओ । मैं रूपया भी नहीं लेता लेकिन घर मे एक मरीज है ।

महादेवः जैसी मर्जी सरकार । मैंने तो कहा था हुजूर पैसा ले जाय ।

शरनः ठीक है । ठीक ही तो है । लाओ रूपये ! लो यह रेडियो ले जाओ ।

कामेश्वरः अजीब आदमी है । हम लोगो से बात ही नहीं करता । स्नाब कही का ।

नरेन्द्र : चलिये डाक्टर साहब...

कल्पनाः आल हम्बग हवाट इज दिस .

डा० पालः नाटक का एक पहलू है कल्पना जी, नाटक का ।

महादेवः यह लीजिये सरकार । पूरे डेढ सौ हें । गिन लें हुजूर ।

(इधर मुड़ कर)

शरन : कामेश्वर जी, मिसेज कल्पना ..डा० पाल ..

डा० अदार० : जी हाँ ! हम सभी हैं। शायद आप को याद न हो। आज आप ने मीटिंग बुलाई थी । सारी बातो पर विचार करने के बाद हम सब एक साथ इस राय पर पहुँचे हैं कि आप पशु रक्षिणी समिति का काम नही कर सकते । इस लिये हम आपसे महज इतना ही चाहते हैं कि आप अपना चार्ज दे दीजिये ।

शरन : किसका चार्ज आप लेना चाहते हैं कोठारी साहब ! जानवर का ! पशु का ! तो वह तो अस्पताल में हैं ! और अगर आदमी का चार्ज लेना चाहते हो तो वह मर चुका है ! पागल खाने जाने की नौबत ही नहीं आई !

(महादेव का प्रवेश)

महादेव : सरकार...सरकार

शरन : तुम महादेव...तुम लौट आये. .

महादेवः नदी का पानी मेरे घर मे घुस आया है हुजूर। रेडियो यहीं रख लें। घर की दीवारें गिर रही हैं।

शरन : तुम्हारी मर्जी रख दो। और सुनो प्लग भी लगा दो। 'बाबू' लोग रेडियो सुन रहे थे न। ..लगा दो इसे

(वैद्यजी घबरा कर जाते हुये)

वैद्य : कुछ नही हो सकता ..कोई नही बचा सकता...बात पत्त... कफ किसी का विकार नही है फिर भी आदमी पागल हो जाय...कुछ समझ म नहीं आता...

शरन : वैद्य जी...वैद्य जी...

वैद्य : ब्रेन 'हामोराज' है दिमाग की नस फट गई है कुछ नही हो सकता शरन जी.. रोगी मर गया है .

रेडियो : रात के साढे दस बज चुके हैं...स्पेशल न्यूज बूलेटिन के समाचार सुनिये ..

विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है कि जिस आदमी ने कुत्ते को काट लिया था वह इस समय इसीं शहर के एक साहित्यकार के घर मे है...सी० आई० डी० सुपरिन्टेन्डेन्ट मि० भरद्वाज ने उस साहित्यकार का घर घेर लिया है...साहित्यकार ऐसे खतरनाक जुर्म करने के एवज मे पकड़ा जायगा।

कुत्ता अस्पताल मे है...कुत्ते की हेल्थ बुलेटिन मे डाक्टरों ने कहा है कि अभी आदमी के जहर का प्रवेश बहुत बढेगा... दरअसल आदमी का जहरीला खून और कुत्ते का खून जब मिल जाता है तो यह जहर बड़ा खतरनाक साबित होता है.. कुत्ते की जिन्दगी खतरे मे है.. आदमी के बारे मे पता नहीं...
नदी मे बाढ बडे जोर की है...शहर का गन्दा पानी शहर से बाहर नहीं निकल पा रहा है. .हेल्थ आफिसर का कहना है कि हर नागरिक को घर की नालियों के प्रति सावधान रहना चाहिये। इस ठहराव की गन्दगी अगर आगन में जमा हुई तो बच्चे मर जायेंगे डिपथेरिया का रोग फैलेगा...आदमी घुट घुट कर मर जायगा—

डा० अदार० : मि० शरन !...आप को चाहिये कि लाश को जल्द से जल्द बाहर कर दें। ज़हर घर मे भी फैल सकता है।

शरन : जहर तो फैल चुका डाक्टर आदमी मर गया है...

(अन्दर से डरी हुई सिसकियाँ सुनाई देती है : क्षण भर सन्नाटा : फिर अकस्मात् पुलिस लारी के आने की ध्वनि)

भरद्वाज : मि० शरन, आप हिरासत मे हैं। नायकसिंह आपको लारी में बिठाओ।

डा० पाल : मगर क्यों ? क्या किया है शरन जी ने ?

भरद्वाज : इन्होंने खतरनाक जुर्म किया है। इन्होंने उस पागल आदमी को पनाह दे रक्खी थी जिससे सारे शहर के पागल हो जाने का ख़तरा था। उसको देखते ही शूट कर देने का हुक्म था......

कल्पना : (चीखकर) और इन्होंने उसको अपने घर मे छिपा रक्खा था। हाउ इर्रेस्पान्सिबिल ! अपनी फैमिली तक की सीक्योरिटी का ख्याल नहीं इस आदमी को।

नरेन्द्र : (तुरन्त) हाँ, वह आदमी किसी बच्चे को ही काट खाता तो ?

शरन : (दबी हुई कड़ुवाहट से) हाँ, मिसेज़ कल्पना ! जुर्म तो मुझसे हो गया। बात यह थी कि मैं भूल गया था कि मैं पशु रक्षिणी समिति का सयोजक हूँ, पशुओ को पनाह देने का अधिकारी था, पागल आदमी की रक्षा करने का नही !

कल्पना : मि० शरन, चूंकि अब वह सस्था मेरे हाथ मे सौपी गयी है अतः अब आप उस पर व्यग्य करने पर उतारू हो गये हैं।

नरेन्द्र : नान्सेन्स। शरन जी, अपनी कटुता सस्था के गले में क्यों मढ़ते हैं ? सस्था का विधान पशुओ की रक्षा करने का आदेश देता है, पर आदमी की रक्षा करने की मनाही तो नहीं करता !

डा० पाल : नहीं नरेन्द्र जी ! समिति का विधान आदमी की रक्षा करने की मनाही कहाँ करता है, वह तो सिर्फ यही आग्रह करता है कि पहले आदमी को पशु बनाओ तब उसकी रक्षा करो, बिना पशु बनाये उसकी रक्षा करना खतरनाक है।

मि० कल्पना : लेकिन डा० पाल. ....

डा० पाल : नहीं मिसेज कल्पना, आप इसे केवल अपनी संस्था पर ही न लें। सभी का आग्रह इसी बात पर है। सभी आदमी की रक्षा का दायित्व लेते हैं—पर रक्षा के पहले आदमी को पशु बनाना चाहते हैं।

[बाहर से आती हुई लाउड स्पीकर की आवाज़]

भरद्वाज : बहस का कैसा अजीब मौका चुना है आप लोगों ने। आप लोग शायद भूल रहे हैं कि मि० शरन हिरासत मे हैं, और उन्हें अभी लारी पर बिठाकर ले जाने के लिए मैं बाध्य हूँ। मि० शरन, आप लारी मे बैठने की .....

डा० अदार० : पर ठहरिये। पहले इस कागज पर दस्तखत कर दीजिये। मि० शरन। आपके इस्तीफा देने के पहले ही हमने प्रस्ताव पास कर दिया था कि......कि ..

नरेन्द्र : कि आप पशु रक्षिणी समिति के सयोजन के योग्य नहीं है और .....

डा० पाल : केवल मिसेज कल्पना ही उस महान दायित्व को सम्हाल सकती हैं।

शरन : लाइये दस्तखत कर दूँ। (दस्तखत करता है) बधाई, मिसेज़ कल्पना ! नहीं नही इसे व्यग्य मे न लें। मैं सचमुच अपनी असमर्थता पहचानता हूँ। बात यह है मिसेज कल्पना कि आप और आपके पति मि० राम करुणा को नकाब की तरह ओढ़ सकते हैं। जब चाहे तब उतार कर आराम कर सकते हैं। मुझसे यह नहीं हो पाता। इसीलिये, शायद मैं इस सस्था के अयोग्य हूँ, इसी के लिये नहीं, इस सारी व्यवस्था मे "मिसफिट" हूँ।

डा० अदार० : आप 'मिसफिट' हैं इसलिये आप तमाम दुनिया पर ऐसी व्यवस्था लादना चाहते हैं कि आदमी कुत्तो को काटे और अपना ज़हर फैलाये !

शरन : अपना नही, आप लोगों का। इस श्रद्धा और करुणा के नकाब के नीचे आपके जहरीले दाँत हैं। और जो आदमी से ज्यादा उन पशुओं को मात देते हैं जो पूँछ हिलाकर आपके इर्द-गिर्द चक्कर लगायें। और आज से नहीं सदियो से जिसने आदमी की तरह तन कर आपका नक़ाब चीर फेंकने की कोशिश की

है उसे ज़मीन में गड़वा कर आपने उस पर कुत्ते छोड़े हैं। (**बहुत तेज़ पड़कर रुँधे हुए गले से**) और...और मैं निडर कहना चाहता हूँ कि अगर सदियों तक आदमी आतंक को चुपचाप पीता रहा है तो यह शर्म की बात है और आज अगर उसकी प्रतिक्रिया मे पागल होकर उलट कर वह कुत्ते को काट बैठा तो यह बेहतर है, उस चुपचाप घुटते जाने से उस निस्सहाय घुटने से...

नरेन्द्र : (**बिल्कुल घबराकर**) शरन पागल तो नही हो गया।

मि० कल्पना : ओह ! मैं इसकी बाते नही सुनना चाहती। मैं फेन्ट हो जाऊँगी।

रेडियो : हर आम व खास को इत्तला दी जाती है कि शहर मे बाढ़ की वजह से सभी नाले रुक गये हैं। गन्दा पानी बढता जा रहा है। शहर की नालियो के अलावा इधर उधर से गन्दा पानी इकट्ठा हो रहा है अपने बाहर के दरवाजे बन्दकर लीजिये वरना कमरे डूब जायँगे। अपने जानो माल की हिफाजत की फिक्र खुद कीजिये।

भरद्वाज : (**अधीरता से**) मि० शरन !

शरन : मैं तैयार हूँ मि० भरद्वाज ! पर पहले उस आदमी की लाश तो बाहर निकालिये। घर मे लाश सड़ रही है।

भरद्वाज : उसकी फिक्र छोड़िये। वह हमारा काम है। उसकी चिंता नहीं। आप पहले लारी मे बैठे।

शरन : उसकी चिंता नहीं ! ठीक है, खतरा तो आपको जिंदा आदमियों से है। खतरा तो आपको मुझसे है। जहर तो मुझसे फैल रहा है ! क्यो (**हँसता है**) चलिये, अब आप लोग जॉय मैं आप सबका आभारी हूँ।

[क्षण भर सन्नाटा छाया रहता है। फिर काना फूसी के स्वर और पुलिस लारी के स्टार्ट होने और चलने का दूर जाता हुआ स्वर]

●

गलता लोहा

●

इस तप्त जलती, गहन गुरुतर म न भट्टी में सतत मैं गल चुका हूँ
अरुण तापस तप्त श्री के, मुक्त बन्धन, अग्नि के चिर मुक्त क्रन्दन में अडिग
आजानु बाहों में कसा, अभिव्यक्ति सीमा मे बन्धा—मैं जल चुका हूँ।
यह निहाई—
चोट खाती, थकी, बोझिल चिर अपरिचित सी पड़ी निस्तेज
मुझ को कवच सा यों ओढ़ कर क्या रूप देगी
स्वयम् अपनी नियति की उलझी पहेली पर किसी अव्यक्त हाथों की सधी
चोटें सहेगी,
और वह आवाज़—
जो इस वक्ष पर गिर चूर चकना चूर होगी
लौट जायेगी सघन घन नाद के स्वीकार के संघर्ष बल पर
ये दिशायें काँच की, बिल्लौर की खुद टूट जायेंगी—बतायेंगी
कि जो मैं—
एक लोहा था गला अनुताप पाकर मौन इस मुर्दार खलरी को
कि जो निष्प्राण थी, पर किसी मिट्टी के धरोहर के हृदय में
प्रज्ज्वलित ज्वाला निकट
निज रिक्तता के बीच सांसों को संजोकर जी सकी थी
और उस मुर्दार ख़ाली रिक्तता के बीच मैं था...
फ़ौलाद था
पर आँच थी उस सघन गुरुतर आस्था की
जो संजो कर आकृति इस धातु की—
निज ज्योति को ही आत्मा की साध देकर—
दे रही है आस्था, विश्वास, नूतन भास भावी व्यंजना के,
साक्षी यह आग देगी
साक्षी आवाज़ देगी
साक्षी यह साध देगी
तप्त जलती गहन गुरुतर मौन भट्टी में सतत मैं गल चुका हूँ।

●

मन्वन्तर

श्लथ मनु और विवेकहीन श्रद्धा का निर्वासन
तथा
मनु पुत्रों की स्थापना

●

राजेन्द्र किशोर

मन्वन्तर

●

मन्वन्तर एक प्रबन्ध-काव्य है। इसे स्वीकृति किस रूप मे मिलेगा नही कह सकता। पर इसकी आत्मा अवश्य महाकाव्य की है।

कथा बहुत बड़ी है और सभावित तृतीय महायुद्ध के बाद आरभ होती है। समस्या वही है—और युद्धोत्तर, ध्वस्त जगत मे मनुपुत्रो की नयी स्थापना। मनु की पुरानी कथा मे यत्र-तत्र आवश्यक परिवर्तन करके, उसके माध्यम से समस्याओ के उद्घाटन तथा हल का प्रयास किया गया है।

कथा कही नहीं गई है। छोटे छोटे संदर्भ चित्रो मे ग्रहण (Conceive) करके सकेतित (Suggest) की गई है। स्थितिगत अतरालो के द्वारा वस्तु की प्रेषणीयता मे तनाव उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है।

●

सूचना

●

शोर उठा।

स्वर टकराए।

बिजली कौंधी।

बीच आकाश में चमकता हुआ सूरज

एक भयानक विस्फोट के साथ गिरा।

रोशनी !

 अँ धे र

अँ—धे—रा !!!

शरीर के भीतर ध्वनि की आँधी प्रवेश कर गई।
त्वचा तनती चली गई। गर्भस्थ शिशु
बैलून की तरह फूलता चला गया।
पीड़ा।
विचित्र पीड़ा—
अपूर्व अनैतिहासिक।
एक ही झटके में मैं अपने शरीर से अलग हो गई।
देखो, देखो, कपास के फूटे हुए तोके-से
इस शिशु को देखो, जिसके फल बनने की आशा में
मैं लोकगीतों के तोते की तरह प्रतीक्षा करती रही।

मेरे सिवा और कोई जीवित है ?
यह भ्रम है।
मैं तो सेवार के रेशों से उलझ कर रुका हुआ
आकस्मिक, अप्रत्याशित फूल हूँ।
कल।
मेरे रोओं मे लहर थी।
मेरे प्राणों मे उन्माद था।
मेरे व्यक्तित्व मे ऐश्वर्य था।
उफ़, केवल कल, वह आवेग —,
और यह स्थिरता। ध्वनि, इतनी ध्वनि,
शब्द, शब्द चाहिए। मैं कहाँ हूँ ?

एक स्पर्श। एक और स्पर्श।
शांत, स्थिर, जड़ स्पर्श—
जिसके बाद कुछ होने को न हो।

जिसे मैंने आँखों की पुतलियों में सपनों की तरह ढाला,
जिसे मैंने अपनी साँसों के आरोह-अवरोह मे पाला ;
जिसे मैने अपनी बाँहों के आश्लेष मे कल्पित किया,
उस सुख को, उसी सुख को, जिसे मैने जल के कोलाहल में
डूबने नहीं दिया, उछाल दूँ
जल की लपलपाती जिह्वा पर उछाल दूँ ?
भेद। विभेद। खण्ड। मै। तुम। वह काण्ड।
—मैंने संजोए।
अलग-अलग बटुवे मे अलग अलग दाने—
जाने-पहचाने। अपरिचित हुए—वे, सब।
डूब गए। विस्मय। हाँ, विराट् विस्मय,
अखण्ड, अकाण्ठ मै और शून्य। शेष-अशेष
जो अहम् बचा है. वह निरर्थक है।
· ··किन्तु। अर्थ कहाँ है ? श्रोता ?

मै कौन हूँ ?
आहत। विकृत। निरावृत। वृद्ध। जीर्ण। मृत।
किंतु स्वर है।
मैं हूँ। जल है। स्वर है। मैं कौन हूँ ?

●

मनु

●

विश्राम।
टूटा हुआ,
लूटा हुआ
राम!
विश्राम!

थका हुआ,
रुका हुआ
काम!
विश्राम!
अनुभव की,
भुव-भव की
शाम!
विश्राम!

खो गया आवेग, मैं ठहरा हुआ हूँ।
व्योम-पंथिन क्षत्-विक्षत् कल्पना है।
रुद्ध है तम पटल में ज्योति का सुख।
पल-विपल, संदर्भ पर कोई नहीं है।
रत-विरत होता अहम्, लेकिन निरंतर
विमुख मुझसे हो रहा स्फोट मेरा
ताप? शीतलता? नही उफ़ वही, जड़ हूँ।
सामने विस्तार का पत्थर पड़ा है।
खो गया आवेग, मैं ठहरा हुआ हूँ।

आज विकल मन के अम्बर पर घिरती जाती उजली चादर,
आज विकल तन की धरती पर घिरती जाती उजली चादर,
सुनो, कहीं मन के इन टूटे तारों को झनकार न देना,
किसी अपरिचित गहन गुहा से मेरा नाम पुकार न देना।

ओ अनदेखे पारिजात के स्रष्टा, कैसे तुम्हे बताऊँ?
बीतराग की बंधी लटों को मै किस अंगुली से सुलझाऊं?
एक विराम-चिह्न-सा मेरे मन मे कठिन दर्द बैठा है,
शब्द उतर कर जिसे चीन्हने सागर के भीतर पैठा है!

महाशून्य है भीतर छाया, बाहर है तम का सूनापन,
मैं बौराया खोज रहा हूँ फिर भी अनजाने अपनापन,
क्या जाने होनेवाला है इस विकराल समस्या का हल !
भीतर शब्द थका-घबराया, बाहर है जल का कोलाहल ?

तुम नहीं, तुम नहीं, प्रभु !—वह
हो,
कोई भी हो,
और व्यथा, और व्यथा जाऊँगा सह !
बाँहे,
जो मुझे चाहे,
वृष्टि नहीं, सृष्टि नहीं, प्रभु !—वह !

●

श्रद्धा

●

मैं जहां खड़ी हूँ वहाँ न कोई थल है,
मेरे पाँवों के नीचे जल-ही-जल है।
क्या होने का था, और हुआ क्या पल मे,
सब डूब गए जल के इस कोलाहल मे।
मैं हूँ, जल है, जल का यह भीषण रव है,
मेरे आंचल में बँधा सृजन का शव है।
स्वर डूब चुके हैं जल के कोलाहल में,
विस्मय तिरता फिरता है सूने पल में।
नीचे जल है, ऊपर जल है, जल चल है,
केवल आंचल का शव मेरा निश्चल है।
छा रहे भीम घन रोषभरे अंबर में,
लहरें सागर की उबल रहीं अंतर में।
लगता है, बाक़ी है अब भी कुछ होना,
चल रहा अंधेरे मे कुछ जादू-टोना।

मालूम मुझे है, शब्द लौट आएँगे,
कुछ दूर निकल कर मुझको छल जाएँगे।
लेकिन वह भ्रम अच्छा होगा दो क्षण का,
कुछ तो संकोच घटेगा सूनेपन का।
मालूम मुझे है,—मैं हूँ, मेरे स्वर हैं,
ये सब मेरे ही प्रश्न बने उत्तर हैं।
फिर भी पुकारती हूँ, कोई हो, सुनले,
आकर मेरी पलकों से आँसू चुन ले!

●

संयोग

●

"बिंदु-बिंदु, कण-कण जो रिक्तता व्याप रही है,
उसकी पूर्ति इससे नहीं होगी।
लाओ, इसे मुझे दे दो।
मैं इसे सृजन के समाहार का एक संदर्भ बना दूँगा—
—एक क्षण—एक काव्य—
जिसके अंतिम चरण में स्फोट के बाद
शांति का विराम होगा।"

"यह,
यह जो मैं खड़ी हूँ—
मुझमें स्फोट भी है, विराम भी।
मैं इसे नहीं दूँगी। लो, मुझे ही उपसंहृत करो।"

"ऐसा न करो।
यह उपसंहार निरर्थक नहीं है।
जब तक यह है,
न हम जीवित हैं, न मृत।
और इसे रख कर ही क्या होगा?
यह क्या है?"

"यह?
यह मेरी कोख का आख़िरी सुहाना दर्द है।
सब कुछ तो डूब गया जल के कोलाहल में,
एक यही बाक़ी है—बचपन के उस भुलाए हुए दृश्य की तरह,
जो मरने के वक्त अचानक याद आ जाता है।"

"सोच लो।
और सोच लो।
शायद, अब इस संयोग के बाद,
उस दृश्य की सार्थकता में परिवर्तन आ गया हो!"

[शब्द के अर्थ रूढ़ ही रहे। संवेदना छलकी।
प्याली भरी, रीती, भरी, रीती पल की।
विस्फोट तो है, वही है, वही—पीड़क,
शरीर के एक-एक धागे में तनाव भी वही है।
धरती कहीं नहीं है। जहां है, उसे धरती कहेंगे?—
जड़, पाषाण, स्पंदनहीन, अप्राकृतिक। गगन है।
वही है, और कुछ नहीं। बेला है छल की।
सँभलने का वक्त नहीं है, न वैसी है प्रतिक्रिया, किंतु—
सखि! पिया! सखि! पिया! सखि! पिया!]

"अच्छा, तुम्हें दूँगी, तुम्हें ही—
तुम, जो कभी इसमें सार्थक थे;
तुम—निरीह, याचक, लो!
······किंतु, नहीं, नहीं,
दो, मुझे दो!"

[बिजलियाँ कौंधीं अँगुलियों में बाँहों में, तन में,
रोम्रों में, आत्मा की गहराइयों में, मन में।
प्रश्न आते हैं रह-रह कर जाने क्या-क्या,
सँभलने का वक्त नहीं है, न वैसी है प्रतिक्रिया किन्तु,—
सखि! पिया! सखि! पिया! सखि! पिया!]

●

आकर्षण

●

निकल रही है धरती जल के महागर्भ से,
चमक रहा है रेतीली साड़ी का सोना,
पुलक रही हैं श्लथ कबरी की नन्हीं कलियाँ
लिए लुटाने को सुरभित पराग का दोना।

श्वेत घटाओं की चादर ओढे लजवंती
उतर रही है नील गगन से धीरे धीरे,
सब कुछ लगता है नवीन-सा, अनहोना-सा
धीरे-धीरे सिमट रहे सागर के तीरे।

मैं दर्द के भुजपाश में आबद्ध हूँ, रात गुनगुनाती है!
मेरी चेतना को नशा है दर्द का
झूम-झूम जाती है,
मेरी दुखती साँसों की अँगड़ाइयाँ
चूम-चूम जाती है,
वाणी मेरी हो गई है—
अनचीन्ही पीड़ा के अधरों का मौन सुख
मैं दर्द के भुजपाश मे आबद्ध हूँ, रात मुस्कराती है?

रंग रँगे पाटल, मधु से सब फूल भरे
अम्बर से नीले गान चले, मन मे उतरे,
निकला रे निकला चाँद वियोगी, झूम रहा,
लहरों के विह्वल अधर व्यथित कर चूम रहा

नहीं, नहीं, नहीं सहा जाता?
मधुलुब्ध प्रहर मे,
अचीन्हीं इस लहर में
दूर दूर... नहीं बहा जाता?
नहीं, नहीं, नहीं सहा जाता?

पाँव ठहरे हुए हैं मेरे और तुम्हारे,
छाँव ठहरी हुई है मेरी और तुम्हारी,
चलने को चलती है साँस, बस।
और जो कुछ है, रुका हुआ है।
विवशता ऐसी कि आँखों का गीत भी
पलकों के साथ-साथ झुका हुआ है।
कहने को इ—त—ना है
और कहेंगे हम।

ठहरें, ठहरे ही रहे।
यह दर्द अच्छा है, सहेंगे हम।

रात अलसाई-सी पड़ी है।
चाँदनी-वसनहीन खड़ी है।
चाँद कुछ घबराया हुआ है।
आँखों में नशा छाया हुआ है।

यह मन में जो होता है—
सिहरन बोता है,
नस-नस का लहू लगता है काँपने।
उफ़! ऐसा अंधा आवेग कभी पहले तो नहीं जगा?
लगता है
कुछ लगता है...
लगता है क्या?...
देख, देख, उफ! री हवा!
आँचल सँभाल।

●

इड़ा

●

रूप ने प्रश्न किया
अरूप ने उत्तर दिया।
समस्या उलझ गई,

आस्था-अनास्था के एक ही मूल केन्द्र से
दो रेखाएँ चलीं।
वृत्त बन गया।
संकलन में द्वन्द्व पैदा हुआ।
द्वन्द्व से अग्नि निकली।
अग्नि से ताप निकला।
ताप ने आवेग को जन्म दिया।
आवेग से विस्फोट हुआ।
वृत्त टूट गया।
अलग-अलग हुए सब—
कण, अणु परमाणु।
फिर संचयन आरंभ हुआ।
नए नए लघु-लघु वृत्तों में
एकत्रीकरण हुआ।
स्वौजस से आंदोलित वृत्तों मे गति उत्पन्न हुई।
टकराए।
पहले परिधि टूटी थी; केन्द्र टूटा! सब टूटे।

कहाँ हैं —लोग?—
वे, सब—श्रद्धा, मनु संतति?
मैं तो पुत्रवती होकर भी वन्ध्या रही।
मैंने जो भूमि बनाई थी वह पिच्छल नहीं थी।
मैंने जो बीज बोए थे वे संक्रामक नहीं थे।
मैंने जो सपने ढाले, वे अपनी ही आवश्यकता से उत्पन्न हुए थे।
मैंने जिन सत्यों को उद्भावित किया था, उनमें स्थिति स्थापकता भी थी।

कहीं श्रद्धा के अश्रु टपके
कहीं करुणा झरी;
कहीं मनु का पुरुष, कहीं अहम् अड़ा
और—

मैंने मनु से कहा था—
जो है, उसे देखो,
जो है, उसे सुनो,
जो है उसे छुओ,
जो है, उसे समझो,
किंतु मनु—पुरुष !
और श्रद्धा—दुलारी, नारी—
अत्याधिक भोग और भोग से उत्पन्न करुणा से नपुसंक—अकामा !

क्षण से परे क्या है ?
दिशा कहाँ से चली ?
स्रष्टा कौन है ?
प्रश्न अच्छे हैं।
ध्वंस नपुंसक, आध्यात्मिक, दार्शनिक मनु ने किया,
श्रद्धा का हिया पिए करुणा।

मुझे हँसी आ रही है।
लगता है, कोई मेरे रोम-रोम को गुदगुदा रहा है।
मेरी धमनियों में रक्त की जगह गुदगुदी बह रही है।
मेरा सम्पूर्ण चेता-मण्डल इस गुदगुदी से विस्तीर्ण होता जा रहा है।
अरे, यह, यह हँसी—
मनु, श्रद्धा, करुणा अध्यात्म, दर्शन—
उफ़ ! उफ़ ! यह हँसी—
इड़ा ! री इड़ा !!

●

मैं सिहर रही हूँ प्रियतम, मुझको मत छूना ।
मेरे भीतर उद्वेलित है रस का सागर ।
मै फैल रही हूँ, धरती सिमटी जाती है ।"

"मै नए रक्त का वेग नहीं सह पाऊंगा ।
सङ्गीत नहीं आवेश श्वास मे चलता है ।
मेरे शोणित के सागर का मंथन करने
मैं देख रहा हूँ, गगन उतरता आता है ।"

मैं अभी भी मनु द्वारा संयोजित समाज के अग्रणियों का वेतरतीब कर्कश गीत सुन रही हूँ ' श्रद्धा के चहेते बेटों का गीत .

'एक स्वर, अनेक स्वर,
जाने पहचाने, अनजाने स्वर,
यानी स्वर के बेगारों की पूरी एक टोली—

इन्हे आधा पेट दो
और पूरा काम लो !

आदमी एक चीज है ।
चीज़ यानी बिकाऊ—जैसे प्याज़ ।
आदमियत प्याज़ का छिलका है ।
सेर के भाव बिकता है—खुदरा नहीं, खुदरा नहीं !

आग जलती है इनके पेट में,
आँखों से निकलता है धुआँ,
ये लोग ख़तरनाक—
लंकादहन करनेवाले हनुमान के वंशज हैं।
इनकी पूंछ में घी-चुपड़ा कपड़ा मत बाँधो,
पानी लपेट दो।
'अधिक उपजाओ अन्न' का देकर इन्हे नारा
सागर जुतवा दो। भगवान् का नाम लो।
स्वर्ग सुरक्षित रहेगा।'

उनका भगवान् साक्षी है :
केवल वे ही नहीं रहे,
उनका स्वर्ग सुरक्षित है!

"देखो इड़ा, मुझे अंदोलित न करो।
इस नए कल्प मे मुझे जीने की स्वतन्त्रता चाहिये।'

"मैं प्रसन्न हुई।
विधायक ने स्वतन्त्रता की कल्पना की है।"

"मुझे शांति चाहिये, इड़ा।
तुम्हारे सम्पर्क से द्वन्द्व पैदा होता है।"

"शांति चाहिए? क्यों?
स्वस्त्ययन करोगे?

"नहीं! मैं सृजन करूँगा।"

"सुन्दर! नपुंसक मनु सृजन करेगा।
उसे द्वन्द्व नहीं, शांति चाहिए।"

"तुम? इड़ा, तुम? जीवित?...मनु कहाँ है?"

'चिता न करो। वृद्ध, श्लथ मनु इस नई स्पंदिनी श्रद्धा का है।"

"किंतु तुम ?'

"मैं तुम्हारी करुणा का प्रसार देखती फिर रही हूँ।
विध्वस और विनाश की कल्पना से भयभीत श्रद्धा की
इस पुण्यभूमि मे जीवित हूँ, उपकृत हूं।"

"मेरा यहाँ आने का एक निजी उद्देश्य है।"
'वह मै जानती हूँ इड़ा ' मनु।'
"नहीं। मनु नहीं, मुझे मनु का पुंसत्व चाहिए—
मेरी अपनी रचना के लिए।''
'किंतु मैं..."
"नहीं, मनु, न मुझे तुम्हारी चाह है, न श्रद्धा की।
मुझे एक नूतन स्वरूप के निर्माण के लिए
द्वन्द्व चाहिये—एक क्षोभ—और वह मुझे
तुमसे मिलेगा।"

"किंतु मै तो नपुंसक हूं, इड़ा ' तुमने कहा था।
मुझमें विष भी है।
'मैं वह विष पा जाऊँगी।'
"वमन करोगी "
'नहीं श्रद्धे ' सृजन करूँगी—नए स्वस्थ,
हृष्ट-पुष्ट रूपों का सृजन—नए आहार व्यवहार का सृजन—
नए आचार-विचार का सृजन—नई व्यवस्था का सृजन—
जो मैं चाहती थी, किंतु तुमने करने न दिया..."

"नहीं, मनु, नहीं, इड़ा को नहीं, मेरी संतति—"

●

रूप नहीं है, रङ्ग नहीं है राग नहीं है,
मेरे मन मे अब कोई अनुराग नही है,
आई थी जो लहर वेग से, चली गई है,
मेरी हर वासना मुझी से छली गई है

मै विशृङ्खल पड़ी हुई हूँ, क्षोभ नहीं है,
सुख या दुख का, मुझे किसी का लोभ नहीं है
मै तटस्थ हूँ, साँसो की गणन करती हूँ
मन-ही-मन मैं सृष्टि और रचना करती हूँ।

है बड़ा कठिन दायित्व, निभाना सरल नहीं है,
फिर भी यह दायित्व सुधा है, गरल नहीं है,
इसीलिए सुख के छन्दो को आमन्त्रण है,
धरती पुलक भरी है, हर्षित नील गगन है!

मन्वन्तर

●

तुम्हे याद होगा मेरे लाडलो,
मैंने एक दिन तुम्हे तुम्हारे पिता मनु की कहानी सुनाई थी,
जिसने मुझसे पलायन किया,
जिसने एक ऐसे समाज का विधान बनाया,
जिसमे सर्वत्र विभाजन ही विभाजन था
और आनन्द सम्मोहिता श्रद्धा ने उस विधान पर अपने हस्ताक्षर किए।
उसी दिन से अंशावतरण की कथा शुरू हुई!

परिणाम वही हुआ, जो होना था।
खण्डो ने अखण्डता की कल्पना की 'कांक्षा की,
युद्ध हुआ।
मनु भी गए, श्रद्धा भी गई।

और यह अनिवार्य भी था।
मनु ने जो अंशपत्र प्रस्तुत किया था।
उसका यही अंत होना था।

इसीलिए, आओ मेरे असंख्य लाडलो,
आज मैं तुम्हे—तुम सब को
इस उद्घटित भूमिका में
मनु के स्थान पर स्थापित करती हूँ!

●●

द्वितीय खण्ड

संचयन

गीत

●

सत्येन्द्र श्रीवास्तव

किसने यह हाँक दी
जागते रहो—

टूट रहे जीवन की धुंधलाई छाँहो पर
उढ़के दरवाजों की टूटती कराहो पर

शीशे की किरनो सा दर्द चमकने लगा

किसने यह हाँक दी
जागते रहो

फूल पात, नंगे वन, पेड़ो की शाखो पर
जले हुए जंगल की भीगी सी राखो पर

हल्के पदचापो का मौन उभरने लगा

किसने यह हाँक दी
जागते रहो

धारा के अधजल मे पड़ी हुई नावो पर
बीते के साये और आगत के पाँवों पर

पूजा का जुड़ा हुआ हाथ सिसकने लगा

किसने यह हाँक दी
जागते रहो ..

●

निर्माल्य और नया बिरवा

निबन्ध : कविता

●

निर्माल्य

विद्यानिवास मिश्र

●

मेरे एक मित्र हैं जो शङ्कर जी के नित्य भक्त हैं, प्रतिदिन अपने मानस, वाचिक और कायिक अपराधो की अञ्जलि मृत्युजय की देहली पर चढ़ाने आते हैं और वहाँ से लौट कर जब मैं रीवा रहता हूँ तो मेरे पास निर्माल्य देने कभी नौ बजे कभी दस बजे तो कभी ग्यारह बजे रात तक चले आते हैं। इस निर्माल्य में कभी तो बेला के फूल होते हैं तो कभी कमल के, कभी धतूरे के भी और इनके साथ बिल्वपत्र भी रहता है। प्रायः ये फूल बासी होते हैं, पर मैं स्वय मन्दिर वर्ष मे एकाधबार से अधिक नहीं जाता, इसलिए बिना गये ही जो निर्माल्य रूप मे अयाचित प्रसाद मिलता है, उसको शिर से लगाता ही हूँ और लगाकर इन्हे सिरहाने रख देता हूँ। यदि कभी माला हुई तो दीवाल पर टगी हुई मरी छवि पर वह विराजी जाती है, पर अधिकतर अलग-अलग फूल ही होते हैं। फूलो मे मुझे बेला बहुत प्रिय है क्योंकि उसकी सुरभि रातभर मे मेरी समूची सेज मे भिन जाती है और प्रातःकाल मैं जब जगता हूँ तो वह सुरभि आधीरात मे अपनी पखुड़ियो को खोलने वाली लोकरागिनी की क्यारी तक खींच ले जाती है और मैं उच्छ्वसित हो उठता हूँ, तब मेरे प्रथम यौवन की उन उत्कठाभरी रातो की स्मृतियों की पर्त उधरने लगती है, तब गर्मी की छुट्टियों मे भाई बहनो और माताओं से भरे-पुरे परिवार मे सबके स्नेहसत्कार से छुट्टी पाकर शय्याधिकारिनी निःशब्द भाव से अपने हृदय-मुकुल छितराती, तब अपनी दुलारी बहन की सेज पर सजाकर रखे गये बेला के फूल दूने गमक उठते। तब बेले की तरह दिन भर उत्तपित रहने वाला रात मे उत्कीलित मन अपनी उत्फुल्लता मे विभोर हो जाता। नवपरिणय के वे दिन चले गये, पर बेला के प्रति मेरी आसक्ति नहीं गयी। इसलिए मेरे मित्र जब कभी बेले का निर्माल्य लाकर देते हैं, मे प्रमुदित हो जाता हूँ। यह नहीं कि कमल क फूल के प्रति मेरी कम श्रद्धा है, पर कमल के फूल को पाते ही म उसके किजल्क की शोभा में ही उलझ जाता हूँ और मन पर इतना गहरा विस्मय

छा जाता है कि उच्छल प्रीति को कहीं अवकाश ही नहीं मिलता। धतूर और मदार के फूलों को मैं विधिवत् ऊँचे ताक पर रख देता हूँ, क्योंकि उनकी अवधूत मादकता मेरे वश की बात नहीं।

दूसरे दिन मुझे चिन्ता जरूर हो जाती है कि इन फूलो का क्या किया जाय, एकाध दिन तुलसी के गमले मे डालने चला तो धर्मभीरु पत्नी ने टोका—भला एक देवता को चढा हुआ फूल दूसरे देवता को चढ सकता है। मैंने समझाने की कोशिश की—यह तो चढाने जैसी बात नहीं, यहाँ तो केवल इन फूलों को सद्गति देने का प्रश्न है, पर उन्होंने एक न सुनी और ये फूल एक ताख पर रखे जाने लगे। कहीं उड़कर ये जमीन पर आ रहे और पैरो तले रौंदे जाँय इस आशका से, इन्हे गिल्लोरियो से और पुस्तको से दबा कर रखा जाने लगा और प्रतिमास जब मैं प्रदोष व्रत रहता तो उस दिन शिव पर चढाये फूलो के साथ ये सूखे हुए निर्माल्य फूल भी नदी मे जुड़वाने भेज दिये जाने लगे।

बहुत दिनों से मैं निर्माल्य की सार्थकता पर सोच रहा हूँ। देवता का निर्माल्य और प्रसाद दोनो की एक विशेष गौरवपूर्ण स्थिति है, दोनो समादरणीय हैं और दोना की उपेक्षा घोर अपराध है पर दोनो मे एक मौलिक अन्तर है, वह यह कि निर्माल्य देवता के श्रीचरणो मे चढने की मुहर है और प्रसाद देवता के श्रीनयनो की कृपा कोर है। निर्माल्य वह बैरग डाक है जो टिकट न लगने के कारण लौट आयी हो, जब कि प्रसाद पत्र का अनुकूल उत्तर है। इसी से प्रसाद न केवल शिरोधार्य होता है बल्कि वह कठधार्य भी हो जाता है, और सीधे हृदय मे जाकर उतरता है।

एक दिन यही मीमांसा करते करते सोया तो मैंने सपने मे एक विचित्र बात देखी। न जाने कितने निर्माल्य मानवीय आकार धारण किये मेरे सामने चले आ रहे हैं, कोई गेंदे की तरह गोलगप्पा, कोई शतदल की तरह विहँसित, कोई कुमुद की तरह शर्मीला, कोई धतूर की तरह बौराया, कोई मदार की तरह घुडीदार, कोई कठबेले की तरह बेहया, कोई जूही की तरह नाज़नीन और कोई बेले की तरह मदमस्त। इतने ही में देखा—खादी के फूलों के तथा सूत के निर्माल्य तो एक विराट भीड का रूप ग्रहण करते चले

आ रहे हैं और मैं घबरा गया। सोचने लगा कि आखिर ये कौन से नये देवता जनमे, जिन्होने रूप-रस-गन्ध-स्पर्श चारो के अनुभव से विरहित इन शब्दमात्र मालाओ को अङ्गीकार करना शुरू किया। तब मुझे एकाएक ध्यान आया कि भगवान् तथागत की जय हो, नारायण तो लुप्त हो गये, अब नर नारायण बन गए, जिनके लिये मनु ने युगों पहले लिख दिया था 'महती देवता ह्येषा नर रूपेण तिष्ठति'। यह नर रूप देवता बड़ी ऊँची सतह पर चलते हैं, इन्होने भारत की सामासिक सस्कृति को पा लिया है और उनकी उपलब्धि से मृगदावमात्र संस्कृति निष्ठ हो चुका है। इन देवता को सहज-शून्य लाभ हो चुका है, इसी से ये शून्य के गुण शब्दमात्र से रीझते हैं और रीझकर इसी 'सबद' की अमृत वर्षा भी करते हैं। इनकी पूजा के उपकरण सभी वर्णाढ्य हैं। इसी से इनको फूल भी वह चढता है, जिसको मनुष्य ने अपने कर्तृत्व की पुष्टि मे फूल नाम दे रखा है और इसी से जो प्रकृति के फूलो की तरह नाशधर्मी भी नहीं है।

मैं इस ज्ञान के आलोक में आगे बढने लगा तो देखा कि वे पुराने किस्म के बूर्जुवा निर्माल्य इस नयी भीड़ से कुचले जाने लगे और ये कागज़ी व सूती निर्माल्य मेरे सिर चढने के लिए आतुर दिखने लगे। मैं सिर पर पैर रख कर भगा और मुझे लगा कि जितनी बड़ी भीड़ पीछे से आ रही है, उससे लाखगुना बडी भीड आगे मेरी ही तरह त्राण पाने के लिए पलायन कर रही है। मैंने दो एक सयाने दिखने वाले इन सहकायरो से पूछा कि 'भाई निर्माल्य से इतना उद्वेग क्यों'? उन्होने बताया निर्माल्य तो सिर आँखो पर, चाहे वह वनदेवता का हो, चाहे गृहदेवता का हो, चाहे ग्रामदेवता का हो, चाहे नगरदेवता का हो या चाहे जनदेवता का हो, पर तुम जानते नहीं इस निर्माल्य को सिर से छुआ कर ही विसर्जित नहीं किया जा सकता। इसको कभी भी, कहीं भी विसर्जित करने का निषेध है, क्योंकि ये निर्माल्य राष्ट्रीय सम्पदा हैं। इन थातियों को सँजो कर रखना पड़ता है, नहीं तो देवता का कोप पड़ता है। मैंने कहा कि तब तो मैं इस समास से विग्रह करूँगा और व्यास की शरण गहूँगा कि—हे 'फुल्लार विद्वायत पत्र नेत्र!' हम नरनारायण को अगीकार करते हैं, पर हमें उनके निर्माल्य से मुक्ति दो, क्योंकि गर्दन इतनी चौड़ी नहीं है कि इनका भार वहन कर सके। इतने में मेरी नींद उचट गयी और मैं हड़बड़ा कर देखने

लगा कि कहीं कोई निर्माल्य मेरे सिरहाने तो नहीं अधिष्ठित है। मुझे यह देख कर सुख हुआ कि सिरहाने सात सौ पृष्ठ की एक मोटी सी सुछपित पुस्तक है, जिसके नीचे दो चार बेला के फूल दबे पड़े हैं।

यह पुस्तक वैसे चढी हुई है और चढ़ कर फिर पाठको को चढ़ायी हुई है, मैं भी उन असख्य भाग्यशालियो में से एक हूँ, इस बोध से मैं बहुत आत्मतृप्त हुआ। थोड़ी देर मे विगत रात्रि का स्वप्न एक बार अपनी धूम-रेखा पुनः छोड़ते-छोडते दूर सरकने लगा। मेरा मस्तिष्क फिर घूम गया। क्या अब देवताओ के अर्चन की वे पुरानी मान्यतायें बिल्कुल ही उलट गयी कि अब एक ही माला हजार बार चढती है और हजार बार प्रसाद बन कर बँटती है, क्या मनुष्य की क्रियाशक्ति इतनी बढ़ गयी कि प्रकृति के दान की उसे रञ्चमात्र भी अपेक्षा नहीं रही? क्या आमोद से प्रमुदित होने वाली वह चेतना देवताओ मे लुप्त हो गयी कि अब वे सुरभि से घबराने लगे जिसके कारण सुरभि के ही लिए खिलने वाले फूल भी वृन्तों मे उकताने लगे? वहाँ जाकर इन प्रश्नो का समाधान प्राप्त करूँ, यह सोच ही रहा था कि अपने सिरहाने की पुस्तक का वह पृष्ठ सामने आया जिसमें पुस्तक का अर्थवाद प्रतिपादित था, उसे पढ कर मुझे यह आशा बँधी कि मेरे इन प्रश्नो के उत्तर के रूप मे ही तो यह पुस्तक लिखी ही गयी है। मैने जैसे-जैसे पन्ने उलटे, वैसे-वैसे मुझे यह स्पष्ट प्रतिभासित होता गया कि यह पुस्तक ही मेरी जिज्ञासा का समाधान है। युग बदलते हैं, देवता बदलते हैं, देवता की अर्चन पद्धति बदलती है और देवता का मान बदलता है।

यह सुगत का युग हे, इसमे सुगत अर्थात् अच्छी पहुँच वाले की अर्चना का विधान है, क्योकि सब नाशवान् है, सब क्षणिक है, सब दुक्ख है, पातियोक्ख केवल सुगत के पास है। इसी से सुगत से कुछ कम मान उपगत का है और जिस पर उपगति की मुहर लग चुकी हो, उसी का जन्म सार्थक है, उसी के पुण्य जाग्रत है और उसी की चर्चा सुमङ्गल है। निर्माल्य को शाश्वत प्रतिष्ठा मिलने का भी शायद यही कारण हो, क्योंकि निर्माल्य भी उपगत है।

तब तो निर्माल्य बनना चाहिए, और अब तो वह निर्माल्य रहा नहीं, वह अब सरामाल्य हो गया, कितनी बार चढा और कितनी बार उतरा,

कितनी जगह चढ़ा और कितनी जगह उतरा, इसका कोई हिसाब नहीं। और निर्माल्य अब खुदा की नहीं आदमी की सब से बड़ी न्यामत है। पर प्रश्न यह है कि अब तक जो अपने मन मे बेला की महक बसी हुई है, उससे छुटकारा कैसे पाऊँ और इसके अलावा सोने-चाँदी की वह पन्नी कहाँ से पाऊँ, जिसके बिना खादी की माला बन भी जाऊँ तो चमक नहीं सकता। यही बहुत दुरन्त समस्या है। शायद मैं अपने को माला के आकार में रच नहीं पाऊँगा, कम से कम इस जनम मे तो आशा नहीं दिखती, क्योंकि मैं देखता हूँ कि मेरे घर की मुडेरी पर जो एक अकेला बेले का गमला है, ठीक उसी की तरह मेरा जीवन है। उसमे कभी भी एक या दो से अधिक फूल नहीं लगते, और ये फूल अपने मे ही इतने बेसुध रहते हैं, कि कभी इन्हे परार्पित होने की चिन्ता नही होती।

हाँ, इतना जरूर सोचता हूँ कि निर्माल्य चाहे बनूँ न बनूँ, एक दिन अपनी उत्फुल्लता से अपने पार्थिव देवाधिदेव को यदि प्रसन्न कर सका तो उनका वह क्षणिक प्रसाद ही मेरे जीवन की चरम उपलब्धि होगा, जिसके बाद मुझे अपने जीवन से, बेले से और बेले की महक से भी मोह न रहेगा। हाँ, अगर चढना ही हुआ तो जीवन के साथ सघृष्ट होकर चन्दन बन कर जब तब चढता रहूँगा, पर वह भी सरे-बाजार नहीं, अपने आँगन में अपनी थाली में प्राणप्रतिष्ठित देव के मस्तक पर—और जीवन के सहारे चढ़ूँगा, जीवन के सहारे पार्थिव रूप मे पुनः घुलमिल जाऊँगा, नदी या ताल की शरण न ताकूँगा। निर्माल्य बनने वालो के सौभाग्य से मुझे ईर्ष्या नहीं, उनके लिए यही विधान था, पर प्रसाद की ललक ज़रूर बनी रहेगी और जब तक यह ललक है तभी तक मेरी जीवन यात्रा सफल है।

वैसे युग-निर्माल्यों के लिए यह निर्माल्य भयवश अर्पित करता हूँ।

●

बट का बिरवा

श्री अनिल कुमार

●

आज तुम्हारी छाती की
पसलियों तोड़ कर बट का बिरवा।
लौह-दुर्ग के कृष्ण कँगूरे पर
ऊगा लहलहा रहा है !

मुट्ठी मे कसकर खींचो
इसको उखाड़ लो,
बल-बूता रह गया कहाँ
इतना भी तुम मे ?
तुमने अजमाया है वैसे
आँख बचा कर अपने बल को !
जमा नहीं वह काम तुम्हे
अब मिल कर खींच रहे हो
इसको !

जोर लगा कर,
और हाँफते दम तक खींचो;
शायद कर कोंचा पड़े,
पकड़ ढीली पड़ जाये !
कोई मोह अगर अपनी
कमजोर हथेली पर उभरी उस
लाल राख के दर्शन की
लालसा जगाये
देखो, देखो,

रँगी पराजय को मेंहदी से
लाल लाल अपनी हथेलियाँ।
सुनो चचेरे भाई मेरे !
गांधारी के पुत्र कौरवो !!
माता ने तो सतत आँख पर
पट्टी बाँधे
उमर गुजारी है सतीत्व के
विज्ञापन मे !
तुमको भी यह चिह्न वंश का
मिला भाग्य से,
रहने दो अपनी आँखों पर
इसे उतारो नही महाशय !
वरना हे गांधारी पुत्रो !
जाति तुम्हारी सदा परखने में
गफलत होने का भय है,
रहने दो यह जाति और
कुल सूचक संज्ञा
यही विनय है।

सुनो चचेरे भाई मेरे,
गांधारी के पुत्र कौरवो !!
हम वे कुन्ती-पुत्र बंधु हैं
जिन्हे लाख के चमकीले महलों में
तुमने

ख़ाक बनाने का सपना देखा था
भरसक !
हमें न तुम यह धरती दोगे
जितनी भी रह जाय हमारी
क़लम नोक पर !

भले हमें तुम भटकाओ बरसों तक
वन वन,
भले हमारा बंधु धनंजय
बृहन्नला बन एक वर्ष का
अभिशापित कष्ट निभा रहा,
भले हमारा पार्थ-सारथी
लौट चुका हो हार मान कर,
तुमको कल तो अपनी विधवा
पुत्रहीन मान्यता पत्नियों का
क्रन्दन सुनने को जाना
होगा ऊपर !

ऊपर-ऊपर स्वर्ग समझ लो
अथवा समझो कुर्सी ऊंची--
पहवीवाली ।

हम तो लथपथ हैं
जीवन के महा समर में........
रक्तकीच मे !
कल जीतेंगे तुमको आओ कुरुक्षेत्र में !

यह जो बिरवा आज उगा है
बोधिवृक्ष-सा,
यह विराटता का प्रतीक है !
इसके हेतु जमे हैं हम सब
एक साथ ही
स्वस्थ मान्यता की अपनी जड़
गहरी डाले
उस धरती मे
जिसको तुमने दासी कह कर
दबा रखा है ।
आज वहीं पर
उगा है पसलियाँ तोड़कर
बट का बिरवा
छाती पर फैली दरार पर !

●

आस-पास के लोग

कविता : एकालाप रेखाचित्र कहानी व्यंगचित्र

●

संभवों का दुनियाँ

श्री गिरजाकुमार माथुर

●

कोयला अभागा बन सकता था हीरा
सोत महानद धार
फैलकर पौधा बन सकता था कांतार
वह जो असफल रहा
राम, कृष्ण; गौतम
सिकंदर या शेक्सपियर
वैगनर, विंशी या
व्यास, भरत, कालिदास
सब में है हीरो एक
देवता युगावतार
शर्त : संभाव्य की ज़मीन, बीज का विकास
परिस्थिति की खाद
और आसपास—

· २ ·

शहरों से
सड़कों से
क़स्बों से
गलियों से
कूचों से
रोलों से
नालियों रँगे हुए
स्याह फुटपाथों से

आवाजे आती हैं—

— हम भी हो सकते थे
नेता विश्व-निर्माता
देशों के विधाता
महापुरुष
कलाकार
भद्रलोक—धन, यश, श्री-वान
अधिकारों के दाता
वैभव, विभूति के अधिष्ठाता
मगर नहीं, नहीं
नहीं
नहीं, नहीं
क्यों नहीं ?
क्यों नहीं ?
क्यो नहीं ?
आवाज़ें आती हैं
पत्थर, पत्थर से टकराती हैं
गलियों, मकानों पर
सिर धुन मँडराती हैं
जैसे हो ढूँढ़ रही
प्यासी, आँच में तपती आत्मा
एक शरीर नया
लाओ शरीर वह
मिट्टी का पुतला बनाकर खड़ा करो
प्यासी आत्मा के उतरने को
आत्मा है
आत्मा के मूल्य हैं
सिर्फ है शरीर नहीं
क्यों नहीं
क्यों नहीं

: ३ :

जब तक वह सब कुछ
जीवन मे नही है
तब तक यह आग हैं
जब तक है रग, रस, आनंद
एक कल्पना
तब तक अतृप्ति है विराग है

●

एकालाप

डाकमुंशी की एक शाम

अमृतराय

●

कमर टूट जाती है......मेज पर झुके झुके...सुबह से शाम तक जैसे तेली का बैल . तब भी तो किसी का मुँह सीधा नहीं होता त्योरियाँ चढ़ी ही रहती हैं हमेशा...कोई कलेजा ही निकालकर क्यो न रख दे . आज वह किस सडी सी बात पर बडे साहब ने सबके सामने मुझको... चपरासी को भी इस बुरी तरह से कोई क्या झिड़केगा ..गलती तो हुई... मैं कब कहता हूँ कि गलती मुझसे नही हुई...तो फिर शिकायत किस बात की•••गलती करोगे तो डांट खाओगे...जो ग़लती करेगा वह डांट खायेगा...यह तो उसूल की बात है...समझता हू...अब भी नहीं समझूगा...२३ साल हो गये इसी चक्की से जुते-जुते खूब समझता हूँ इसके अदब कायदे...मगर तो भी किसी किसी दिन.. किसी दिन भी क्यो क्यों ?...नहीं, नहीं, नहीं,...उदास होने का हक भी सब को नही है... कभी एक शेर पढ़ा था...दिल ही तो है...दिल ही तो है...हां...

दिल ही तो है न संग-ओ-ख़िश्त, दर्द से भर न आये क्यों
रोयेंगे हम हजार बार कोई हमें सताए क्यों .

झूठ है...बिलकुल झूठ है...हमारा दिल ईंट-पत्थर है...हा—ईंट-पत्थर...उसको क्या हक़ कि वह दर्द से भर आये...क्यो भर आये ? ...सही बात है क्योंकि अगर उसको यह हक़ होता तो इस दर्द की एक धुँधली सी लकीर उन्होने भी मेरी आँखों मे पढी होती...और कम से कम एक बार सोचा होता कि आज क्यो इस आदमी से गलती हुई जो कभी गलती नही करता मगर किसे पड़ी है ? किसके पास इतना फालतू वक्त है...इसी तरह दुनिया का कारोबार चलता है.. मुझे कोई गिला नहीं है...मुझे कोई गिला नहीं है...किशन की अम्मा ...अरे ओ किशन की अम्मा...मैं आ गया भाई...तुम सब हो कहां ..सामने का दरवाजा खुला हुआ है और कही किसी का पता नही भगवान जाने सब कहा अपने अपने बिल मे छिपे रहते हैं...इसी कटोरी बराबर घर मे...किशन की अम्मा चलो तुम आई तो मैं तो समझा सबको एक साथ साप सूंघ गया मगर यह क्या . तुमने मु ह क्यों लटका रक्खा है... ग़लत बात है... बिलकुल गलत बात है बिलकुल गलत बात है... यह मैं तो यो ही दिन भर का थका-मॉदा घर लौटता हूँ... और फिर तुम्हारा यह तोबड़ा-जैसा मुँह . एक आँख नही भाता मुझे समझी...एक आँख नही भाता. मगर सुनूँ भी तो हुआ क्या ? बहू ने आज फिर कोई नया फसाद खड़ा किया ? मुन्नी का मुँह नोच लिया ? कब ? हे भगवान मार डालेगी यह बहू हमको पागल कर देगी पागल कर देगी किशन की अम्मा...पता नही ये कब के पाप निकल रहे हैं...और यह कृष्णमुरारी ? लुच्चा कही का ! हमसे क्या ऐसी अदावत थी उसको.. क्या नहीं कहा उसने लड़की ऐसी है, वैसी है . बड़ी गुणवती है.. सुशीला है...और लाकर एक पागल को हमारे गले बाँध दिया .बडे सगे बनते थे ! अब शक्ल नही दिखाई देती। ...पूछिए, हमको क्या मालूम था वरना हम क्यो जाते अपनी सांसत करवाने...हमने तो समझा कृष्णमुरारी बाबू इतनी तारीफ कर रहे हैं तो लड़की ठीक ही होगी...वर्ना दुनिया मे क्या लड़कियों की कमी थी। बला से चार-छैः सौ कम देते मगर वह लड़की तो अच्छी थी...रामसुन्दर की...सांवली थी तो क्या हुआ...अब चाटो इस गोरी को

लेकर...हर दम जी धुकर-पुकुर किया करता है...कब कौन सी नयी आफत खड़ी हो जाय...मुन्नी को जरा बुलाओ तो...पूछूं बात क्या थी ..सो गयी है?...बेचारी नन्ही सी जान और वह पहाड़ सी औरत...ओफ।...तुम क्या...किस बुरी तरह बकोटा है ..पांचो नाखूनों की लकीर खिच गयी है...डाइन कही की नही...नही .अब बात...अब और नहीं सह सकता मैं...मैं आज ही बाबू गुरसहाय को लिखूँगा...आकर लिवा ले जायँ अपनी लाडली को...बाज़ आये हम ऐसी बहू से.. राक्षसी है...राक्षसी किस बुरी तरह बकोटा है . तमाम खून उछल आया है ..मैं तो कहता हूँ किशन की अम्मा, किसी दिन वह घर में आग न लगा दे...खुद ही न जल मरे कही अरे क्या ठिकाना पागल आदमी का...किसी रोज छत ही से कूद पड़े...तो फिर बँधे बँधे घूमे और दुनिया भर मे डुग्गी पिटे...कालिन्दी बाबू की बहू जल मरी कालिन्दी बाबू की बहू छत से कूद पड़ी उफ, यह कहाँ की बला गले लगी...मैं तो पागल हो जाऊगा...रमुआ रमुआ झूठ कहता है...रमुआ बदतमीज है ..मैंने कभी रुपये के लालच से शादी नहीं की. हरगिज नही की .मुझे कुछ भी नहीं मालूम था...कृष्णमुरारी ने मुझे धोखा दिया शर्म भी नही आई रमुआ को मुझसे ऐसी बात कहते... कहता है मुझसे इस शादी से कोई मतलब नहीं रुपये आपने लिए आप जानें...रामू रामू? पागल हो गये हो! रामू इस वक्त यहाँ होगा? यह तो सैर सपाटे का वक्त है...कहीं मटरगश्ती कर रहा होगा...पाप तो मैंने किया है...दिन भर खच्चर की तरह जुता रहा हूँ और अब यह तुम तो जानती हो किशन की अम्मा, मैंने कितना चाहा, हर तरफ काट-कपट की, ताकि यह मरदूद पढ जाये मगर बदजात बी० ए० न हो सका न हो सका... न हो सका आवारागर्दी से किसी को छुट्टी मिले तब तो...बी० ए० हो गया होता तो जैसे-तैसे, कह सुनकर मैने उसे डाकखाने मे कहीं लगवा दिया होता...चार पैसे का सहारा होता सहारा भाड़ मे जाय, लोग अपना बोझ उठा ले यही बहुत है, कि झूठ कहता हूँ किशन की अम्मा!... ऐसी नालायक औलाद मगर नहीं नही किशन बहुत अच्छा लड़का था.. सबका बहुत ख्याल रखता था .और मैंने उसे घर से निकाल दिया...नहीं नही, मैंने नहीं निकाला...मुझे उस रोज गुस्सा आ गया था सही लेकिन मैंने किशन से कुछ खास कहा नहीं...वही चला गया...और हाँ, तुम्हें बताना भूल ही गया...आज उसका खत आया है...खुश है।

कलकत्ते में है। एक होटल में रकाबियाँ धोने का काम पा गया है...बुरा हुआ क्यों?...सात पीढ़ी से जिस घर में डाकमुंशी होते आ रहे हैं उस घर का लड़का होटल मे रकाबियाँ धोये।.. कितनी बुरी बात है। है न?... बोलो न? बोलती क्यों नहीं?...ऐ तुम रो रही हो? इसमें रोने की क्या बात है? माँ का दिल...हिश्ट कोई किसी को जन्म भर आँचल में छुपा कर नही रख सकता। मैंने खूब सोचा है. किशन की अम्मा खूब सोचा है... अच्छा हुआ किशन यहाँ से चला गया...बहुत अच्छा हुआ किशन यहाँ से चला गया...बहुत अच्छा हुआ...बहुत अच्छा हुआ...यह पागलखाना उसको भी पीस डालता...

●

रेखाचित्र

मनीषी जी

हरिशंकर परसाई

●

शहर के मध्यभाग मे स्थित एक चाय का होटल है जो होटल से अधिक क्लब है। बाहर से बहुत भद्दा दिखने वाले इस होटल मे ३०-४० सदस्य रोज नियमित रूप से चाय पीते हैं। यहाँ असामान्य व्यक्ति ही मैंने देखे हैं। सीमान्तों पर स्थित मनुष्यो का जमघट यहाँ होता है—याने वे जिनके मुख से निरन्तर ज्ञान झरता है, और वे जिनके मुख से गालियों की अजस्र वर्षा होती है, वे जो बीड़ी तक नहीं छूते और वे जो गाँजे की चिलम फूँके बिना घर से बाहर नही निकलते, वे जो अखंड सयमी है, और वे जो वेश्या के यहाँ पडे रहते हैं, वे जो गऊ से सीधे है, और वे जो सियार से धूर्त हैं। पंडित, ज्ञानी, नेता, लेखक, कवि, शराबी, जुआड़ी, वेश्यागामी, गुंडे—सब यहाँ आते हैं और अँधेरे कमरे की भारी-भरकम, टेबिल के आसपास टूटी कुर्सियों पर बैठ कर उपनिषद् की व्याख्या से लेकर 'बर्थ-कन्ट्रोल' तक के विषयों पर चर्चा हो त

मेरी असामान्यता की साधना जब पूरी हुई, तब मैं भी एक मित्र के द्वारा यहाँ लाया गया और मेरा प्रथम परिचय 'मनीषी' जी' से कराया गया। प्रथम दृष्टि मे ही जिस व्यक्तित्व को मैं ग्रहण कर सका, वह कुछ ऐसा था, अब भी ऐसा ही है—और शायद हमेशा ही ऐसा रहेगा।

घुटनो तक खादी की धोती, खादी की मिरजई, पाँव मे फटी चप्पलें—ऐसी कि पाँवों की रक्षा कम करे, इज्जत की ज्यादा—आँखों पर चश्मा, काले धागे से जेब मे लटकी घड़ी, बाँये हाथ मे छड़ी, कधों पर खद्दर-वसना कांग्रेसी भक्तिन की साड़ी की तरह बेलबूटेदार किनार का चद्दर।

स्वस्थ तगड़ा शरीर, रग खूब गोरा, बड़ा सिर जिस पर लम्बे लम्बे घुँघराले चिकने केश, उन्नत मस्तक, प्रशस्त ललाट, नुकीली नाक, बड़ी बड़ी पानीदार आँखें जिनमे एक क्षण मे दार्शनिक सी चिन्ता, और दूसरे क्षण मूढ सी शून्यता, चौडा चेहरा जिस पर पहाड़ी झरने सी निर्मल हँसी तथा बड़प्पन और सद्भावना की झलक।

उम्र अभिनेत्री की उम्र जैसी धोखेबाज और स्थिर।

वेश और शरीर को मिलाकर यह रूप 'मनीषी' के व्यक्तित्व की किताब की रगीन 'जैकिट' है, जिसके भीतर जासूसी उपन्यास की तरह एक के बाद एक रहस्यमय अध्याय भरे हैं जिन्हें पढते हुए मुझे १० साल हो गये, फिर भी जब अतिम अध्याय पर पहुँचता हूँ, तो देखता हूँ कि आगे कोई परिशिष्ट जुड़ गया है।

पदवियो सहित पूरा नाम "पंडित महादेव प्रसाद शास्त्री, साहित्य-मनीषी भूतपूर्व सम्पादक—हिमाचल, आयुर्वेदाचार्य, ज्योतिषरत्न" है। 'शास्त्री', 'साहित्य-मनीषी' 'आयुर्वेदाचार्य' और 'ज्योतिषरत्न' पदवियाँ उन्होंने बिना किसी परीक्षा पास किये अपने आपको प्रदान कर ली हैं। ये 'ऑनरेरी-डिगरियाँ' हैं, जैसी अरब के शाह को भारतीय-विश्वविद्यालयों द्वारा दी गई 'डाक्टरेट'। 'हिमाचल' साप्ताहिक के कभी मनीषी स्वय सम्पादक व्यवस्थापक, कम्पोज़ीटर, मशीनमैन, हॉकर—सब एक साथ ही थे। यह साप्ताहिक जब उसका मन होता था, तब निकलता था—किसी का ग़ुलाम नहीं था। एक बार नगर के दूसरे पत्र ने 'महादेव प्रसाद मनीषी' की जगह 'महादेव प्रसाद

मवेशी' छाप दिया। मनीषी जी को जब्त कहाँ? दूसरे ही अक में उस सम्पादक के लिये माता और भगिनी से सम्बन्धित सब अश्लील गालियाँ छाप दीं। मुकदमा चला और वे शीघ्र ही 'भूतपूर्व-सम्पादक' हो गये।

'ऐलोपेथी' और आयुर्वेद के वे समान रूप से पडित हैं—कुनेन और कड़ुआ-चिरायता की सीमाओं को लाँघने की बदतमीजी उनके ज्ञान ने कभी नही की। वे अपने को गरीबों का वैद्य कहते हैं। रोगी की जाँच का दो पैसा और एक खुराक दवा का एक पैसा, उनका रेट है, जो अक्सर उधार ही रहता है।

उनके चिकित्सा ज्ञान पर जब किसी ने आक्षेप किया तो उन्होंने समझाया—"देखो भाई, गरीब आदमी न तो ऐलोपेथी से अच्छा होता है, न तो होमियोपेथी से उसे तो 'सिम्पेथी' (सहानुभूति) चाहिए। मै 'सिम्पेथी' की सहस्रपुटी मात्रा देता जाता हूँ, रोगी अच्छा होता जाता है।" अपनी चिकित्सा की सफलता के सम्बन्ध मे उन्होने एक-बार कहा "सौ मे पचास रोगी अपने आप अच्छे हो जाते हैं—दस डाक्टर की दवा से अच्छे होते हैं। जो चालीस मरते हैं, उनमे पन्द्रह तो जीवन-शक्ति की समाप्ति के कारण मरते हैं और पच्चीस को डाक्टर की दवा मार डालती है। मैं इन पच्चीस लोगो को साफ बचा लेता हूँ, क्योंकि मेरी पुड़िया न अच्छा असर करती है न बुरा। पन्द्रह तो धन्वतरि के इलाज मे भी मरेंगे ही। शेष को मे अपनी 'सिम्पैथी' की डोज से बचा लेता हूँ। इस तरह मेरे इलाज मे ८५ फीसदी रोगी अच्छे हो जाते हैं।"

'मनीषी' इसी होटल के ऊपरी हिस्से मे न जाने कब से रह रहे हैं, और इस इमारत के गिरने तक शायद यहाँ रहेगे। उनका धधा कुछ भी नही है। भोजन के आने का क्या जरिया है, किसी को नही मालूम। कपडे कहाँ से मिल जाते हैं, और हमेशा इतने उजले कैसे रहते हैं, यह भी एक रहस्य है। परन्तु इस व्यक्ति के मुख पर मैंने कभी चिन्तारेखा नहीं देखी, कभी परेशानी की छाया नही देखी, कभी दुःख की मलिनता नहीं देखी, जिसके खाने का ठिकाना नही है, जो दो- दिन भूखा पड़ा रहता है, एक फटा टाट जिसकी शय्या है, वर्षो पहले जिसके ईंट के चूल्हे पर अभी तक मिट्टी नहीं चढ पाई एक मिट्टी का घड़ा, एक टीन का गिलास, एक तवा और एक डेगची जिसकी समस्त सम्पत्ति है, शरीर पर पहने हुए कपडों

के सिवा जिसके पास एक अँगोछा और एक फटा कम्बल-मात्र है —बस चिर-यौवन से कैसे लदा है? वार्धक्य इससे क्यो डरता है ? केश किस भय से श्वेत नहीं होते ? झुरियाँ चेहरे को क्यो नही छूती ? चिन्ताओ के दैत्य इससे क्यो दूर रहते हैं ? दुःख इसके पास क्यो नही फटकता ? यह किस स्रोत से जीवन-रस खीचता है कि सदा हरा-भरा रहता है ? किस अमृत-घट से इसने घूँट पी लिया है कि ससार का ज़हर उस पर चढता ही नही।

एक दिन मैं होटल मे बैठा था। ऊपर से बाँसुरी की आवाज आई। मैंने होटल-मालिक से पूछा कि ऊपर बाँसुरी कौन बजा रहा है। उन्होने कहा "वही होगा मनीषी। खाना नहीं मिला होगा, तो बाँसुरी बजा रहा है।" उन्होंने उसे पुकारा और पूछा, "अरे खाना खाया कि नहीं ?" भूखे मनीषी के मुख पर ऐसी मुस्कान आई जैसी, भरे पेट वाले के मुख पर भी दुर्लभ है। वह बोला, "खाया तो था, लेकिन परसो।" होटल-मालिक ने उसे कुछ पैसे देकर कहा, "जा, कुछ खा ले। और, यह गाना-बजाना बद कर दे।" बाद मे मुझे मालूम हुआ कि अगर-मनीषी बाँसुरी बजाता हो तो इसका यह अर्थ है कि वह भूखा है। भरे पेट वह कभी बाँसुरी नहीं बजाता। एक-दो रोज का भूखा होता है, तब टाट पर पड़ा-पड़ा बाँसुरी बजाया करता है। आगामी कल की जिसे चिन्ता न हो ऐसा आदमी दुर्लभ है पर मनीषी को आज की भी चिन्ता नहीं है। कल कहीं से रोटी मिल गई थी, तो आज भी कहीं से मिल जायेगी। आज न आई झख मारकर आयेगी-ऐसा उनका विश्वास है।

उसके कमरे में एक मिट्टी का घड़ा है जिसमे ज्वार, बाजरा, गेहूँ किसी का भी या सबका मिला हुआ आटा कभी कभी रखा रहता है। एक छोटे से बर्तन मे नमक और मिर्च है। जब कहीं से खाना नहीं मिलता और घडे में आटा हुआ तो मनीषी एक-दो रोटी सेंक कर नमक मिर्च से खा लेता है। यदि आटा नहीं हुआ तो पड़ा पड़ा बाँसुरी बजाता है। भूख इस प्रकार सगीत बनाकर आसपास बिखेरता है। तब कोई सुन लेता है, और भोजन करा देता है।

अपने खाने का ठिकाना नहीं है, उदारता में कर्ण है। बड़े शरणागत-वत्सल हैं। कोई भी आफत का मारा आ जाये, मनीषी के एक गजभर

टाट पर और मक्के की दो रोटी पर उसका अधिकार है। जब तक घडे मे आटा है तब तक दो रोटी खिलायेगा और आप खायेगा। जब आटा चुक जायेगा तब मनीषी बाँसुरी बजायेगा और अतिथि कुढता हुआ सुनेगा। जिसे कहीं जगह नहीं मिलती, उसे मनीषी के यहाँ जरूर आश्रय मिल जायेगा। जिसे सब तिरस्कृत करे, वह अगर मनीषी के यहाँ पहुँच गया तो मनीषी अपना भाई मान लेंगे। कितने ही लोग उसका आश्रय पाते हैं। घर से निकले हुए लड़के, बेकार आदमी, तिरस्कृत नारियाँ, लेकिन मनुष्य-सब उसके औदार्य की छाया मे आ बैठते हैं। कोई-कोई कृतघ्न जिस वृक्ष की छाया मे बैठते हैं उसे एक दो कुल्हाडी मार जाते है या कुछ शाखाये ही नोच जाते हैं। सुनते है ये आश्रयहीन लोग जाते वक्त उसका फटा कम्बल या लोटा ही ले भागे हैं।

एक बार अनाथालय से भागी हुई ३-४ तिरस्कृत और लांछित लड़कियाँ मनीषी के आश्रय मे आई। मनीषी ने उन्हे 'धर्मपुत्री' मान लिया। दो-चार दिनो मे उनके यहाँ 'धर्मपुत्र' भी आने लगे और-जब इन 'धर्मपुत्रो' ने उनकी 'धर्मपुत्रियों को 'धर्म-पत्नियाँ' बनाने का उपक्रम किया तो मुहल्ले वालो ने बड़ा हल्ला-गुल्ला मचाया। वे लडकियाँ 'धर्मपिता' को छोडकर भागीं। अभी भी मनीषी बडे दर्द से धर्मपुत्रियो को याद करते हैं। कहते हैं '—न जाने बेटियाँ कहाँ हैं? किस हालत मे हैं?'

ऐसा नहीं है कि उसने श्रम करने का प्रयास नहीं किया हो। 'हिमाचल' की सम्पादकी के सिवा वे अनेक कार्य करके छोड़ चुके हैं। अपने इन अनुभवो को 'मनीषी' खाली समय मे बडे रोचक ढग से सुनाते हैं। एक प्याले चाय मे एक ही अनुभव सुनाते हैं। कहने लगे "स्टट पिक्चर मे मुझे काम मिला। पूना मे शूटिंग हो रहा था। मेरा काम था कि मैं पुल पर नाले के किनारे खड़ा रहूँ और जब 'हीरो' घोडे पर वहाँ से निकले, तो तलवार का ऐसा वार करूँ कि तलवार उसे लगती हुई दिखे, पर लगे नही। मैं तैयार हो गया। 'हीरो' आया तो कमबख्त ने मुझे ही कोड़ा घुमाकर कनपटी मे मार दिया! मुझे गुस्सा आ गया। बस मैंने भोथरी तलवार का ऐसा वार किया कि बेटा नाले मे गिर पड़े। हाथ की हड्डी टूट गई पर मेरी नौकरी भी उसी वक्त खत्म हो गई।"

फिल्म-कम्पनी के अनुभव आगे बढाते हुए वे बोले "एक और फिल्म में काम मिला। मैं बनाया गया हीरो का नौकर। ४-६ दिन बाद

'हीरोइन' एक दिन एकात मे बोली 'मिस्टर मनीषी, आई लव यू' मैंने कहा 'लेडी देन आइ शैल लीव दिस प्लेस एट वन्स' बस मैं भाग आया।"

हमने पूछा "वह तो तुम पर मोहित थी। तुम भाग क्यों आये ?"

मनीषी बड़ी समझदारी से बोले "अरे अरे, प्यार करने वाली स्त्री बड़ी खतरनाक होती है। न जाने कब किससे प्यार करने लगे और तुम्हे पिटवा दे। उस अभिनेत्री से डायरेक्टर खुद प्यार करता था। अगर उसे मालूम हो जाता तो मुझे कहीं मरवा कर फिकवा देता। मनीषी की जान अभिनेत्रियो पर न्यौछावर होने के लिये नहीं है।"

फिर मनीषी ने राजनीति का व्यवसाय अपनाया। नेता हो जाना बड़ा अच्छा धन्धा है ! पर वे किसी भी दल के प्रति पक्षपात नहीं करते थे। वे एक साथ ही कांग्रेस, समाजवादी दल, साम्यवादी दल, जनसघ राम-राज्य परिषद आदि सब मे थे। हर मच से भाषण देते—घटों बोलते और लोग ऊबते नही क्योंकि वे कुछ बोलते ही नहीं हैं। एक बार वे एक सभा मे बोलने खडे हो गये। बडे जोश मे बोले—"काग्रेसी चोर हैं। समाजवादी उचक्के हैं। साम्यवादी लुच्चे हैं। आदि आदि।" आधा घटे तक सब दलों को गाली देते रहे। श्रोताओ ने हल्ला मचाया—"अपने शब्द वापिस लो।" मनीषी जी ने हँसते हुए कहा, "तुम शब्द वापिस लेने को कहते हो, मे अपना पूरा भाषण वापिस लेता हूँ, और फिर नया भाषण आरंभ करता हूँ। सुनो। भाइयो और बहिनो !" फिर आधा घटे तक भाषण देते रहे।

एक दिन उनके निवास-स्थान के सामने के सभास्थल मे राम-राज्य परिषद की सभा हो रही थी। 'मनीषी' बे-बुलाये पहुँच गये और सिंह की तरह मच पर चढ गये। मच पर बैठे नेता बोले, "आप कौन हैं ? क्या चाहते हैं ?" मनीषी ने कहा, "मैं नेता हूँ, भाषण देने आया हूँ।"

"आप किस दल के नेता हैं ?"

"मैं सब दलों का नेता हूँ।"

मच पर के नेताओं ने उन्हें भाषण नहीं देने दिया। पर जनता मनीषी को देखकर हर्षध्वनि करने लगी। लोग चिल्लाये—'मनीषी' जी को बोलने दो।

मनीषी जी लाउडस्पीकर लेकर खडे हुए और धुआँधार भाषण आरम्भ कर दिया। आसपास के लोग निकट आ गये और सभास्थल खचाखच भर गया। भाषण क्या था—अनर्गल प्रलाप और गालीगलौज।

पर मनीषी से यही सुनकर मजा लेने की उम्मीद से लोग इकट्ठे हुए थे। बीच बीच मे ताली और हर्षध्वनि होने लगी। पूरे १ घटे तक मनीषी बोलते रहे और वे नेता लोग भाग खडे हुए। मनीषी मच से उतरे और विजयी योद्धा की तरह झूमते हुए, आसपास देखते हुए जाकर अपने जीने पर चढ़ गये। नीचे जनसमूह इकट्ठा हुआ। चिल्लाया—"मनीषी जी की जय! मनीषी जी दर्शन दो।" भक्तो की पुकार पर मनीषी जी खिड़की पर आये हाथ जोड़कर, मुस्कराते हुए दर्शन दिये।

दो चार भक्त ऊपर चढ गये और उन्हे नीचे उतार लाये। एक जुलूस बनाकर होटल मे उन्हे ले गये, चाय पिलाई और ६ पैसो की थैली भेंट की।

फिर मनीषी ने राजनीति का धधा भी छोड़ दिया।

सब काम कर देखे और जब कोई नही बना तब मनीषी ने सोचा कि कोई काम नही करना ही अच्छा है।

पर हौसले उनके बहुत ऊँचे ह। मुझसे कभी कभी बड़ी गभीरता से कहते हैं कि मैं शीघ्र ही "अन्तरराष्ट्रीय पत्रकार-सघ" खोलने वाला हूँ। एक फिल्म कम्पनी खोलने की भी उनकी योजना चल रही है जिसमे मुझे खल-नायक का काम देने का वादा वे कर चुके हैं।

नीचे वह मुझसे फिल्म कम्पनी की योजना पर चर्चा करते रहे। थोड़ी देर बाद ऊपर उठकर गये तो बाँसुरी बजाने लगे—भूखे थे।

थोड़ी देर बाद नीचे उतरे तो चेहरे पर वही मस्ती, वही हँसी थी। मैं सोचता हूँ, क्या यह हँसी विक्षिप्त की हँसी है? क्या यह निरपेक्ष जीवन का हास्य है? क्या यह उस चरम विफलता की हँसी है, जब आदमी सोच लेता है कि हमसे अब कुछ नही बनेगा! क्या यह उस उदासीन वृत्ति का हास्य है कि हमारे बनने या बिगड़ने मे कोई मतलब नहीं? अथवा दर्द को कलेजे की भट्टी मे गलाकर इसने हँसी के रूप मे प्रवाहित कर दिया है?

कुछ समझ मे नही आता। सतपुड़ा के पर्वत शिखरों पर खडे हुए उन हरे भरे विशाल वृक्षों को देखता हूँ तो मुझे अचरज होता है कि कठोर चट्टानों पर स्थित भूमि से इतनी दूर खडे वे वृक्ष आखिर प्राण-रस कहाँ से खींच रहे है?

उस समय मुझे 'मनीषी' की याद आ जाती है।

●

मेरी भाभी

श्रीलाल शुक्ल

●

वह डाक्टर था और उसका पत्र मिला था कि वह इस नगर के बड़े सरकारी अस्पताल मे अधीक्षक के पद पर आ गया है। पत्र पाकर कुछ दिन पहले उसके परिवार से मिले हुये अगाध स्नेह की स्मृति ताज़ी हो गई।

वह गृहस्थ था। मैं अविवाहित था। वह स्वास्थ्य विभाग मे था। मैं शिक्षा-विभाग मे था। वह मुझसे उम्र मे बड़ा था। मुझे फिर भी उसका स्नेह-पात्र बनने मे कोई बाधा नही पड़ी, हम लोग साथ ही खेलते साथ ही सिनेमा देखते। मुझ अकेले के लिये पका हुआ खाना वह मेरे घर से मँगा लेता और हम लोग कहने के लिथे अपना खाना सम्मिलित 'करके उसी के घर पर खाते। अर्थात् मैं उसका खाना खाता, उसके नौकर मेरा खाना खाते।

और उसकी धर्मपत्नी। जब कभी-कभी मेरे मन मे विवाह करने की इच्छा होती भी तो वह केवल उन्हें देखकर, उन्हीं के हाथो बनाये गये शील और सुरुचि के वातावरण में रहकर होती। और तब तक बनी रहती जब तक मेरी निगाह अपने वेतन पर न जाती। और जब मैं बीमार पड़ा था तब उनकी परिचर्या! और जब मेरी बदली इस नगर मे प्रधानाध्यापक के पद पर हुई थी तो उनका उदास हो जाना, मुझे देखकर उनको अपने दस साल पहले छूटे हुये, विगत भाई की याद करने लगना! और उनके वे तीन प्यारे बच्चे ..अब तो वे बडे हो चुके हागे। क्योंकि तब से अब तक सात साल बीत चुके हैं।

मुझे डाक्टर पर क्रोध आया। यह जानते हुये भी कि मैं यहीं हूँ उसने अपने यहाँ आने की सूचना मुझे पहले से क्यों नहीं दी? वह तो भाभी रही होंगी कि आने के बाद ही उससे पत्र लिखवाकर मुझे बुलवाया होगा। नहीं तो उसे क्या, वह तो अपनी चीरफाड़ के अलावा और कुछ चाहता ही नहीं। समय की बात थी, तब की तब रही; अब उसे सब कुछ भूल गया होगा...।

अस्पताल ही के अहाते मे बने हुये डाक्टर के बॅगले पहुँचा। छोटा सा बाग था। वहीं लान पर तीन चार सुन्दर सी, हल्की कत्थई पेंट की, बेत की कुर्सियाँ पड़ी थीं। उन पर हल्के नारगी रग के पतले कुशन पडे थे। शाम हो रही थी। डाक्टर चुपचाप एक कुर्सी पर बैठा अखबार देख रहा था।

मैंने उसे दूर से देखा। उसके घने काले बालों के स्थान पर कानों के ऊपर सफेद होते हुये बाल मेरी आँखों मे बिधकर रह गये। जान पडा वह पहले से अधिक दुबला हो गया है। पर वह पहले से अधिक आकर्षक भी लगने लगा था।

गले से मिला और सात साल के बिछुडे मित्रो मे जो अटक-अटककर एक दूसरे के प्रति मिथ्या सशय और अपूर्ण ज्ञान से भरी हुई बातें होनी चाहिये, वे होने लगी।

मैं भाभी से मिलने को उत्कठित था। मैंने दो-एक बार बरामदे की ओर निगाह दौडाई कि वे शायद आ रही हों। तभी उसने कहा, "चलो, अपनी भाभी से मिल लो।"

हम लोग ड्राइग रूम मे आये। मुझे बैठालकर वह अन्दर गया। सात साल की सम्पर्कहीनता से मैं पहले की भाँति आँगन मे "भाभी-भाभी" चिल्लाते हुये पहुँचने का अधिकार खो चुका था। मैं अपने लुटे हुये अधिकार की बात सोच ही रहा था कि डाक्टर की आवाज सुन पड़ी, "ये हैं तुम्हारी भाभी।"

मैं उठ खड़ा हुआ। कहने वाला था, "तुमने तो मुझे भुला ही दिया भाभी।" पर शब्द मन के मन मे बैठ गये। मैं धीरे से चौक पड़ा।

यह वह पहले वाली भाभी न थीं। वे तो गेहुँये रंग की, आकर्षक आँखो वाली भाभी थीं जो आजकल गर्मियो मे सफेद ब्लाउज और सफेद वायल की साड़ियाँ पहनती थीं। ढीले-ढाले, स्वतत्र रूप से पहने हुये कपड़े उनके मातृत्व भाव को उभार से देते थे। पर यह तो दूसरी ही भाभी थीं। इनकी उमर उनसे बहुत ही कम थी, ये लगभग २३-२४ बरस की होगी। ये बहुत ही गौर वर्ण, माथे पर बड़ी सी बिंदी लगाये एक क़ीमती नीली साड़ी को निर्दोष रूप से पहने, मेरे सामने आकर खड़ी हुई थीं।

मेरे मुँह से निकला, "आप?"

पर उन्होने मेरी हिचक दूर कर दी स्वय बोली, "आप शायद नही जानते। आज से तीन साल पहले आप की भाभी एक मोटर-दुर्घटना का शिकार हो गई। डॉक्टर साहब मारे शोक के पागल हुये जा रहे थे। तीनो बच्चे अनाथों की सी स्थिति मे थे। पर किसी प्रकार समय बीतने पर डॉक्टर साहब के दुःख का उफान कुछ कम हुआ। तब मुझे इनके जीवन मे आना पड़ा। सोचा किसी भी तरह में इनके दुख के बोझ को हलका कर सकूँ। आप को क्या, इन्होने किसी को भी अपने शोक की खबर नहीं दी।"

मैं बैठकर चुपचाप इस समाचार के विषाद को भीतर ही भीतर पचाने लगा। तब डॉक्टर ने टूटे हुये स्वरो मे कहा, "क्या कहूँ भाई मेरा तो सब कुछ लुट गया था पर तुम्हारी इन भाभी ने आकर मुझे दुनिया मे रहने लायक बनाया। नही तो, मैंने न जाने कब यह नौकरी छोड़ दी होती और बच्चो को आप के सहारे छोड़कर कही चला गया होता।"

वे विषय को समाप्त करते हुये, एक करुण मुस्कराहट के साथ बोली, "अब तो मैं ही आप की भाभी हूँ। मैं जानती हूँ इस परिवार से आप को कितना प्रेम है। अब भी उसी भावना से आप यहाँ आते रहें। इतने बडे शहर मे हम लोगो का कोई और आत्मीय नही है।" कहते कहते उनकी आवाज मे करुणा का ज्वार सा उठने लगा।

अब तक मेरी निगाह अपने चारो ओर के वातावरण पर पड़ चुकी थी। पहले वाले ड्राइग रूम की आत्मीयता और सादगी मिट चुकी थी। दीवारो के कलापूर्ण चित्र, दरवाजो पर पड़े हुये कोमती झीने परदे, चमचमाता रेडियोग्राम, झलकती हुई वार्निश वाला फर्निचर, बहुमूल्य सोफा सेट—ये सब रह रहकर एक ऐसे सुखद, सम्पन्न और अपरिचित वातावरण को उभार रहे थे जो नवविवाहितो के ही घर मे मिलता है।

डॉक्टर मुझसे बता रहा था कि किन परिस्थितियो मे मेरी नई भाभी ने उनके बिखरे हुये जीवन-सूत्रो को एकाकार करने का निर्णय किया था, कैसे उन्होने स्वय उसकी पत्नी होने का प्रस्ताव किया और एक कालिज में फ़िजिक्स के लेक्चरर का पद छोडकर उसके जीवन में सार्थकता भर दी थी ।

कि मेरी निगाह ड्राइग-रूप मे सामने की दीवाल के बीचो बीच लगे हुये एक बड़े चित्र पर पड़ी। यह मेरी पहली भाभी का चित्र था। मैं अपनी जगह से उठकर उसके पास जाकर खड़ा हो गया। डाक्टर, मेरे पीछे खड़ा हुआ, कहता रहा, "देखलो, भाई, तुम्हारी भाभी का यही एक मात्र फोटो है। न जाने अपना फोटो खिचाने मे उन्हें क्यों इतनी अरुचि थी। एकाधबार मैंने उनकी फोटो खीची भी पर वह अच्छी नहीं आई। मैंने बेडरूम मे लगाया था पर तुम्हारी इन भाभी ने कहा कि इस रूप को बेडरूम मे चुराकर रखने से क्या लाभ? इसे ड्राइग रूम मे होना चाहिये ताकि इसे हम सब देख सकें।" कहते कहते उसका गला भर सा आया।

मेरी नई भाभी चुपचाप उसके हाथ पर अपनी उँगलियाँ फेरती रहीं। चाय लान मे ही लगा दी गई थी। हम तीनो वहाँ फिर पहुँच गये। वहीं चाय पीते रहे। अब तक यह भाभी भी अपने अतीत की बाते आत्मीयता के साथ मुझे बताने लगी थी। वे धीरे-धीरे अपने विवाहित जीवन के पहले दो वर्षों के अनुभव बताती रही, डॉक्टर साहब ने मेरे आते ही आप की पहली भाभी के सब गहने और कपडे दे दिये। वे हजारो के गहने थे। पर मैं जानती थी कि उन्हे पहिनकर डाक्टर साहब के मनमे पुरानी यादो को जगाते रहना कितनी बड़ी क्रूरता होगी। इसी कारण मैं उन्हे पहन न सकी। अपनी दिवगता बहन के गहने-कपड सब के सब मैंने बैंक मे जमा करा दिये हैं।

कहकर वे मेरी चाय की ओर फिर उन्मुख हुईं और जिद करके मेरे केक के टुकड़े मे थोड़ा सा और जैम लगा दिया।

डाक्टर कहता रहा, "हाँ भाई, मुझे तो घर का एक एक सामान पागल सा बना रहा था। इन्होने मेरे मन को पहचाना और वे सब चीजे धीरे-धीरे हटवा दी जो मुझे उनकी याद दिला दिलाकर दुखी बनाती थीं। कढे हुये पिलो कवर, कुर्सियों की गद्दियाँ, बेड-लिनेन, न जाने क्या-क्या! अब तो मैं अपने दुर्भाग्य की चर्चा इस प्रकार कर भी रहा हूँ पर तब मेरी जैसी दशा थी, वह मैं जानता हूँ या ये खुद जानती हैं। सुनता था कि स्त्रियों के मन मे सौत और उसके बच्चो के लिये डाह होता है! पर मेरे

दुर्भाग्य में यही एक उजाला था—बच्चो ही के कारण मुख्यतया ये मेरे जीवन मे आई। उन्ही के लिये ममता से पिघलकर...।"

मुझे बच्चों का ख्याल आया। तब तो बड़ी लड़की, श्यामा बारह साल की थी। सुरेश आठ साल का था, और बेबी पांच साल की थी। अब तो वे बड़े हो गये होंगे। मैंने पूछा, "अरे, मैं तो भूल ही गया था। ये बच्चे हैं कहाँ स्कूल से अब भी नहीं आये? श्यामा तो अब बहुत बड़ी हो गई होगी।"

डाक्टर बोला, "वे तो यहाँ है नही। तुम्हारी यह भाभी बच्चों की सिस्टमैटिक ट्रेनिंग मे विश्वास रखती है।"

तभी एक नर्स उसे बुलाने आई। कोई रोगी खतरे की स्थिति मे था। क्षमा-याचना करके वह चला गया।

भाभी मुझसे कहती रही, यहाँ के स्कूलो मे बच्चे खराब जाते हैं। उनकी ठीक से शिक्षा तो हो नही पाती, भद्दे तौरतरीके भर वे सीखते है। बेचारी श्यामा तब बी० ए० फाइनल मे थी पर उसे ठीक से साड़ी तक पहनना न आता था। सुरेश बारह साल का था पर दूसरो के ही हाथों कपडे पहनता था। इतने सुन्दर और प्यारे लडके कहीं देखने को नहीं मिलते पर इस छोटी सी जगह के स्कूल उनकी सारी सुन्दरता मिटाये दे रहे थे। इसीलिये मैंने श्यामा को अपनी शादी ही के साल कलकत्ते मे एक वीमन्स-एकेडमी मे भेज दिया। वह पार साल एम० ए० कर चुकी है। इन गर्मियो मे यहाँ आने वाली थी पर वहा की कुछ महिला संस्थाओं ने कुछ रचनात्मक काम ले रक्खा है। उसी से वह नागपुर जायगी। सुरेश देहरादून है। वह सीनियर कैम्ब्रिज करेगा। डाक्टर साहब उसे यहाँ बुला रहे थे पर वह अपने नाना के घर चला गया। मै भी यही ठीक समझती हूँ। देखिये न, भाई साहब, उसके संस्कार योरोपियन लोगो से होते जा रहे है। उसके नाना गाँव मे रहते है। गर्मियो मे यदि वह गाँव मे रहा तो शुद्ध भारतीय वातावरण का भी अनुभव कर लेगा। उसके मन पर दोनो ओर के संस्कार पडेंगे। यहाँ हम लोगो की कल्चर ही क्या है? न देसी, न विलायती!

मैंने पूछा, "बेबी कहाँ है?"

"उसे लखनऊ मे एक कान्वेंट में भर्ती करा दिया है। वह बड़ी ही

प्यारी बातें करती है, वेरी स्वीट। पर देखिये न, यहाँ आते ही कम्पाउंडरों और जमादारों के बच्चो से बातें करते करते उसकी ज़बान बदल जाती है। मैं तो सोचती हूँ, श्यामा ही के पास इस बार उसे भेज दूँ।"

अंधेरा हो जाने के कारण हम लोग ड्राइंग रूम मे आकर फिर बैठ गये थे। कमरे मे फ्लोरोसेंट लाइट फैल रही थी। पखा पूरी स्पीड पर चला दिया गया था। उस वातावरण मे बातचीत का विषय कुछ और मधुर होना चाहिये था। मैंने पूछा, "आप तो मसूरी रही है भाभी, मसूरी आपको बहुत पसन्द है न?"

डॉक्टर कमरे मे आया। उसका चेहरा मुरझाया हुआ था। आते ही वह सोफे पर निश्शक्त सा बैठ गया। मैंने पूछा, "क्या हुआ?"

पर जवाब उसने भाभी को दिया, "यह तार पढ लो। श्यामा ने हमे धोखा दिया।"

अभी तार पढने लगी। मैंने आकुल होकर अपना प्रश्न दोहराया।

वह मेरी ओर अधमुँदी आँखो से थोडी देर देखता रहा। फिर बोला, "तुमसे क्या छिपाना भाई? श्यामा का तार है। उसने नरेश से शादी कर ली है। आज ही सवेरे सिविल मैरिज हुई है।"

वह कहता रहा, "तुम नरेश को नही जानते। पिछली बार जब हम हाथरस थे, वह हमारे पडोस मे बस-स्टेशन पर बुकिंग क्लर्क था। मरीज की हैसियत से वह हमारे यहाँ आता था। छुट्टिया थी। श्यामा ने उसी साल बी० ए० किया था। वह भी घर पर थी। मुझे तभी कुछ सदेह था। मैंने तुम्हारी भाभी को भी बताया था। वह श्यामा के योग्य होता तो मुझे दुख न होता। पर रूप मे, शिक्षा मे—किसी भी बात मे वह श्यामा के लायक नही—मुझे यही दुख है।"

वह धीरे धीरे अपने मन की व्यथा निकालता रहा। उसके सिर के पास भाभी खड़ी थी। वे उसके मत्थे और बालो पर हाथ फेरने लगीं। बोली, "इसमे परेशान होने की क्या बात है। श्यामा उन्नीस वर्ष की है। इतना पढी है। उसने जान बूझकर नरेश को स्वीकार किया है। दोनो सुख से रहे इससे ज्यादा हमे और क्या चाहिये?"

डाक्टर ने क्षीण स्वर मे कहा, "तुमने तब मेरी बात पर ध्यान न दिया। श्यामा पर तुम्हे रोक लगानी थी...।"

भाभी मिठास भरे स्वरो मे कहने लगी, "तुम्हारा मन बहुत दुखी हो गया है क्या? अब मुझे दोष देने से क्या होगा? क्या नरेश को मैंने प्रोत्साहित किया था?"

वह शीघ्रता से बोला, "नहीं नहीं, डियर यह न कहो, ऐसी बातें न सोचो।"

मैंने कुछ कहना।आवश्यक समझा। बोला "इस घटना को इतना महत्व देने से अब क्या मिलेगा। शादी तो हो ही चुकी है। अब उनके सुख मे क्या योग दे सकते हैं, इसकी बात सोची जाय।"

डाक्टर आँख मूदे सोफे पर तिरछा लेटा था। भाभी ने शायद मुझसे प्रेरणा पाकर उसी मिठास भरी आवाज मे कहना शुरू किया, "उसे आशीर्वाद का तार भिजवा दिया जाय। शायद उसे कुछ रुपयो की भी ज़रूरत पडे। कुछ तार द्वारा भेज दे। लेट अस टेक इट इन गुड ग्रेस। हमलोगों के तनिक भी क्षोभ दिखाने से श्यामा की प्रसन्नता पर एक छाया सी पड़ जायगी। तुम अपने विचार जाहिर न होने दो, इसी मे बड्प्पन है। क्यों न भाई साहब?"

कहकर उन्होंने मेरी ओर देखा। उनका गोरा सुदर चेहरा मेरी आँखो के सामने था।

पर अकस्मात् मुझे उनकी आँखो मे एक विचित्र अस्वाभाविक चमक सी मिली, वह चमक जो किसी आकस्मिक सयोग मे किसी अप्रत्याशित उल्लास के सम्पर्क से आँख पर उतरती है। शायद मेरी भौहे सकुचित हो गई हों, शायद मैंने उनकी ओर कुछ ऐसी गहराई से देखा हो जो शिष्टता के दायरे मे न आती हो। जो भी हो, उनकी आँखों की चमक नष्ट सी होने लगी और मुझे लगा कि उनके गोरे चेहरे पर एक छाया सी पड़ गई है।

भाभी ने आँखे नीची कर लीं, पर उन्होने विषय नहीं बदला, दूसरी ओर कहती हुई डाक्टर से कहती रहीं। "श्यामा समझदार लड़की है; नरेश को कुशिक्षित कुरूप बताकर तुम उसकी समझ का अपमान न करो। और फिर, वह इतना बुरा भी नहीं है।"

मैंने भाभी की ओर इस बार जानबूझ कर देखा। मुझसे उनकी निगाह मिली और मुझे लगा कि उनके चेहरे पर उतरती हुई छाया गहरी होती जा रही है। भाभी ने मुंह दूसरी ओर फेर लिया पर मुझे लगा कि सहसा मेरा मन विकृत सा होता जा रहा है। मेरी इच्छा होने लगी कि मैं इन भाभी को बडे जोर से झकझोरूँ, उनसे इस घर से दूर पडे हुये पुरानी भाभी के गहनो, कपड़ो, बच्चो का एक एक करके हिसाब मॉगूँ और पूंछू कि मेरी उन भाभी की स्मृति को···।

पर मैंने अपने को स्वस्थ किया और समझाया कि शायद अपनी पुरानी भाभी के शोक मे मेरा मन बहक सा-रहा है।

तभी डाक्टर ने ऑखे खोलीं और पुरानी भाभी की तस्वीर को देखते हुये बोला, "तुम भी अपनी श्यामा को आशीर्वाद दो। शायद वह इसी से सुखी हो सके।"

मैंने उसे उठाकर सोफे पर सीधा बैठाया और बोला, "क्या कहते हो डाक्टर। गृहस्थों के यहॉ यह सब चला ही करता है। इस तरह निरुत्साह न बनो।"

उसने बुझे-बुझे स्वर से कहा, "ठीक ही है। अब निरुत्साह बनने से मिलेगा ही क्या ?"

सहसा मुझे न जाने क्या सूझा कि मैंने कहा, "तुम आराम करो डाक्टर, अब मैं चलूँगा। पर मै भाभी की वह तस्वीर साथ ले जाना चाहता हूँ, वे तुम्हारी थी। उनके वस्त्राभूषण, उनके बच्चे, उनके साथ बिताये गये हजारों सुख दुख के क्षण—उनकी न जाने कितनी निशानियॉ तुम्हारे पास हैं। पर मेरे पास कुछ नहीं है। वे ·· मुझे अपना भाई मानती थी। इसी नाते भाभी की वह तस्वीर मुझे दे दो।"

वह क्षीण स्वर मे बोला, "तस्वीर ? उनकी यही एक तस्वीर है।"

पर मैंने कहा, "जो भी हो, मुझे दे दो। मैं, तुम चाहोगे, तो इसकी कॉपियॉ बनवा दूँगा।"

नई भाभी ने मेरी ओर नहीं देखा। वे डाक्टर के मुंह पर निगाह जमाकर कहने लगी "इस तस्वीर को देखकर तुम्हारी व्यथा घटती नही बढती ही है। बहन जी की तस्वीर पर भाई साहब का ही अधिकार होना चाहिये।"

मेरी ओर लक्ष्य करके बोलीं, "आप इसे ले जाइये। इसे देखकर

इनके बीते दिनो के घाव फिर हरे होने लगते हैं। मैं जितना ही इनके मन को भटकाती हूँ उतना ही यह तस्वीर इन्हे अतीत की ओर खींचती है। आप इसे ले जॉय। हो सके तो इसकी एक कापी बनवाकर मेरे पास भिजवा दे।"

इस बार मेरी उनसे निगाह नहीं मिली पर मुझे लगा कि उनका स्वर विकृत हो गया है और उनके मुह पर वह छाया और भी गहरी हो गई है।

शायद मेरा भ्रम ही हो, पर...... ।

●

व्यंगचित्र

बिक्कुजी, मेरे पड़ोसी

विजयदेव नारायण साही

●

यह ज्ञान कि मेरे पड़ोसी बिक्कु जी चित्रकार हैं जब मुझे पहली बार हुआ तो लगा कि मैं बड़ा भाग्यवान हूँ। तब से तीन बरस बीते। पिछले दो महीनो से यह ज्ञान दिमाग के दरवाजे की सांकल जोरो से खटखटा रहा है कि बिक्कु जी चित्रकार ही नही भारी मेल के चित्रकार हैं और उसी अनुपात मे यह भी लग रहा है कि मुझसे अभागा कोई नहीं है।

इसमे बिक्कू जी का कोई दोष नहीं है। असल मे मेरी तकदीर ही ऐसी ऐब्री है कि सीधी देखती हुई भी तिरछी चलती है। वर्ना होने को लाखो किस्म के लोग दुनिया मे पडे हैं। लेकिन खुदा ऐसों को ही चुनचुन

कर मेरे पास ला खड़ा करता है जिनसे निभाना तो दूर की बात, एक मीठी बात कहना भी सुमेर पर्वत उखाड़ लाना है।

चुनाचे इस वक्त मेरी हालत यह है कि अपने कमरे में बन्द बैठा हूँ। एक मेज है, एक कुर्सी, एक लैम्प, एक दस्ता काग़ज, एक फाउन्टेनपेन और एक मैं। यानी जानदार और बेजान मिलाकर छः सत्ताएँ इस कमरे में कैद हैं। कागज के ऊपर मोटे अक्षरो मे लिखा है 'चित्रकार अथवा विचित्रकार' फिर नीचे महीन अक्षरो मे 'प्रसिद्ध चित्रकार बिक्कु जी की जीवनी।' बाकी सारा काग़ज सादा है। कागज पर शीर्षक की ही तरह मेरे माथे पर पसीने की बूँदो की एक मोटी लकीर है और एक महीन लकीर। बाकी सारा माथा खाली है। ऊपर से देखने मे भ्रम होगा कि माथे के भीतर कुछ होगा, वास्तविकता यह है कि माथे के भीतर सांय साय के अनाहत नाद के अतिरिक्त कुछ नहीं है। कमरे के बन्द दरवाजे के बाहर बिक्कु जी लाठी लिए टहल रहे हैं। जी नही, दरवाजा अन्दर से नहीं, बाहर से बन्द है। रह रह कर लाठी की मूठ दरवाजे से दो बार टकराती है और मेरे देवता कूच करने को तैयार हो जाते हैं। बाहर स गरजती हुई आवाज आती है, 'लिखना शुरू कर दिया ?' और मैं जल्दी से मोटे शीपक की लकीरे दोहरी करता हुआ कहता हूँ, 'हाँ भाई, जान बख्शो!'

मेरी जान, जिसके बख्शने की कातर प्रार्थना मेरे मुँह से बार बार निकल रही है, इस समय दो भयकर शत्रुओं से घिरी हुई दमयन्ती की तरह घबराई हुई है। एक शत्रु हे बिक्कु जी जो लाठी लिए हुये बाहर खडे हैं। अगर मै उनसे कहूँ कि दरवाजा खोल दीजिये, तो वे निश्चय ही खोल देगे। लेकिन मेरे बाहर निकलते ही मेरे सर पर उनकी लाठीयो गिरेगी जैसे कैन्वस पर उनका पेंटिंग का ब्रश चलता है। ऐसा उन्होने बड़ी ही मुलायमियत से मुझसे कहा है। मुलायमियत से इसलिए कि वे मेरा दिल दुखाना नहीं चाहते। अपनी जान का दूसरा शत्रु मैं इस समय खुद हो रहा हूँ। क्योकि यह जाहिर है कि अगर मुझे इस बन्द कमरे मे चित्रकार अथवा विचित्रकार शीर्षक के साथ कुछ और देर तक कैद रहना पडेगा तो मुझमे आत्महत्या की मुक्तिदायिनी अभिलाषा जाग्रत होगी।

मगर इस बन्द कमरे मे कोई आत्महत्या करे भी तो कैसे? कुछ

समझ में नहीं आ रहा है। मेज पर सर पटक दूँ? हुँह। वह तो बिल्कुल ही अव्यावहारिक कल्पना है। मान लीजिये इस तरह मैं मर भी गया तो भी इससे सर मे बहुत चोट लगेगी जिसे मैं बरदाश्त नहीं कर सकता। क्यों साहब, कोई आदमी फाउन्टेनपेन की रोशनाई पी जाय तो क्या हो? मौत न सही, प्यास तो बुझेगी? हाँ, बैठे बैठे प्यास भी लग रही है। और प्यासा मर जाने में कोई तुक नहीं है। तो क्या करूँ? बिक्कु जी को पुकार कर कहूँ कि प्यास लगी है, ऐसे मरने के पहले पानी तो दे दें। नही, नहीं, यह हरगिज नहीं करूँगा। वह सुनेंगे तो और भी मुलायमियत से कहेंगे, 'आई एम वेरी सारी साही साहब, लेकिन काम पूरा होने के पहले आपको पानी देना ठीक नहीं है। आखिरकार, काम पूरा तो आपको करना ही है। मान लीजिये यह हमारा लक्ष्य हुआ। तब यदि एक गिलास पानी की आशा आपके मन मे बनी रही तो आप शीघ्र से शीघ्र उस लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे। अतः आपको पानी देना अनैतिक है, क्योकि वह लक्ष्य आपके प्रति उत्तरदायित्व को कम करेगा।'

मैं पागल नहीं हो गया हूँ। सिर्फ मेरा दिमाग सांय साय कर रहा है। और जो आप सुन रहे हैं यह वही सांय सांय है।

अहा हा! एक बहुत बढ़िया बात सूझी है। यह जो एक दस्ता काग़ज मेरी मेज़ पर रखा है इसे मैं खा जाऊँ तो कैसा रहे? लेकिन यह हो नहीं सकता। आदमी काग़ज नहीं खा सकता। कागज तो गाय खाती है। काश मैं गाय होता। लेकिन मेरे फूफा जी को तो लोग कहते हैं कि वह आदमी नहीं गऊ हैं। तो क्या वह कागज खाते होंगे? क्यों आपने कभी काग़ज खाया है? कैसा स्वाद होगा इसका? बस अब मैं ज़रूर यह सारा काग़ज खा जाऊँगा। काग़ज ही क्यों इस फाउन्टेनपेन को भी खा जाऊँगा, इस मेज को भी, इस लैम्प को भी और इस कुर्सी को भी। और बड़ी तृप्ति के साथ जमीन पर चींटियों को घूरता हुआ बैठा रहूँगा। तीन घटे बाद बिक्कु जी जब दरवाजा खोलेंगे, और निहायत मुलायमियत से पूछेंगे, 'साही साहब, आप ने मेज़, कुर्सी, लैम्प, फाउन्टेनपेन और कागज का क्या किया?' तब मैं कुछ नहीं बोलूँगा, बिल्कुल नहीं बोलूँगा, जवाब ही नही दूँगा। चाहे वह मेरा सर ही क्यों न तोड़ डालें। मैं तब तक ज़मीन पर बैठा हुआ घूरता रहूँगा जब तक बिक्कु जी चित्रकार का सारा ठडापन हवा न हो जाय, और उनके गोल मटोल चेहरे की पेशियाँ भकभक करती हुई लालटेन की लौ

की तरह उछलने न लगें, उनकी आँखों की पुतलियाँ वेदर काक की तरह उत्तर-दक्षिण का चक्कर काटने न लगें और उनके लगभग चौकोर कान अलार्म की तरह बजने न लगें; तब उनको गुस्सा आयेगा जिसके न आने पर उनको नाज है और मैं उन्हीं की नकल करता हुआ निहायत अदब के साथ कहूँगा, 'महाशय, क्रोध करना जीवन से भागना है। जीवन एक समस्या है, आइये हम वैज्ञानिक ढग से इसका हल निकालें। इस समय हमारे सामने जो स्थिति है उसमे मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?"

लीजिये फिर लाठी की मूठ दरवाजे से टकराती है। ठक ठक। और बिक्कु जी की गड़गड़ाती हुई आवाज आती है, 'कितने पृष्ट लिख लिया ?' और मैं फिर मोटे अक्षरों को और मोटा करता हुआ घबराकर उत्तर देता हूँ, 'हाँ भाई, लिख तो रहा हूँ, जान बख्शो।' इसके बाद एक वाक्य काग़ज पर लिखता हूँ।

'काश मैं गाय होता और इस एक दस्ता काग़ज को खा जाता।'

ग़लती मेरी ही है। मुझे पहले ही समझना चाहिये था कि चित्रकार, और वह भी बिक्कु जी जैसे चित्रकार की दोस्ती ठीक नहीं है। बिक्कु जी ने तो पहले ही दिन चेतावनी दी थी कि कभी न कभी मेरी यह हालत होकर रहेगी। लेकिन मैं ही मूढ था। मैंने न समझा। अब भोग रहा हूँ।

रहने को तो बिक्कु जी मेरे पड़ोस मे कब से रहते थे। लेकिन परिचय कराया हमारा डाक्टर विद्यार्थी ने। उसी दिन मैंने सिविल-लाइन्स मे जर्मन डिक्शनरी खरीदी थी। अब भी उसकी याद आने पर जी दुखता है। बिक्कु जी ने डिक्शनरी मेरे हाथ मे देखी और बड़ी नरमी से पूछा : 'यह क्या है ?'

मैंने कहा, 'जर्मन डिक्शनरी'

उन्होने किताब को उलट पलट कर देखा और बोले, 'अच्छी है।'

मैंने पूछा, 'आप जर्मन जानते हैं क्या ?'

उत्तर मिला, 'जी नही, बारीक अक्षरो मे छपे हुये पृष्ठो को मैं पसन्द करता हूँ, विशेषतः ऐसी भाषा मे हो जिसे पढ़ा न जा सके।'

मैंने कहा, 'मैं तो जर्मन जानता हूँ।'

बोले, 'इसी लिये तो कलात्मक दृष्टि से इस किताब का आपके लिए कोई उपयोग नहीं है। आप आँखों से इसका सौंदर्य देख ही नही सकते।

बात आई गई हो गई। मैंने सोचा चित्रकार हैं ऐसी बातें करते हैं। कुछ खुशी भी हुई कि चलो एक चित्रकार से भेंट हुई। ये चित्रकार मैं लेखक। दोनो पड़ोसी हैं, अच्छी निभेगी। दूसरे दिन बिक्कु जी का आदमी मेरे पास आया, मालूम हुआ बाबू जी ने वह किताब मांगी है जो कल आपके हाथ में थी।

मैंने सोचा जान पड़ता है मेरे लेखक होने का रोब कुछ पड़ा है। अब बिक्कु जी जर्मन सीखेंगे। प्रसन्न भी हुआ। अतः किताब दे दी। शाम को बिक्कु जी के कमरे मे पहुँचा। देखा बिक्कु जी अपने गोल शरीर पर केवल बनियान, पाजामा धारण किये हुये धरती पर विराजमान हैं। बग़ल में कूँचियाँ, रग, खड़िया, कोयला, गेरू, तसवीरें, कागज, गोंद और न जाने क्या क्या फैला रखा है। ईजल पर एक कैनवस है। कैनवस पर एक अधरँगी तसवीर है। और उस तसवीर मे कपडों की जगह बिक्कु जी कैंची से बारीक अक्षरों में छपे हुये कागज़ के टुकडे कैंची से काट काट कर चपकाते जा रहे हैं। इतना तो मानना ही पडेगा कि रगों के बीच वह छपे हुये काग़ज़ी टुकड़ों ने मिलजुल कर तसवीर को ऐसी सूरत दे रखी थी कि दो मिनट तो मेरी आँखे ठहरी तो ठहरीं ही रह गई। मैंने कहा, "कमाल है, क्या श्रेष्ठ चित्र बनाया है आपने।"

बिक्कु जी बोले, "जी हाँ, यह आधुनिक मनुष्य का चित्र है।"

मैंने कहा, बहुत अच्छा है। यह रगों के बीच आपने अखबार के टुकड़े खूब चमकाये हैं। बहुत ही आकर्षक और विचित्र मालूम पड़ते हैं।

गोल चेहरे की पेशियो मे हल्का सा तनाव होकर ढीला पड़ गया। और बिक्कु जी बोले, 'क्षमा कीजियेगा, आपसे भूल हुई। यों आपसे भी भूल हुई यह मेरी कला की सफलता ही है। अखबार के टुकडे नहीं हैं, आप-की जर्मन डिक्शनरी के पृष्ठ हैं।'

मैं तो आसमान से गिरा। अब आप ही बताइये अगर मुझे गुस्सा आया तो क्या बुरा हुआ, मैंने पूछा, 'क्या मतलब है आपका ?'

बिक्कु जी बोले, 'ठीक कहता हूँ। विश्वास न पडे नज़दीक से देख लीजिये। यों नज़दीक से देखने पर चित्र का सौन्दर्य नष्ट हो जायगा।'

नज़दीक से देखने की ज़रूरत नहीं थी। पास ही में मेरी जर्मन डिक्शनरी टुकडे टुकड़े पड़ी हुई थी।

मैंने चिल्ला कर कहा, बिक्कू जी आप चित्रकार होंगे, अपने घर के। मेरी डिक्शनरी तहस नहस करने का आपको कोई अधिकार नहीं है।

बिना विचलित हुए, निहायत मुलायमियत के साथ बिक्कु जी ने कहा, 'महाशय, क्रोध करना जीवन से भागना है। जीवन एक समस्या है। आइये हम वैज्ञानिक ढग से इसका हल निकालें। इस समय हमारे सामने जो स्थिति है उसमे मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?'

बिक्कू जी को ठडा देख मैंने पैनरा बदल कर कहा, 'अच्छी बात है, आप मुझे दूसरी डिक्शनरी ख़रीद कर दें।'

उन्होंने कहा, 'क्षमा कीजिये, यह मैं नहीं करूँगा।'

मैं चकराया। सोचने लगा हो न हो इसमें कुछ पेच है। अतः मैंने पूछा, 'क्यो ?'

बिक्कु जी ने यों उत्तर दिया जैसे किसी और के बारे में कह रहे हो, 'यही मुझे करना होता तो खुद ही डिक्शनरी खरीद कर न काटता।'

मैंने कहा 'चाहिये तो आप को यही था'

बिक्कु जी बोले, 'जी नहीं हरगिज नही चाहिये था। ऐसा करने से मेरा जीवन चरित चौपट हो जाता।'

मैंने पूछा, 'यह जीवन चरित क्या बला है ?'

बिक्कु जी ने फिर अत्यन्त विनम्र स्वर मे उत्तर दिया, 'साही साहब, आप लेखक है ? आपसे मिल कर मेरी धारणा फिर पक्की हो रही है कि लेखक लोग मूढ़ होते हैं और साहित्य-रचना निकम्मे प्रकार का कला सृजन है। असली कलाकार जीवन-चरित के दृष्टिकोण से सब काम करता है। मैं चाहता हूँ कि मेरे जीवन-चरित में लिखा जाय कि मैंने यह चित्र एक ऐसे आदमी की डिक्शनरी जबरदस्ती हथिया कर बनाया जिससे मेरा कुछ चौबीस घटे का परिचय था। क्योंकि इस डिक्शनरी को देखकर मेरी कलात्मक प्रतिभा रुक नहीं सकी। आप चाहे तो इस एक घटना पर ज़िन्दगी भर के लिए मेरे दुश्मन हो जॉय या दोस्त. हो जॉय। दोनों ही

है, आप मुझे दूसरी डिक्शनरी ख़रीद कर दें।'

उन्होंने कहा, 'क्षमा कीजिये, यह मैं नहीं करूँगा।'

मैं चकराया। सोचने लगा हो न हो इसमें कुछ पेच है। अतः मैंने पूछा, 'क्यो ?'

जीवन-चरित-वादी दृष्टिकोण अर्थात् बायग्राफ़ी प्वान्ट आफ़ व्यू कहते हैं। अगर आपने इस जरा सी बात पर दुश्मनी ठानी तो आपका जीवन-चरित जरूर चौपट हो जायगा, यह स्पष्ट है।'

यह अपूर्व व्याख्या सुनकर सिवा इसके कि मैं बिक्कु जी का दोस्त हो जाता और कर क्या सकता था ? अतः मैंने कहा, 'ठीक है, तो मैं दोस्त, होना ही कबूल करता हूँ। लेकिन बिक्कु जी, कलाकार का महत्त्व तो कलाकृति से बनता है। आपके चित्र उत्कृष्ट होंगे तो लोग यों ही आपके जीवन-चरित की व्याख्याएँ करेंगे।'

बिक्कु जी बोले, 'अब चूंकि आपने दोस्त होना स्वीकार कर लिया है अतः मैं कुछ कहता नही। लेकिन लेखको की निकृष्टता के बारे में मेरी जो धारणा है उसे नहीं बदल सकता। महाशय जी, लेखकगण ऐसी मूर्खता की बातें कर सकते हैं क्योकि अपनी कविताओं और उपन्यासों में वह यो ही बढा चढा कर अपना जीवन-चरित लिखा करते हैं। जो कला की दृष्टि से अनुचित है। एक चित्र और दूसरे चित्र मे कोई अन्तर नहीं होता। अन्तर होता है एक चित्रकार और दूसरे चित्रकार मे। इसलिये सफल चित्रकार होने के लिए चित्र से अधिक बायग्राफ़ी बनाना जरूरी है।'

वह दिन है। और आज का दिन है। इन तीन बरसों में बिक्कु जी के साथ निभाने के लिए क्या क्या नही भुगता। वह सब कहाँ तक गिनाऊँ। कल आखिरकार बिक्कु जी ने कहा, 'साही साहब, मैं जीवन-चरित-वादी-दृष्टिकोण से जी कर ही क्या करूँगा अगर किसी ने मेरी जीवनी लिखी नही।

मैंने कहा 'यह तो सही ही बात है।'

बिक्कू जी सोच कर बोले, 'आप लेखक हैं, अतः आप मेरा जीवन चरित लिखें।'

मैंने चौक कर कहा 'मैं ?,' फिर मुझे हँसी आई, 'मैं भला आपका जीवन चरित क्यों लिखूँ ?'

बिक्कु जी ने निहायत नरमी से कहा, 'महाशय इसमें हँसने की कोई बात नहीं है। मैं केवल एक लेखक के अभाव में अपने जीवन-चरित को चौपट नहीं होने दे सकता। अगर आपने मेरा जीवन चरित नही लिखा तो लाठी से आपका सर यों ही रंग दूँगा जैसे ब्रश से कैन्वस रगता हूँ।

नतीजा यह है कि बन्द कमरा है और मैं हूँ। एक मेज़ है, एक कुर्सी है, एक लैम्प है, एक फाउन्टेनपेन है और एक दस्ता काग़ज़ है। बाहर से लाठी की ठक ठक और बिक्कु जी की गरजती हुई आवाज आती है—'कितने पृष्ठ लिख लिए?'

और मैंने एक दस्ते कागज पर केवल एक वाक्य लिख रखा है।

'काश मैं एक गाय होता और इस एक दस्ते कागज को खा जाता।'

●

कलाकार और युगसत्य

रामबहादुर सिह मुक्त

●

१. भूमिका

समझदार की मौत
देखिये सोच रहा है
बैठ घर पर बाल शीश के
नोच रहा है
दाँताकिलकिल करता
जग की नासमझी पर
ले दे उसका अपना जीवन —
पोच रहा है!

२. युगसत्य का साक्षात्कार

लो मैंने तो इस दुनिया की नब्ज़ थाम ली
यह औंधी खोपड़ी—कि जिसको निपट निखट्टू
नचा रहे हैं अपने हाथों जैसे लट्टू
मिठबोलों की, मुंहजोरो की पाँचो उँगली
चौचक घी मे—जो बातों को घुमा फिरा कर
सच को झूठ, झूठ को सच कर देना जाने

वे सर्वेसर्वा कहलाते—वाह ज़माने !
लोट लोट तू उसके पाँवों पूँछ हिलाकर।
अक्खड़पन से जैसे को तैसा कह देना
यहाँ मना है—माफ़ पीठ में छुरी भोंकना
एक हाथ से देना दो हाथों से लेना
कला बड़ी—सबकी आँखों मे धूल झोंकना—
भाई मैंने गुर अब जग का जान लिया है
काम बनाना किसी तरह भी ठान लिया है।

३ प्रथम विरही : आदिकवि

विरह लटा देखा पटपर मे गधे चराता
फटेहाल; लोगो ! मत उसकी चिंता करना
धंधा उसने खोजा, उसे न भाया मरना
ख़ाहमख़ाह बिचारा दर दर क्या टकराता
बहरकैफ़ वह खुश है, जीता पीता-खाता
जाड़ा गर्मी बरखा—उसने सीखा सहना
दुखड़े का जो फेंक दिया बेमतलब गहना
बढ़िया सा दुनियादारी का ओढ़ा छाता
आबोहवा उसे ऊसर की माफ़िक आई
कायाकल्प होगया, बिल्कुल बदल गया है
रपटा, मगर रपट कर अब तो सम्हल गया है
दुर्बल अंगों मे बरबस दौड़ी तरुणाई—
हृष्टपुष्ट उसको पाया ख़ासा मुस्तण्डा
देखा उसे पैंतरे बदल भाँजता डण्डा।

४. परिणति

अब नहीं मै रह गया हूँ पुराना अहमक़,
आत्मा को रख दिया है इन दिनों बंधक
ठाठ से हैं चल रहे अब आजकल सब काम
छोड़ जब से दिये वे पचड़े सभी नाहक !

●

बच्चे और बड़े

एक संस्मरण, एक शिशुकथा और तीन कहानियाँ

●

माँ और उनकी अन्तरंग गोष्ठी

रघुवंश

●

मेरी माँ औरों की माँ जैसी थीं। पर उनके व्यक्तित्व की जैसी कल्पना मेरे सम्मुख है, उसके आधार पर केवल माँ कह देने से उनको समझा नहीं जा सकता। मेरा विश्वास है कि ९९वें प्रतिशत से भी अधिक स्त्रियाँ साधारण की परिभाषा से आगे नहीं बढ़ पाती। वे माँ होती हैं, बहिन होती है, पत्नी-प्रिया होती हैं, इससे अधिक उनमे अपना व्यक्तिगत कुछ भी नहीं रहता। पर मेरी माँ के विषय मे यह बात लागू नहीं होती। वैसे मैं मानने को तैयार हूँ कि मेरी ही तरह प्रत्येक व्यक्ति अपनी माँ को यदि चाहे तो असाधारण कोटि में रख सकता है। मेरी माँ की कल्पना के साथ बहुत कुछ उनका अपना आये बिना नहीं रह सकता। माँ की सुधि आते ही उनके चारो ओर घूमने वाले अनेक पात्रो की स्मृतियाँ कौंध जाती हैं। जान पड़ता है, माँ की कल्पना इनके बिना की नहीं जा सकती है। मुझे अपनी माँ की विशेष सुधि नहीं है। पर जो भी उनके व्यक्तित्व की रूप-रेखा सामने आती है, उसके प्रत्येक कोण तथा मोड़ इन्हीं विभिन्न पात्रों की छायाएँ बनाती हैं। माँ का एक अलग अन्तरग परिवार था जो उनका अत्यंत आत्मीय होते हुए भी साधारण परिवार की परिधि मे नहीं घिरता। और माँ के ये परिजन उनसे जितना स्नेह और साहचर्य पाते थे, वे उतने ही उनके प्रति समर्पणशील थे। वे सब माँ की अन्तरग गोष्ठी के विचित्र सदस्य थे।

माँ को गाँव-घर बहुत प्यारा था। अपने गाँव के प्रति उनकी अगाध ममता थी। वे कहती थीं कि मुझे अपने गाँव की मिट्टी और घर की ईंटों से प्यार है। मेरे लिये तब यह सब समझ पाना सरल न था। मैं कहता—'माँ, मिट्टी-ईंट से कोई कैसे प्यार कर सकता है?' पर माँ वैसे भी उत्तर नहीं देती थीं, उनके मन में तर्क-वितर्क अधिक उठता नहीं था शायद। जब उनके मौन से प्रोत्साहित होकर हम में से कोई भाई गाँव

और घर की जड़ता पर अधिक बल देता, उस समय न जाने क्यों माँ आर्द्र हो उठती उनका कंठ भर आता, उनकी आँखों में न जाने किस ममता के आँसू झलक आते। इसके आगे हम सब संकुचित हो उठते, क्योंकि हमारे लिये यह सह्य नहीं था कि माँ को किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचे। इसी बीच यदि जीजी आ गईं तो उससे हम लोगों की बहस भिड़ जाती क्योंकि वे माँ के समान ही गाँव को जननी जन्मभूमि मानती थीं और वे उसे स्वर्गादपि गरीयसी सिद्ध करने को तत्पर हो जाती। और हम लोगों को लड़ता छोड़ कर माँ अपने कामधाम मे लग जातीं।

अधिक समय के लिये माँ गाँव-घर को छोड़ नहीं पाती थीं। उनके सभी लड़के धीरे धीरे पहले पढने के लिये, फिर नौकरी के प्रसंग में गाँव छोड़ चुके थे। पर न जाने वह कौन सा मोह था, बन्धन था, जिसे तोड़ कर माँ अपने लड़कों के पास रह नही पाती थी। आज युग बीत जाने के बाद माँ का भाव मैं समझ रहा हूँ. पर इस समय वह सब समझ पाना कठिन था। मैं तो तब बहुत छोटा था, पर अन्य सब भाई माँ के इस आग्रह से सन्तुष्ट नहीं थे। कहते हैं जब बीमारी के कारण विवश हो माँ अन्तिम बार गाँव-घर को छोड़ कर लड़को के पास नगर जा रही थी, उस समय उन्होंने आँचल हाथ मे लेकर अपनी देहरी के पैर छूते हुए कहा था—"अब मैं लौट नहीं सकूँगी, यह मेरा अन्तिम प्रणाम है। मेरी भूल-चूक क्षमा करना और मेरे बच्चो पर तुम्हारा आशीष बना रहे।" इस क्षण माँ विभोर हो गई थी, उनके नेत्रो मे आँसू उमड़ आये थे और पास खडे हुए गाय के छोटे बछड़े को अँकोर मे भर कर वे रो पड़ी थी। फिर तो गाँव की प्रत्येक स्त्री से भेंट कर वे रोती रही, जैसे किसी नव-वधू की विदाई का दृश्य हो। पर माँ का रुदन मौन था, वे आसुओं मे रोती थीं। अधिक बोलने के समान सस्वर होना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था।

हम सब के लिये यह समस्या थी कि माँ चुपचाप रह कर क्या सोचती रहती है। इस सुझाव से भी हमारा सन्तोष कभी नही हुआ कि इस प्रकार माँ पूजा या जप करती हैं। हमारे पिता जी आस्थावान् थे। वे अपने व्यावहारिक जीवन मे भी पूजा-पाठ के लिये समय निकाल लेते थे। परन्तु माँ का यह स्वभाव नही था। उनको पूजा करते अथवा भगवान् का नाम लेते किसी ने देखा-सुना नही। किसी ने कभी पूछ भी लिया—"माँ जी, आप कभी भगवान् का नाम नही लेतीं, बाबूजी...।" तब माँ मीठी

हँसी के साथ उत्तर देतीं—"और मैं दिन भर करती क्या हूँ। तुम्हारे लाला का मन चारों ओर उलझा रहता है, इसलिये उन्हें भजन के लिये समय निकालना पड़ता है। मेरी पूजा तो मेरे चारों ओर हर समय बिखरी रहती है।' माँ की बात तब अधिक समझ नहीं पाता था, समझने जैसी बुद्धि भी नहीं थी। और सच तो यह है कि हम भाई-बहिन अपने लाला के पक्ष में अधिक थे, इस कारण माँ की बात का बुरा भी मानते थे।

आज जैसे माँ को कुछ समझ पा रहा हूँ, उन दिनों उनकी बहुत सी बातें हमारे लिये बहुत कुछ दुर्बोध पहेली थी। माँ के जीवन-क्रम में मानों कबीर का यह पद अनुगुञ्जित हो—

साधो सहज समाधि भली।
गुरु-प्रताप जा दिन तैं उपजी दिन दिन अधिक चली।
जहँ जहँ डोलौं सोई परिकरमा जो कछु करौं सो सेवा।
जब सोवो तब करौं दण्डवत पूजौं और न देवा।

माँ का वह अज्ञात गुरु कौन था यह तो मैं नही जानता, पर उन्हें सहज-समाधि सिद्ध थी ऐसा जान पड़ता है। परन्तु उनकी 'उन्मन-रहनी' का रहस्य कुछ अधिक गहरा था। वे निस्सग हैं, इसका आभास हम को होता था, पर वैसे वे अपनी स्नेहमयी छाया के साथ अपने चारों ओर घूमने वाले परिजनों को ममता के दृढ़ बन्धन मे बाँधे हुए थीं। साधना-समाधि की बात करना कठिन है, उसकी पात्रता मुझमे नहीं है, पर माँ की अन्तरग गोष्ठी के विषय में यह बात बिल्कुल ठीक बैठती है।

माँ के दैनिक जीवन में परिजनों का एक छोटा समूह था, जो जैसे प्रतिदिन उनके चारों ओर घूमता रहता था। आत्मीय भाव के अतिरिक्त माँ में किसी अन्य भाव की कल्पना करना कठिन है। उनका नौकर-चाकरों, बन्धु-बांधवों, पड़ोसी-मित्रों सभी के प्रति एक ही भाव था और वे एक ही संबंध मानती थीं। और इस भाव की अभिव्यक्ति वे इस मोठे ढग से करतीं कि प्रत्येक व्यक्ति यह समझता कि वह माँ के सबसे अधिक निकट है। जैसे वे सारे परिजन माँ के अन्तरंग के सदस्य हैं और उनकी यह गोष्ठी निरन्तर चलती रहती है। इस गोष्ठी के लिये न किसी को सूचना देनी पड़ती है, न कोई आता-जाता है और न सबको इकट्ठा ही होना पड़ता है। इस निरन्तर चलने वाली सभा के विभिन्न सदस्य अपने आप में अलग व्यक्तित्व

रखते हैं, परन्तु उनका जो छायाभास मेरे मन पर है वह माँ के व्यक्तित्व का जैसे अभिन्न अश हो।

तब हमारी बाल-मण्डली मे माँ की इस गोष्ठी के प्रति अच्छा भाव नहीं था। माँ का अपनी इस गोष्ठी मे व्यवधान सह्य नही था, हम लोग किसी चीज अथवा काम के लिये कितना ही चीखे-चिल्लाएँ। दूसरे, अतरंग के सभी सदस्य हम सब पर अपना शासन चलाने के लिये स्वतत्र थे। इन सब बातों पर हमारी बालमण्डली कडे प्रस्ताव ही नहीं पास करती, वरन पिता के सम्मुख कभी कभी डिपूटेशन भी माँ की शिकायत के लिये भेजा जाता। हम पिता जी के पास जाकर कहते—"लाला, माँ को बातों से छुट्टी ही नहीं मिलती।" पिताजी शायद माँ की इस आदत से स्वय भी प्रसन्न नहीं थे, वे भी कहते—"अरे भाई सुनती हो, यह तुम्हारी पचायत कब तक चलेगी।" माँ चिढ़ती नही थी—"लेकिन तुम सब की नौकरी में तो कभी कोई कमी मैं करती नही।" लेकिन कभी कभी माँ खीझ कर झल्ला भी जाती थी—"देखो, मैंने हजार बार कह दिया सबके सामने पचायत पचायत न कहा करो, आँख-कान-मुँह बन्द करके मुझसे जिया नहीं जाता।" पिताजी निरुत्तर हो जाते। वास्तव मे हम सब के किसी काम मे माँ कभी कोई कमी नहीं करती थीं, और हमको उनसे कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए थी। वह माँ की जिन्दगी थी और जीने का अधिकार सबको मिलना चाहिए।

माँ की गोष्ठी का पहला सदस्य था पागल शब्बो। उसका पूरा नाम था शबराती। वह ऊँचा पैजामा, गदी नीची अचकन पहने एक झोली में कागज पत्तर भरे—भकाभक-चिल्लाता हुआ घूमा करता था। लड़के उसके पीछे—'शब्बो मियाँ कागज लो—कागज लो' कहते दौड़ते और जब माँगने की मुद्रा में वह पीछे मुड़ता तो अँगूठा दिखाकर भाग खडे होते। उनकी खिलखिलाहट के साथ भकाभक का स्वर ऊँचा करता हुआ वह उनके पीछे कुछ दूर दौड़ने का अभिनय करता और फिर वापस लौट पड़ता। लड़कों के मन में पागल के प्रति भय का भाव था, पर विनोद की प्रवृत्ति ही अधिक थी। वे जान गये थे कि वह किसी को मारता-पीटता नही। अच्छे और सीधे लड़के उसको पुराना कागज लाकर देते और वह उनको प्यार के साथ नाव या टोपी बनाकर देता। सुना था कि वह कभी लड़कों को रेवड़ी भी खिलाता है। हम भाई-बहनो को यह सौभाग्य नहीं मिला, इस कारण इस

बात पर हम विश्वास नहीं करते थे। हाँ, अच्छे लड़के कहलाने के लिये हम उसको बहुत सा कागज इकट्ठा करके दिया करते थे, और चिढ़ाने का लोभ भी सवरण कर लेते थे, कुछ इसीलिये भी कि माँ को यह पसन्द नही था।

हमारे बरोठे मे आकर जब वह अपने कागजो का गट्ठर एक ओर रख तिपाई पर जम जाता तो मानो वह बिलकुल स्वस्थ हो जाता। वह पुकारता 'भौजी'। माँ को बडे भाई भाभी कहते थे और शब्बो भी इसी रूप में माँ को भौजी कहता। आज अजब लगता है कि सब नौकर चाकरों को छोड़कर वह पागल भी माँ को इस प्रकार पुकारने का साहस कैसे करता था। पर उन दिनों यह सब सुनने के हम अभ्यस्त थे, जीवन की सहज स्थिति यही थी। माँ काम मे व्यस्त होती तो हम लोगो को आज्ञा मिलती—"जाकर शब्बो से कह दो, माँ अभी आती है।" हम जानते थे कि माँ की यह आज्ञा निष्प्रयोजन है। शब्बो यह सब अपने आप जानता है और हमारे बिना कुछ कहे ही वह जम गया सो जम गया, अब उठने वाला नहीं। पर माँ की आज्ञा का उल्लघन करना हमारे लिये सरल नहीं था माँ हमको कभी कुछ कहती भी न थी, सजा देने की बात दूर रही, पर जब कभी वे कुछ होकर किसी से बोलना बन्द कर देती थी, तो उनके मौन को सहने का साहस हम मे से किसी को न था। जाकर हम माँ की बात शब्बो से कह आते और इस बीच हम लोग भी उससे बातचीत करते—प्रायः प्रश्न हमारी ओर से ही होते—'तुम कागज का क्या करते हो?' तुम रहते कहाँ हो? तुमको खिलाता कौन है? तुम्हारे कौन कौन है?' शब्बो हमारे प्रश्नों के सदा नये तथा विचित्र उत्तर देता—"कागज के जहाज़ बनाकर जर्मनी फतेह करना है।" कागज की तोप बनानी है दुश्मन हमला करने वाला है।" "खुदा बहरा हो गया, उसे सुनाई नहीं देता. इस वजह से खत लिखना पड़ता है"। 'रहने को सब मेरे ही घर हैं। यह नवाब सामने जिसका कोट है मेरे बाप का नौकर था, उसका कोट हमने ही बनवाया है। मैं जिस घर में बैठा हूँ, मेरा घर है, मैं रहता भी यहीं हूँ।" "खाना ही विष है, खाने से ही सब मरते हैं, भूख से मरने वाले बिरले हैं। हम तो हवा खाते हैं, बहुत मीठी चीज है, खाने से वास्ता रखती है। पर मिलती बहुत मँहगी है।" "कौन कौन हैं? कौन होता है—यही बीबी बच्चे खुदा ने ऐसे

बनाये कि अपने आप रीझ गये और बीबी का मन किसी पर आ गया, करती भी क्या बेचारी।"

इन्हीं बातो के बीच माँ आ जातीं और उनकी झिड़की हम लोगों पर पड़ती—"तुम सब उसे तंग ही करोगे, यह नहीं कि जा कर मूला दादा से कहो कि शब्बो मियाँ का खाना लाकर दे जांय।" फिर यह जानते हुए भी कि माँ मूला दादा से खाना लाने के लिये कह आई हैं, हम को घर जाना पड़ता। इसी बीच मूला दादा—उन दिनों घर के सभी नौकर चाकरों को इसी प्रकार पुकारने की परम्परा थी—मिट्टी की रकाबी मे दाल, सब्जी आदि तथा सकोरे मे पानी लाकर शब्बो के सामने रख देते। खाना जब सामने भली भाँति लग चुकता तो शब्बो खाना शुरू करता और माँ पूछतीं—"आज कई दिनों बाद दिखाई दिये शब्बो"। शब्बो खाते खाते ही जवाब देता—"भौजी, ज़रा ससुराल चला गया था, तुम्हारी बहू को लाना था न।" हम सब जानते थे कि शब्बो कही आया गया नही, यह सब उसकी मनगढ़न्त है। माँ बरोठे के अन्दर वाले दरवाजे पर खड़ी खड़ी विनोद से पूछतीं—"सब हालचाल अच्छा तो है।" शब्बो कुछ गहरी अनुभूति से कहता—"हाँ भौजी, अच्छे ही समझो!" माँ उसके आन्तरिक भाव को पकड़ कर विनोद करता—"फिर शब्बा, तुम अपनी घरवाली को लेते क्यों नही आये।" शब्बो खाने की तन्मयता के बीच कुछ विचलित जान पड़ता—"कहाँ अम्मा जी, वह तो मुझे दगा दे गई।" खाने मे अधिक व्यस्त होते हुए कह जाता—"औरतजात!" लेकिन माँ की ओर देख वह एकाएक चुप हो जाता और उसकी निरुद्देश्य दृष्टि मे भी एक निरीह भाव झाँक जाता। माँ का मन द्रवित हो जाता, वे किसी बात की कल्पना से अभिभूत होकर बात बदलती हुई कहतीं—"अरे शब्बो, मैंने तुम्हारे लिये कढी रख छोड़ी है, तुम को बहुत अच्छी लगती है न और यह मूला लाया ही नही। मैं तो भूल ही गई थी, अभी भेजती हूँ। मजे मे पेट भर कर खा लेना, और माँग लेना।" माँ इस प्रकार अपने ममत्व से उसे प्लावित करती हुई चली जाती और शब्बो गुम-सुम खाता रहता। कभी सोचता हूँ माँ का यह विनोद शब्बो के प्रति क्रूर था, पर यह भी स्पष्ट है कि शब्बो माँ से इसी बात की अपेक्षा करता था, शायद उसको इस पीड़ा से बहुत बड़ा आत्मसन्तोष मिलता हो।

माँ के व्यक्तित्व की दूसरी रेखा रम्पा का रूप धारण कर लेती है। माँ की गोष्ठी के अनेक छोटे बड़े प्रधान-अप्रधान पात्रो में रम्पा का स्थान काफी महत्त्व का था। हमारी बालगोष्ठी मे रम्पा जीजी के प्रति सद्भावना थी। गहरे साँवले रग की वह स्वस्थ तथा पुष्ट अगो वाली युवती थी और हम सब को अपनी बातो तथा भगिमाओं से खूब हँसाती थी और खेल में हम सब का साथ भी देती थी। इन्हीं कारणों से वह हम लोगो के बीच पापुलर भी अधिक थी। हँसते समय उसके बिल्कुल सफेद दाँत चमक जाते थे। पर उसके सबध मे सब से अधिक उबा देने वाली बात यह थी कि सारी दोपहर माँ और रम्पा न जाने क्या क्या दरा-छरा-बनाथा-फटका तथा पछोरा करती। न जाने कितनी प्रकार की दालें दली जाती और न जाने कितने व्यर्थ के काम होते रहते। रम्पा के भाव से यही लगता कि इन कामो का विशेषाधिकार उसी का है, पर माँ उसके साथ बराबर काम मे लगी रहती थीं। हाँ, वह हम लोगों पर जरूर इस बात की धौस रखती थी। जब जब हम उससे कहानी सुनने का आग्रह करते या चाहते कि यह हमको हँसाये तो वह यह भी कहती रहती—'बबुआ, हमको काम करना है, नही तो अम्मा खफा होगी।" वैसे हमने तो देखा नही कि माँ उस पर कभी बिगड़ी हों। माँ का आज्ञा थी हम सब रम्पा को रम्पा जीजी कहे। पर चिढ़ाने के के लिये हम सब माँ के पीछे उसे रम्पिया कह कर पुकारते थे, क्योकि माँ उसे इसी प्रकार पुकारती थी। वह इससे चिढती, और कभी कभी माँ से शिकायत भी करती—"अम्मा, देखो बबुआ हमको रम्पिया कहता है।" माँ मृदुल भाव से हम सब को डाँट देती थीं, शायद उन्हें मालूम था कि यह सब रम्पा को खुद भी अच्छा लगता है। कभी यदि हम उसको चिढ़ाना भूल जाते, तो वह स्वयं हमको चिढाती जिससे जवाब में हम उसको भी चिढ़ायें। माँ यह सब जानती थीं, इस कारण रम्पा की शिकायत को कभी महत्त्व नहीं मिला।

हाँ, तो हम सब को माँ का इस प्रकार घण्टों अनेक कामों मे लगा रहना कभी नहीं भाता था। पर माँ को जैसे काम करना ही अच्छा लगता। वे काम से साथ रम्पा से कुछ बातें भी करतीं। रम्पा छलती और माँ पछोरती रहती। रम्पा इस बीच अपनी बड़ी काली आँखों से हम को कुछ चिढाती जाती। हम भी इस ताक में रहते कि मौका पाकर धोखे में

उसे पीछे से गले में हाथ डाल कर गिरा दे। रम्पा स्वय सतर्क रहती और माँ हम लोगों को पास आते ही डॉटकर भगा देती थीं। न जाने कहाँ कहाँ की बातों के बीच माँ रम्पा से पूछतीं—"रम्पा तू अपनी सुसुराल नहीं जायगी।" रम्पा आन्तरिक गहराई से उत्तर देती—"वहाँ कौन है मेरा, अम्माँ।" माँ पूछतीं—"क्या सचमुच तूने अपने आदमी को छोड़ दिया।" रम्पा अपने आक्रोश को जैसे दाबते हुए कहती—"अम्मा, मैं उसे अपना आदमी नहीं मानती, और वह भी क्या आदमी है?" माँ गहरी सवेदना से प्रश्न करती—"वह कभी तुम्हे मनाने नही आया?" अपने क्षोभ को संकोच में दबाती हुई रम्पा जवाब देती—"आने को आया क्यों नही, दीदी ने जोर भी डाला, पर अम्मा, उस आदमी का मुझे विश्वास नही। आदमी मन का अच्छा हो तो गिर कर भी सँभल जाय, लेकिन मन के काले के काटे का मत्र नही। साफ जवाब दे दिया तू अपने मन का बना रह, मुझे मेरे ऊपर छोड दे।" माँ ने वातावरण हल्का करने के लिये बात बदली—"फिर रम्पा, और भी लोग तो आते होगे। अभी तो सारी जिन्दगी पड़ी है। किसी अच्छे का साथ कर ले।" रम्पा भारी मन से लजाती हुई कहती—"आने को तो अम्मा, बडे बडे धन्नासेठ आते हैं, न जाते कितनी कसमें खाते हैं अपने को बड़ा महापुरुख बखानते हैं। पर अम्मा, अब हिये में मरद जात पर विश्वास नही जमता।"

मा आश्वासन के स्वर में कहतीं—"नहीं री रम्पा, सभी एक से तो नहीं होते। अभी तेरी उमर ही क्या है, खाने-पहनने के दिन है। हाँ, सोच समझ कर काम करना अच्छा होता है।" कुछ देर रम्पा काम में व्यस्त रहती, फिर एकाएक माँ से पूछती है—"अम्मा, बड़ी जातवालों मे तो ऐसा नहीं होता। बिहाता को छोड़ देना क्या पाप है? अम्मा, क्या तुम समझती हो कि मैंने अपने आदमी को छोड़कर अधर्म किया है?" माँ कह उठती हैं—"नहीं नही रम्पा, यही बिल्कुल ठीक है। जो बुरा है उसे यदि सुधार न सको तो छोड देना ही उचित है। हमारी ऊँची जाति में यह नहीं चलता, पर हमारे यहाँ औरत का मूल्य भी क्या है? तुमने जो किया हैं रम्पा, वह तो मुझे गर्व की बात लगती है।" रम्पा प्रसन्न हो जाती, उसकी आँखों मे न जाने किस भाव के आँसू आ जाते। वह माँ के चरणों मे झुक कर कहती—"अम्मा, आप मुझे अपने पास ही बने

रहने दीजिये, मेरी जिन्दगी ऐसे ही कट जायगी।" माँ उसके झुके हुए सिर को उठा कर कहतीं—"पगली, कहीं किसी की माँ भी सदा बैठी रहती होगी।"

अब भला ऐसी अनावश्यक बातों से तथा धीरे-धीरे चलने वाले इस कामकाज से हम सब का जी क्यो न ऊब जाता। फिर हम भाई-बहिन माँ को यहां से उठाने के जाने कितने उपाय सोचते रहते।

माॅ की अन्तरंग के अनेक सदस्यो के बीच एक छोटे से पात्र की रेखा अधिक उभर कर सामने आती है। अभी इस गोष्ठी के अनेक साधारण और असाधारण पात्र बाकी है, पर मेरी स्मृति मे दीनू का चित्र अधिक उभर रहा है। दीनू हमारे घर के कहार मूला दादा की पहली पत्नी का पुत्र था, और अब उसकी स्थिति नाम के अनुरूप हो गई थी। लेकिन जाने किस कारण वह दीनू माॅ का प्रिय तथा विश्वासपात्र बन गया था। वह अधिकतर मां के चारो ओर चक्कर लगाया करता, मा की प्रत्येक आज्ञा को वह जैसे बटोरने मे दत्तचित्त हो। इस काले और दुबले लड़के की अब केवल आकर्षक आॅखें ही याद हैं।। वह अपनी आखो के भाव से बात करता था, मुंह से कम ही उत्तर देता था, कम से कम हम तो सुन नहीं पाते थे। लेकिन माॅ उसकी प्रत्येक बात सुन समझ लेती थी। हम को यह लड़का कभी नही भाया। खेलने-कूदने मे वह कभी अच्छा साथी सिद्ध नहीं हुआ। बहिन चिढकर कहती—"यह तो रहा भैंसे का गोबर, न लीपने का, न पोतने के काम का।" मां के इस स्नेहपात्र पर हम दयापूर्ण रहते, कुछ तो उसके सीधेपन से और कुछ माॅ की भावना की रक्षा के लिये।

मां के साथ साथ वह अपनी इच्छा से ही बना रहता। माॅ उससे कहतीं भी—"दीनू, तू जाकर लड़को के साथ खेल क्या नहीं आता।" पर वह माॅ की बात सुन कर भी गुमसुम खड़ा रहता। मां आॅखों से उसका भाव समझ पातीं और कहतीं—"अच्छा जाने दे, तू मेरे साथ ही बना रह।" फिर कुछ ही देर बाद मां उसको बतलाती—"देख दीनू, महराजिन से कह दे सब्जी यहाॅ दे जाय, हम काट लेगें, वह तब तक दूसरा काम देखे।" मां का काम सुनते ही दीनू स्फूर्तिमय हो जाता। कुछ ही देर में खुद ही सब्जी लादे-फाॅदे आ जाता। फिर माॅ के साथ वह तरकारी साफ करता—कटवाता और माॅ इस बीच उससे न जाने कितनी बाते करती

और दीनू उनका जबाव कुछ हूँ—हां में और अधिकतर अपनी मुद्राओं तथा आंखों के भावों से देता रहता। मां पूछती—"दीनू, तेरी नई मा तो बहुत अच्छी है।" दीनू मौन ही जैसे अपनी आंखों से कहता—"हाँ, हैं तो।" मां विनोदी प्रकृति की थी—"और तुझे प्यार तो करती हैं रे।" दीनू जैसे सिहर जाता है—उसे कल की मार याद आ जाती है। मां को इसका पता चल गया था और उन्होंने मूला की दुलहन से कहला दिया था कि आगे वह यह बात सुनने न पाये। दीनू भी जानता है, पर यह मां की बात का क्या उत्तर देता। मा को अपनी बात की निरर्थकता पर ध्यान जाता है, वह बात सभालती हुई कहती हैं—"नही दीनू, तू दुःखी न हो तेरी माँ मानो तुम्हें सामने लगेगी और प्यार भी करेगी।" अब तक दीनू की आंखो मे आसू आ गये थे, मा ने देख लिया—"अरे दीनू, तू मर्द बच्चा हो कर रोता है .फिर मैं तो हूँ।" एक क्षण रुक कर ही मां उससे कहती—"अरे जरा पानी का गगरा तो लाना, उठा सकेगा, तरकारी धो भी डाले।" दीनू का उत्साह फिर वापस आ जाता, वह आँसुओं के बीच जैसे मुस्कराता हुआ चला जाता। उसकी चाल मे मर्द बच्चा होने का भाव जैसे व्यक्त हो आता।

इस गोष्ठी के अन्य अनेक पात्र बहुत हल्की रेखाओं में आकर खो जाते है। घस्सू काका सफाई आदि से छुट्टी पा कर मां से एक बीड़ा पाने की आशा से आकर खडे होते और उनको पान के साथ बची हुई रोटियाँ भी मिल जाती। अरखिन नानी आकर अपने निकम्मे पति का रोना रो जातीं और मां का हाथ बटाने के पुरस्कार मे अचार-खटाई से लेकर दाल चावल तक जो चाहती मांग ले जाती। उनके नानी होने का भी एक रहस्य था, मां को पता लगा था कि अरखिन उनकी मां के गाँव की हैं, फिर क्या वह उनकी मौसी और हम सब की नानी अपने आप हो गई। इस सारी गोष्ठी में मन से अधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति जानकी दादा थे। वे गृहस्थ ब्राह्मण थे और मां के बहुत बडे सलाहकार। मां उनका आदर भी करती थीं और स्नेह भी। गृहस्थी की गम्भीर समस्याओ तथा उत्सवों के आयोजनों के सबन्ध में, मां के प्रमुख सहायक और योजक वे ही थे।

अन्त मे मुल्लो जिया का उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि उनकी कल्पना के बिना माँ का व्यक्तित्व पूर्ण नहीं होता और उनकी

स्थिति के बिना माँ की अन्तरग गोष्ठी की धारणा भी नहीं हो सकती। वस्तुतः गोष्ठी नाम की सार्थकता इन्ही को लेकर सबसे अधिक थी। उनके आने का समय विशिष्ट तथा निश्चित था। खाना-पीना समाप्त करने के बाद जब मां आराम की सास लेती हुई पानदान खोलतीं, उसी समय मुल्लो जिआ का उच्च स्वर सुनाई देता—"अम्मा सलाम! खाना-पीना हो गया क्या? आज मुझे तो देर हो गई। गृहस्थी भी ज जाल है और अम्मां बहुओं के भरोसे घर चलने से रहा।" यह कहते हुए वे आकर दालान के उसी दर के सामने के आसन पर बैठ जातीं जिसके एक ओर अम्मां अपना पानदान लेकर बैठी होती थीं। उनके बैठने के निश्चित स्थान थे, इसमे मेरे देखते कभी व्यतिक्रम हुआ नही। माँ पान लगाते लगाते ही कह देतीं—"तो मुल्लो, तुमने यह जजाल क्यो पाला है, बहू हैं, सौपो उन्हें, चलाएँ गृहस्थी, वे जाने उनका काम जाने। तुम तो खुद ही फसी हो मायाजाल मे।" मुल्लो जिआ कुछ सकुचित हो कर स्वीकार कर लेती—"वाह अम्माँ बात तो तुम्हारी ठीक है। सच्ची बात तो यह है कि बहुओ को हमारा दखल देना अच्छा नही लगता। पर ये बहुएँ अगर इसी तरह घर चलाएँगी तो घर मिट जायगा चलने का नहीं।" मां निस्पृह भाव से उत्तर देती—"जब सिर पड़ता है तब सब कर लेती हैं सब हो भी जाता है।"

सबधों की बड़ाई-छोटाई के अतिरिक्त माँ और मुल्लो जिआ मे सरल भावना ही अधिक थी। इस समय की बातें, काम के साथ न चल कर स्वच्छद रूप से प्रवाहित होती रहती थी, इस कारण गोष्ठी का रूप सबसे अधिक मुखर तथा मुक्त रहता। मुल्लो जिआ माँ के पास जग-जहान की खबरें ले आती और अपनी मनोरजक शैली में सुना जाती। अपनी-अपनी खाटों पर लेटे हुए हम सब को इन बातो मे बहुत रस आता है। पर जब जिआ भूत प्रेतो, जिन्न पीरो के किस्से सुनाती तो हमको अपने-अपने सुरक्षित बिस्तरों मे भी भय लगने लगता, यद्यपि उनके सुनने मे हम अद्भुत आकर्षण का अनुभव करते। मुल्लो जिआ इन सारी वार्ताओं तथा किस्सो का बिल्कुल सच कह कर ही वर्णन करतीं। माँ सुनती रहतीं, लेकिन अनेक बार जान पड़ता माँ वास्तविक श्रोता नहीं हैं। उनका ध्यान अन्यत्र है, वे इन बातों पर ध्यान नही दे रही है। लेकिन जिआ अपने किस्से कहने के प्रवाह मे इस बात की ओर ध्यान नहीं देतीं। पर कभी-कभी

जिश्रा की बातों के बीच में ही माँ किसी विशेष व्यक्ति या घटना के प्रति अनावश्यक रूप से उत्सुक हो उठती थीं और वे जिश्रा से अनेक प्रकार के प्रश्नो से न जाने क्या जान लेना चाहती थीं। परन्तु रोचक प्रसगो के बीच में इस प्रकार के व्यवधान हमको खलते थे—"रामू की बहू नहीं रही, अब उसके बच्चों का क्या होगा ? वह उनको कैसे रखता होगा ? बच्चो को, इतने छोटे बच्चो को बाप कैसे पालेगा ? अरे नई आवेगी तो उससे बच्चो की क्या बनेगा।" इस प्रकार गाँव की अनेक चिन्ताएँ माँ को उस समय घेरती और हमको लगता कि इस प्रकार कथा-वार्ता का आनन्द बाधित होता है। पर मुल्लो जिश्रा का भाव अक्षुण्ण रहता, वे अपनी कथाओं तथा हम लोगों की उत्सुकता में उतना ही रस लेतीं, और साथ ही माँ की करुणा से सवेदित भी होतीं।

इस प्रकार रात्रिकालीन यह गोष्ठी न जाने कब तक चलती रहती। इसमें मुल्लो जिश्रा की स्थिति प्रायः अनिवार्य मानी जा सकती है, पर अन्य पात्र और उनकी सख्या बदलती रहती थीं। अधिकतर हम लोग इस बीच मे सो जाते थे। परन्तु हमको माँ का एक रहस्य मालूम हो गया था। जिश्रा के जाने के बाद (कभी-कभी अन्तिम जाने वाले जानकी दादा भी रहते थे) माँ अपने आसन पर कुछ क्षण बैठी रहती, न जाने क्या सोचती रहती या केवल शांत मौन ही। फिर वे एक लम्बी गहरी साँस लेकर बहुत धीरे स्वर में कहती—"प्रभु ! दीनबन्धु, दीनानाथ !" और स्वथ चित्त होकर उठ खड़ी होती। कुछ देर मुँह साफ करने मे लगता और अन्त मे दीपक के पास जाकर कहतीं—"प्रभु तुम सब की चिन्ता करते हो... ।" आगे उनका स्वर उनकी विभोरावस्था मे डूब जाता और वे अपने आँचल से दीपक को बडे कोमल भाव से बुझा देतीं मानो किसी शिशु को थपकी देकर सुला दिया हो।

कट्टो

मालती परुलकर

●

एक थी गिलहरी उसका नाम था कट्टो (जैनेन्द्र वाली नहीं !)। कट्टो बड़ी चुलबुली थी। दिनभर पेड़ों की शाखाओं पर दौड़ती, घूमती थी और रात को थककर मां की गोद में सो जाती थी। कट्टो की मां होशियार थी। बरूद वृक्ष की ढोली मे उसका घर था। वर्षा के पूर्व कट्टो की मां अपना घर सूखी घास और पत्तियो से ढाक लेती थी ताकि पानी भीतर न आवे। चैत-वैशाख में आसपास के बगीचो मे, जामुन, अनार, आदि अनेक फल होते थे। कट्टो की मां अनार के दाने, या अन्य छोटे मोटे फल सुखाकर चौमासे के लिए अपनी कोठी मे भर लेती थी।

जाडे के दिनो मे कट्टो को खूब खेलने को मिलता था किन्तु ग्रीष्म में और वर्षा मे माँ उसे डांटती थी। कट्टो का जी घर मे रहकर ऊब जाता था पर बिचारी करती क्या ? गर्मियो के दिनों मे बाहर लू चलती थी और वर्षा के दिनो मे पानी।

वे दिन मई के दिन थे—दुपहरी की नींद से कट्टो जग पड़ी तो उसे चहचहाहट सुनाई दी।

आँखे मलते-मलते वह बाहर आई ढोली से ताककर देखा तो उस बरूद के वृक्ष पर सैकड़ो पर पक्षी बोल रहे थे। कट्टो ने पास की डगाल पर बैठे पक्षी से पूछा,

"भाई कहाँ से आ रहे हो ? और कहाँ जा रहे हो ?"

उसके नन्हें-नन्हें बोल सुनकर वह पक्षी प्रसन्न होकर बोला, "बहन, हम मुसाफिर हैं तुम्हारे प्रदेश मे मधुमास था। इसलिये पत्ती फूल हरे भरे और ताजे थे तो इधर आ गये और अब वैशाख शुरू हुआ है...धूप तेज हो गई है...सूखा-सूखा लगने लगा है इसलिये हम अपने देश को जा रहे हैं। रास्ते में विश्राम करने रुक गये थे......

कट्टो ने आँखें मिचमिचाते पूछा, "तो तुम्हारा देश कहाँ है ?

"मेरा देश तो यहाँ से पास है...वो देश बहन...वह नीला-नीला

पर्वत दिख रहा है, उसके पार निर्मल पानी की नदियाँ बहती हैं। मेरा देश बहुत सुन्दर है। तेज धूप नहीं पड़ती मूसलाधार वर्षा नहीं होती। जब चाहो तब घूमो...नाचो...गाओ।"

पेड़ पर से अन्य पक्षियो ने फिर एक बार एक ही आवाज में कलरव किया तब कट्टो का नया मुसाफिर भाई बोला, "अच्छा बहन...कभी हो सके तो जरूर आना...उस नीले पर्वत के पार। मेरे भाई बधु वहीं रहते हैं . .उनसे पूछने पर मेरा पता चल जायगा।...अच्छा प्रणाम।"

वह उड़ गया। कट्टो अपने अगले दोनों पांव मुंह को लगाकर काफी देर तक वहीं बैठी रही। पक्षियों के उस समूह को आँखों से ओझल होने तक देखती रही।

उस रात को घास के बिस्तर पर पडे-पडे उसने विचार कर लिया कि नीले पर्वत के पार के उस देश मे वह जायगी। कितना सुन्दर होगा वह देश। जहाँ तेज धूप नहीं, मूसलाधार वर्षा नही। जहाँ बारह माह ताजे रसीले फल खाने को मिलते हैं...

वह जरूर जायेगी।

दूसरे दिन मा को सोती देखकर वह जल्दी से उठी...सूरज भी न निकला था। पर वह ठहरेगी नही नही तो मां जग जावेगी।

नाश्ता किए ही बिना दौड़ने लगी...काफी दौड़ने के बाद वह थक गई। पीछे मुड़कर देखा बरूद का वृक्ष अन्य वृक्षों मे छिप गया था। अब सूरज काफी ऊपर आ चुका था और कट्टो को भूख लगी थी। वह रुक गई . आसपास कहीं छोटे-छोटे रूखे सूखे फल पड़े मिले उन्हे खाकर वह फिर चलने लगी। सामने देखा, वह नीला-नीला पर्वत अभी उतनी ही दूर था जितना बरूद वृक्ष से दिखाई देता था...नये देश के सपने देखते-देखते वह आगे बढ रही थी। एक दो घटे मे ही थकावट के कारण गति कम हो गई थी किन्तु मन में तीखी इच्छा थी कि वह उस पर्वत को पार करे।...

सामने सांटे का खेत था। कटनी हो चुकने के कारण अब सिर्फ पैने डठल बिखरे हुए थे। कट्टो के पॉवो मे शूल चुभने लगे। धूप तेज हो रही थी...उसे एकाएक अपनी मां की याद आई। मां उसे ढूँढती होगी...राह देखती होगी। किन्तु कट्टो घर लौटना नही चाहती। वह क्यो लौटे।

मां तो हमेशा उसे डांटती फटकारती है खेलने बाहर नहीं जाने देती... सहेलियों के साथ दिन भर घूमने नही देती।

१२ बजे उसने थोड़ा विश्राम किया और फिर दौड़ने लगी...बहुत दौडने के बाद सांटे का खेत पार कर लिया। एक ऊँचे टीले पर चढकर उसने देखा...बरूद का वृक्ष ही नहीं वरन् आसपास के वृक्ष भी आँखो से ओझल हो चुके थे। किन्तु वह नीला पर्वत ? वह तो अभी भी उतना ही दूर दिखता था जितना पहले दिखता था

साँझ तक चलती रही फिर भी वह पर्वत काफी दूर था अब उसका धीरज छूट गया उसके पाँवो मे थकावट आ गई.. पेट में चूहे कूद रहे थे .. सामने जगल शुरू हो रहा था साँझ हो रही थी। अब वह रात को कहाँ रहेगी ? क्या करेगी ? काश अच्छा होता वह अपने घर से न निकलती। किन्तु अब घर का रास्ता भी ढूँढना मुश्किल है।

वह रोने लगी। किन्तु एकाएक उसे लगा एक घनी-घनी काली छाया आसमान से नीचे उतर रही थी। कट्टो ने ऊपर देखा एक बड़ा विशाल गिद्ध, पख फैलाये उसकी ओर आ रहा था। कट्टो भय से काँपने लगी। गीध ने चोच मे उसकी नरम, मुलायम पूछ पकड़ ली तब भय के कारण वह चिल्ला भी न सकी। गिद्ध उसे चोच मे उठाये ऊपर ही ऊपर ले जा रहा था।

काफी अतर पार करने पर एकाएक गिद्ध की चोच से उसकी पूंछ छुट गई ..वह जोरों से नीचे आने लगी .भूमि की ओर। सारा आसमान मानो उसके चारो ओर चक्कर काट रहा था। किसी वृक्ष पर वह जोरो से आ टकराई और बेहोश हो गई।

घटों बाद वह होश मे आई...अग-अग चटक रहे थे। उसने आँखे खोलकर देखा, उसकी मां उसके सिर पर हाथ घुमा रही थी .

आर पूछ रही थी, "कहाँ गई थी बेटा ? गीध ने तुझे कहाँ से उठा लिया था ?" कट्टो की आँखो से आँसू बहने लगे।

मां की गोद मे मुँह डालकर उसने कहा, "मां ..."

●

'नरू का निर्णय'

शेखर जोशी

●

मध्यान्ह मे कालेज से घर लौट कर देखा, मेज पर दो निमंत्रण-पत्र मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। बेल-बूटो से चित्रित मुखपृष्ठ को उलट कर, अस्पष्ट टेढे-मेढे हस्तलिखित शब्दो की गुत्थी को सुलझा पाने पर ही अनुमान लगा पाया कि आज सायकाल ही दो युवा-हृदय परिणयसूत्र मे बध जायेगे। आग्रहपूर्ण शब्दो के भार से बोझिल पक्तियो को पढ कर असमजस मे पड़ गया। वरपक्ष तथा वधूपक्ष दोनो का ही आग्रह अपनी-अपनी ओर से इस शुभ-अवसर पर सम्मिलित होने का था।

वरपक्ष का सब से अधिक जिम्मेवार व्यक्ति नरू ही था। दो बार पुकार चुकने पर भी व्यस्तता के कारण वह मेरी आवाज न सुन पाया था। या सुन कर भी अनसुनी कर गया था। तीसरी बार पुकारने पर मुझे उपेक्षित नही होना पड़ा। मेरे हाथो मे अपने द्वारा टेढे-मेढे अक्षरो मे लिखे गये निमत्रण पत्र को देख कर सकुचाता हुआ सा वह विवाह की तैयारियो का विस्तृत ब्यौरा देने लगा। निमत्रण-पत्र को देख कर ही जैसे नरू सकोच मे गड़ा जा रहा हो इसी कारण मुझ मे दो बार कह ही गया कि समय की कमी के कारण निमत्रण-पत्र तक भी अच्छे नहीं बनवाये जा सके।

यह विवाह अकस्मात ही तय हो गया था। इतना शीघ्र कि गृहकुंडली अथवा जन्मपत्र देखने की नौबत तक न आई। इसका यह आशय कदापि नही कि पिछली चांदनी रात मे वर राजा ने कन्या से प्रेम निवेदन किया होगा या कन्या ही अचानक उन पर मोहित हो गई होगी। वास्तव मे वर वधू भी दोनो एक दूसरे से अपरिचित् ही थे कभी स्कूल या कालेज मे भी एक साथ नही पढे थे और न कभी सड़क पर आते जाते साइकिल एक्सीडेन्ट ही उनके मिलन का कारण बना था।

इसे सयोग ही कहेगे कि लखनउ और अजमेर जैसे दूर दूर शहरो मे रहने वाले दो परिवारों का मिलन ही एक विवाहोत्सव का कारण बन बैठा। भैया के विवाह के अवसर पर सभी कमरे मेहमानो से भर गये तो घर के तथा बाहर से आये हुए बच्चो ने 'बरसाती' मे अपने चौपाल जमाना प्रारम्भ कर दिया। यही जया और निम्मां का परिचय बढ़ा और जया को ज्ञात हुआ कि निम्मां का गुड्डा कालेज मे पढ रहा है; हाकी फुटबाल खेलने मे उसकी सानी का कोई नहीं। सौम्य-सुन्दर है, बीड़ी-सिगरेट तो दूर, चाय तक नहीं पीता। और यहीं निम्मां को ज्ञात हुआ कि जया की गुड़िया अभी स्कूल मे ही पढ रही है। खाना बनाने व कढाई-बुनाई मे प्रवीण है, गाने-बजाने मे तो दो-तीन बार इनाम भी पा चुकी है। जया ने यह भी बता दिया कि उसकी गुड़िया डाक्टरी पढना चाहती है और तभी निम्मा ने भी यह बता देना जरूरी समझा कि उसका गुड्डा अंग्रेजी की सब से बड़ी क्लास पास कर के वकील बनेगा।

दोनो ने ही मां-चाची के अनुकरण पर घर गृहस्थी की तकलीफे सुनाई, खर्चे-पानी का, बाजार की ऊची कीमतों का रोना रोया और वहीं यह निश्चय हुआ कि निम्मां का गुड्डा और जया की गुड़िया को शीघ्र परिणय सूत्र में बाध दिया जाय।

जल्दी जल्दी मे भला क्या हो सकता था? दूर के रिश्तेदारों की कौन कहे, निकट सम्बन्धियों को ही विवाह की सूचना नहीं दी जा सकी। जया इस विवाह के कारण अत्यधिक परेशान थी। सारी रात वह सामान जुटाती रही। यों चिन्ता तो निम्मां को भी थी। पर इतनी नहीं क्योंकि, उसे शादी-ब्याह जैसे कामकाज का कुछ अनुभव हो चुका था। पिछले साल ही उसके बडे गुड्डे की शादी हो कर चुकी थी। निम्मां को केवल यही चिन्ता थी कि बड़े गुड्डे की ससुराल वालों को इस विवाह की सूचना तक नहीं दी जा सकी थी। इतने निकट सम्बन्धी होने पर भी वे नहीं बुलाये जा सके थे। निम्मां सोच रही थी कि वापिस अजमेर जाने पर मंजु जरूर ही इस बात पर नाराज होगी कि गुड़िया वालों के घर के कामकाज हुआ और उसे कानों कान खबर तक न हुई

मंजु के लिये निम्मां के दिल में गहरा प्यार है। बड़े गुड्डे की शादी

में उसने दहेज के साथ जो चमकीला नेकलेस दिया था उसके कारण कारण वह निम्मा के अधिक निकट आ गई थी।

घर के सभी सदस्यों को दोनों ओर से न केवल निमत्रण-पत्र दिये गये थे वरन् व्यक्तिगत रूप में किसी से अगवानी मे, किसी से गीतों में और किसी से भोज मे शामिल होने का भी अनुरोध किया गया था। बच्चों की टोली तो जैसे इस विवाह की सूचना पाकर झूम उठी थी। कामकाज मे कोई जया का हाथ बटा रहा था तो कोई निम्मा का। निम्मां की इच्छा थी कि परदेश मे उसके गुड्डे की बारात मे बाराती इतने कम भी न हो जाय कि उसे अजमेर जाकर मजु के आगे शर्मिन्दा होना पडे और इतने ज्यादा भी न हो कि कन्या-पक्ष के रसोई-चौके मे ही कोर कसर रह जाय। उसे फिर पिछली बार बडे गुड्डे के ब्याह की याद हो आई जब मुहल्ले के सभी हमजोली बारात में शामिल हो गये थे और मजु ने अगवानी के बाद खिसिया कर उसे बताया था कि बारातियों को खिलाने पिलाने के लिये वह मां से केवल दस लड्डू ले पाई है।

मजु द्वारा दिये गये उपहारों की बात निम्मा से बार-बार सुन कर जया को मजु के प्रति अनजाने ही ईर्ष्या सी होने लगी थी। जया का अनुमान था कि घर के अन्य सदस्य भी निमंत्रण-पत्र पाकर उसकी गुड़िया के लिये उपहार आदि भेज देगे और फिर निम्मां को बार-बार मजु का दहेज याद न आयेगा।

परन्तु मौखिक और लिखित निमत्रण पत्र देने पर भी घर के अयाने-सयाने उस समारोह मे उपस्थित न हो सके। दो दिन पूर्व ही भैया की बारात लौटी थी। महीने भर की दौडधूप के बाद अब कहीं सांस लेने को फुर्सत मिली ता पुरुष-वर्ग हिसाब-किताब, लेन-देन की रही सही झगड़े निपटाने मे लग गया और स्त्रियाँ, भाभी के सम्मुख ही उनके पीहर से मिले हुए दहेज-टीके के सम्बन्ध मे अपना मत प्रकट करने का अवसर पा गई थीं। बरसाती मे होने वाले विवाह की जैसे इन लोगों को चिन्ता ही न थी।

नियत समय पर कन्या-पक्ष वालो के मडप के सामने निम्मां के गुड्डे की बारात आ पहुँची। जया की घबराहट बढ गई। उसने स्वप्न में भी यह न सोचा था कि जो हमजोली अभी तक काम मे उसका हाथ बटा रहे

थे अब बराती बनने का लोभ न सम्हाल सकने के कारण अचानक ही इस प्रकार विमुख होकर वरपक्ष वालो मे मिल जायेंगे। सचमुच ही उसकी आँखों में आँसू भर आये और यदि स्वय निम्मां ने आकर उसे सम्हाल न लिया होता तो स्थिति बिगड़ जाती। निम्मां का सहारा मिल जाने पर जया ने दुःखी स्वर में उसे यह भी बता दिया कि गुड़िया के गहने लखनऊ में ही रह जाने के कारण वह दुल्हन को सजा न सकी। इन शब्दों में दुःख, विवशता, याचना सभी कुछ था और एक अस्पष्ट सकेत यह भी था कि मंजु वाला चमकीला नेकलेस वह दुल्हन के लिये दे दे ताकि बारातियों के सामने दुल्हन तथा स्वय उसकी मान-मर्यादा फीकी न पडे।

विवाह-सस्कार सम्पन्न कराने के लिये नरू को ही पुरोहित बनाया गया था। नरू को यह सम्मानित पद यो ही नहीं प्राप्त हो गया। उसके भी प्रतिद्वन्दी थे जिन्हे पुरोहितपद से दक्षिणा प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा थी। लेकिन नरू दो दिन पूर्व ही भैया की बारात मे शामिल होकर गया था और इसीलिये निम्मां और जया को विश्वास हो गया था कि अपने अनुभव के कारण वही इस पद के लिये उपयुक्त होगा।

नरू ने विवाह-सस्कार कराने मे कोई कोर कसर न रखी। प्रत्येक विधि को उससे पूरे मनोयोग से सम्पन्न कराया। यथासंभव सस्कृत के मंत्र-पाठ सा ही उच्चारण वह करता रहा परन्तु जब स्मृति उसका साथ दे पाने मे असमर्थ हो गई तो उसने उसी गति से 'ट्विन्कल ट्विन्कल लिटिल स्टार, हाउ आइ वॅडर व्हाट यू आर' इत्यादि को भी सस्कृत के मत्र-पाठ का ही रूप दे दिया। बारातियो पर तो उसके पाडित्य की छाप पड़ ही चुकी थी। शास्त्रार्थ करने का साहस किसी मे न हुआ।

विवाह जब निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हो गया और बारात वापिस लौटने लगी तो दुलहन का रूप देखते ही बनता था। निम्मो ने उसे सजाने सँवारने के लिये न केवल चमकीला नेकलेस वरन् कुछ रेशमी वस्त्र भी दे दिये थे। घराती-बराती इस विवाह से पूर्ण सतुष्ट थे। जया की गुड़िया एक आध दिन अपनी ससुराल निम्मां के पास रह कर वापिस जया के पास आ गई थी।

गुड़िया के पास आभूषणो के नाम पर केवल मंजु वाला चमकीला नेकलस ही था! जया को यह अच्छा नहीं लगा कि उस नाममात्र के आभू-

षण को भी उसके शरीर से उतार कर उसे श्रीहीन कर दिया जाय, इसलिये निम्मां का चमकीला नेकलेस जया के पास ही रह गया।

शादी विवाह जैसे शुभ कार्य के तत्काल पश्चात् ही घरेलू वातावरण में कटुता उत्पन्न हो जाने की कल्पना तक नही की जा सकती और ऐसा अच्छा भी नही लगता। परन्तु दुर्भाग्यवश उस दिन घर में यही सब कुछ हो-हल्ला हुआ जिसके कारण सारे घर में एक अजीब मुर्दनी सी छा गई।

मध्यम वर्गीय परिवारो में लेन-देन, उधार-बदले का जो रिवाज चलता रहता है वही अल्प आय वाले इस घर मे भी हुआ था। यद्यपि पिता जी अपना समस्त सचय-धन भैया के इस विवाह में लगा चुके थे परन्तु तो भी सब कुछ अत्यन्त साधारण सा ही हुआ था। नवागता वधू के केवल हाथ कान के जेवर और अगूठी इत्यादि साधारण आभूषण ही बन पाये थे। कोई कठाभूषण न होने के कारण पिता जी चिन्तित थे और भैया भी अपनी अल्प आय मे से इस मुख्य आभूषण की कमी को पूरा कर पाने मे असमर्थ थे। अन्ततः यही तय हुआ कि फिलहाल काम चलाने के लिये किसी सगे-सम्बन्धी का कठहार लेकर यह कमी पूरी कर ली जाय और भविष्य मे जब कभी सभव होगा तो भाभी के लिये कठहार बनवा दिया जायगा। यह सुझाव दीदी को भी अच्छा लगा और उन्होंने अपना कठहार निकाल कर वधू के आभूषणो के साथ रख दिया।

विवाह के समय अथवा तत्पश्चात् कन्या-पक्ष वालो को यह बताना आवश्यक नहीं समझा गया कि कठहार वधू की सम्पत्ति होने जा रही है अथवा केवल इस अवसर पर दिखाने भर के लिये ही यह लिया गया है।

नववधू की स्वाभाविक कल्पनाओ के अनुसार भाभी ने भी दहेज और उपहारों की कोई कल्पना की होगी अथवा नहीं परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि अन्य सभी आभूषणो की अपेक्षा केवल कठहार को देख कर ही उन्हे कुछ सतोष हुआ होगा। मां, जीजी इत्यादि ने भी इतना शीघ्र कंठहार के सम्बन्ध मे बता देना उचित न समझा और कठहार भाभी के पास ही रहने दिया गया।

काम-काज की समाप्ति पर धीरे धीरे सभी सगे-सम्बन्धियों का अपने अपने स्थानों के लिये प्रस्थान भी प्रारम्भ हो गया था। एक दिन जीजी भी सपरिवार जाने की तैयारियाँ करने लगी, लज्जा और सकोच के मिल जुले

स्वर मे उन्हे भैया को बताना ही पड़ा कि भाभी से कंठहार लाकर उन्हें दे दिया जाय।

वही हुआ, जिसकी भैया, जीजी या स्वयं पिता जी ने कल्पना की होगी। भाभी को यह जान कर निश्चय ही गहरा धक्का लगा होगा कि वह साधारण हार भी उनका नहीं है, घूँघट मे ही मुँह छिपाकर वे सिसकने लगीं। कोई अन्य कारण होता तो सभी अपनी अपनी सहानुभूति जताते और उन्हे सान्त्वना देते परन्तु ऐसे समय मे कौन क्या कहता! सभी अपराधियों की भाँति लज्जित से मौन थे।

भाभी ने जेवरदान की कुंजी जीजी के आगे बढ़ा दी थी परन्तु जीजी मे इतना साहस न हुआ कि सिसकती भाभी के सामने ही उनका जेवरदान खोल कर कठहार निकाल लें। जीजी, जो आभूषण जुटाने के दिन अपनी सूझ-बूझ पर गर्वित थीं आज उसी सूझ बूझ पर पछता रही थी।

कमरे मे व्याप्त इस मौन को तोड़ने का साहस किसी मे भी न होरहा था। यह उदासी जैसे सभी का मुँह अपने पजे मे दबाये बैठी थी। सहसा कमरे की निस्तब्धता भग हो गई—बच्चो के लड़ने झगड़ने की आवाज़ ने कमरे मे जान डाल दी। निम्मा, जया, नरू, चनू तथा अन्य दो तीन बच्चे लड़ते झगड़ते वहाँ घुस आये थे।

लौट कर आने वाले परिवारों मे से एक परिवार की सदस्या निम्मां भी थी। आज अपने खेल-खिलौनों को ट्रंक मे सम्हालते हुए उसे मजु वाले चमकीले नेकलेस की याद हो आई थी।

नेकलेस के अभाव मे गुड़िया के श्रीहीन हो जाने के डर से अब जया की इच्छा उसे निम्मां को देने की नही थी। यों उसकी दलील भी ठीक ही थी कि नेकलेस दहेज मे दे दिया गया है और निम्मा को उसे वापिस लेने का कोई अधिकार नहीं है।

बच्चे जब आपस में लड़-झगड़ कर किसी निर्णय पर नही पहुँच पाये तो उन्होंने इस झगड़े का अधिकार बड़ों को ही देना उचित समझा।

कमरे में प्रवेश करते ही निम्मां और जया ने सम्मिलित स्वर में नेकलेस की सम्पूर्ण कहानी सुनाना प्रारम्भ कर दी। पिता जी, मा, जीजी,

भैया सभी इस बात की प्रतीक्षा मे थे कि कसी प्रकार कमरे में फैली हुई उदासी भंग हो जाय इसी कारण उन्होंने जया निम्मा द्वारा दिये गये स्पष्टीकरण मे कोई बाधा नहीं डाली। परन्तु जब निर्णय देने का समय आया तो सभी एक दूसरे का मुँह देखने लगे। इसी समस्या का निर्णय तो उन्हें भी चाहिये था।

बात टालने के आशय से भैया ने बच्चो को झिड़क कर बाहर चले जाने की धमकी दी। परन्तु वे लोग लड़ने झगड़ने में इतने व्यस्त थे कि किसी ने उनकी बात पर ध्यान ही नहीं दिया। बड़े लोगों से न्याय पा जाने की आशा से उन्हें वचित होना पड़ा था इस कारण वे लोग फिर आपस मे झगड़ने लगे।

मां, जीजी और पिताजी उदास से उन बच्चो को निहार रहे थे, शायद बच्चो के प्रति सीधे-साधे तर्कों को सुन कर ही कभी कभी पिता जी के चेहरे पर कुछ चमक सी आ जाती थी। भाभी भी घूँघट की ओट से एकटक बच्चों को देख रही थी।

न जाने क्या हुआ कि नरू को जया और निम्मा के तर्कों में कोई सार नहीं दिखाई दिया। अपने दोनो नन्हें नन्हें हाथों को कमर मे टिका कर धीरे गम्भीर स्वर में उसने उन दोनों से शान्त हो जाने की अपील की और फिर ज्यो कुशल न्यायाधीश अपना अन्तिम निर्णय देता है उसने अपने स्वर मे पूरा विश्वास भर कर आदेश दिया, "जया! निम्मा का नेकलेस लौटा दो। गुड्डे मे हिम्मत होगी तो वह अपनी गुड़िया के लिये एक नहीं दो दो नेकलेस ले आयेगा।'

जया पर इस बात का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह अपनी गुडिया के स्वामी को सबसे सम्मुख अपमानित होते न देख सकी और शायद यही बताने के लिये कि उसकी गुड़िया के गुड्डे मे दो दो नेकलेस ले आने की हिम्मत है उसने चुपचाप वह चमकीला नेकलेस निम्मां के हाथो मे रख दिया।

नरू के इस तर्क की उपेक्षा भाभी भी न कर सकीं, नीची नज़रों से उन्होंने भैया की ओर देखा, अधरों पर हल्की सी मुस्कान लाकर आगे बढ़ी और जेवरदान खोल कर कंठहार जीजी के हाथो मे रख दिया।

●

झुकी गर्दनवाला ऊंट

अजितकुमार

●

हमारे घर मे न जाने कब से एक छोटा सा ऊंट था, पीतल का। टेढ़ी-मेढ़ी टांगों के सहारे वह एक नन्हे-से स्टैंड पर खड़ा था। मुड़ी और झुकी हुई गरदन कुछ ऐसी थी कि बचपन में हम कभी-कभी उसे बगुला समझ बैठते थे। कुछ दिनो वह बगुला रहता...और हमे बड़ा अचरज हुआ करता कि बगुला है तो इसका वह तालाब कहां है, जिसके किनारे खड़े होकर यह मछलियों का शिकार करता होगा।...थोडे दिनों बाद मानों जादू के जोर से, वह फिर ऊंट हो जाता और जब कभी हम सचमुच का ऊट देखते तो अपने इस पीतल के ऊट की सुघरता पर फूले न समाते।

धीरे-धीरे वह उम्र आई कि हम जान गए कि यह छोटा सा खूबसूरत जानवर सिर्फ ऊट ही है—न सारस है और न बगुला। तबसे वह ऊट हमारी निगाह मे सदा के लिए सिर्फ ऊट होकर रह गया। धीरे-धीरे हमारी दिलचस्पी उसमे कम होती गई। हम दूसरी अनेक बातों को याद रखते-करते उसे लगभग भूल से गए।

सच है कि वह पीतल का छोटा सा ऊंट बाहर के उस कमरे में बहुत दिनों तक रखा रहा, जिसे हमने अब 'ड्राइगरूम' कहना सीखा था। यह भी सच है कि शुरू-शुरू मे यह मेज़ पर रहता था कि कमरे की शोभा बढ़ा सके। इतना सी नहीं, हम छोटे से थे और एक नुमाइश देखने गए थे तो हमने काले गटापारचे का हाथी ख़रीदने की ज़िद सिर्फ इसीलिए की थी कि जब हमारे पास ऊट है तो हाथी ही क्यों न हो! आज भी याद है कि हमने किसी दिन, न जाने क्यों हाथी का काला गटापारचा फाड़ डाला था और उसके भीतर सफेद खड़िया भरी पाई थी।

फिर पीतल के ऊट की चमक कम पड़ गई और बाहर के कमरे की योजना में न जाने क्या परिवर्तन आया कि ऊट को एक कोने मे रख दिया

गया। कोने से उठकर किस दिन वह अँधेरी कोठरी में रखी अंगड़-खगड़ की पुरानी सदूकची मे आ गया, यह इतिहास किसी खास महत्व का नहीं है। कितने दिन बेचारा ऊंट सदूकची में पड़ा रहा, यह जानने की भी कोई विशेष उत्सुकता नहीं होती। जरूर कई साल बीते होंगे।

इस बीच जिन्दगी कभी तेज और कभी धीमी रफतार से चलती रही। हमारी उम्र बढ़ती गई, हम बडे होते गए! यहा से वहा, और वहा से कहीं और—पढ़ने जाते रहे। बहुत घूमे, बहुत लोगों से मिले। बहुत तरह की बाते हमने सीखी। हममे कितना परिवर्तन आ गया: यह तो अब सोचने पर जान पड़ता है। उस समय, किन्तु हम मानो हवा के पखों पर उड़ते थे। आगे बढ़ते थे और बढते ही चले जाते थे।

...एक बार हम अपने घर को लौटे। सब कुछ पहले जैसा ही था पर कितना कुछ बदल चुका था! सबसे अधिक तो हमी बदले थे। हमने देखा कि घर वही है पर कितना पुराना जैसा दिखता है। लोग वही हैं पर कितने अजनबी से जान पड़ते हैं, घर वाले कितनी तेजी से बुड्ढे होते जा रहे हे, ड्राइग-रूम कैसा फीका-फीका सा है। दोस्त आएँगे तो क्या सोचेगे!

हमने निश्चय किया कि घर को साफ-सुथरा बनाएँगे, बाहर के कमरे का सजा देंगे। कुर्सियो की बेत उधड़ गई थी हमने बिनने वाले से कहा कि उन्हे ठीक कर दे। कुर्सियां न जाने कब से प्रयोग मे आते-आते मैली पड़ गयी थीं—हमने छोटी बहन से कह कर कपडे के खोल सिलवाए। कुर्सियो की पीठ पर खोल पहनाए गए। सभी को बड़े खूबसूरत लगे।... पर इतने स सतोष कैसे होता! पेपरवेट जरूर होने चाहिए। न जाने कब किस चीज़ की तलाश मे हमने पुरानी टान की सदूकची उल्टी-पलटी!

सदूकची मे पीतल का ऊँट पड़ा मिल गया। मैला हो गया था। फ़िर भी हमने उसे निकाला। ऊँट हमे कुछ जॅचा नही, पर छोटे भाई ने याद दिलाया-'दादा, ब्रासो ले आएँ, घर मे है।' हमने बिना किसी उत्साह के कह दिया, 'लाओ, देखे सही।'

पालिश के दो हाथ लगते ही जान पड़ा कि ऊँट मे जान आ गई। रग निखर आया, चमक सी आ गई। हमने रगड़-रगड़ कर उसे

साफ किया तो ऊँट की शकल ही बदल गई। फीकापन मिट गया और ऐसा जान पड़ा कि नया न सही, कुछ बहुत पुराना भी नहीं है।

चमकाए गए ऊट को लाकर पहले मेज के बीचोबीच और फिर एक कोने मे हमने रखा। नजदीक और दूर से उसे देखा और फिर—'चलो, कुछ भी न होने से तो गनीमत है',—कह कर संतोष की सांस भरी !

इस बार हम कुछ दिन घर मे रहे तो कुछ न कुछ संवारते ही रहे ! जिस दिन घर से जाने लगे तो मन मे भाव था कि देखो हमारे आने से घर कैसा व्यवस्थित हो गया।

...ज़िन्दग़ी का चक्कर फिर चला। हमने पढाई खत्म की। तरह तरह के लोगों से मिले। तरह-तरह की दुनिया में रहे। अब जादू का प्रभाव पहले जैसा न था। सपना (जो हमने देखा था) धीरे-धीरे टूट रहा था। जिंदगी, जिसने हमें लुभाया था, अब डरा रही थी। कौन जानता है ?—शायद इस बीच कभी हमने सोचा हो कि पीतल के ऊट का भाग्य अच्छा रहा ! जैसा वह पहले था, वैसा ही अब भी है। न बढ़ा न घटा। हम तो कितना बढ गए, कितना ही आगे बढ गए और अब घट रहे हैं। पीछे और पीछे को हटते ही जा रहे हैं। कौन जानता है--? शायद हमने ऐसा कभी सोचा ही हो !

सोचा भी हो तो हमें याद नहीं आता। शायद हमने ऐसा कभी नहीं सोचा। बल्कि हम जिन्दगी से चिपटें रहे और भाटे को ज्वार बना की कोशिश भरसक कर गए।

हार कर एक दिन हम घर आ गए। घर फिर से अव्यवस्थित हो चुका था। लोग पुराने हो चले थे। अब हमें खुद अपने मे नवीनता नहीं जान पड़ती थी। कुर्सियाँ टूट कर बनी थी और फिर टूट चली थी। हर चीज पर धूल सरीखी जमी थी और हमारी जिन्दगी पर भी बेकारी की धूल थी। हमे किसी बात में दिलचस्पी न थी, खुद अपने में भी नही।

लेकिन हमें एक दिन नौकरी मिल गई। हमें अपने क़स्बे में ही नौकरी मिल गई। यह एक लहर जैसी थी। पर हमको लगा कि जिन्दगी में जो जग लग गई है, उसे यह लहर कहीं और अधिक बढ़ा न दे। हम यों ही बेकार थे—डर लगा कि नौकरी लगने पर कहीं और भी न हो जांय।

प्रतिदिन पुराने होते जाते परिवार के लोगों के बीच में रह कर हमें यही सब बातें सोचने के लिए शेष थीं। सुबह दस से शाम के पांच बजे तक दफ्तर में फाइलों को उलटते और शेष समय में बीती हुई ज़िन्दगी को। हम बीती हुई जिन्दगी मे जीवित थे। भविष्य का हमारे लिए अस्तित्व न था और वर्तमान, बस निर्जीव था। हम जिन्दगी नहीं, ज़िन्दगी की लाश ढो रहे थे।

लेकिन बनाने-संवारने की वृत्ति हममे अब भी शेष थी। क्या जाने यह कैसा सस्कार था! इस लिए एक दिन जब हम दफ्तर मे अफ़सर की डांट खा कर लौटे तो झुंझलाकर हमने दीवार पर टगे पुराने कैलेंडर को फाड़ फेंका। पांच साल से यही कैलेंडर लटकाए हैं! शरम भी नहीं आती किसी को!

कैलेंडर तो जमीन पर गिर गया पर हम कुछ अचम्भे में आ गए। कैलेंडर के नीचे एक ताख था और उस पर धूल से लदा-फँदा ऊँट खड़ा था।

...जाने कैसी भावुकता हम पर छा गई! मन ही मन हम सोचने लगे कि कितनी मजिल तय की है इस बेचारे ने! कैसी थकान छाई है इस पर। कितना लबा समय और कैसा दूर का पथ पार करना पड़ा है इसे! और अब देखो: धूल से लदा-फँदा खड़ा है: क्लात, शिथिल, मौन, निर्जीव सरीखा! बेचारा ऊँट! पीतल का ऊँट?

जिन्दगी की इस लबी भाग-दौड़ मे लगातार यह ऊंट हमारे साथ रहा है। जब हम बच्चे थे तो यह हमारे साथ खेलता था, जब हम बडे हुए तो हमने इसे बार-बार पालिश लगा कर चमकाया था और अब...अब हमारे ही साथ यह खड़ा है धूल से लदा-फदा! जाने किस बोझ से इसकी गर्दन झुक गई है।

उस ऊट को हमने ताख से उठाया। धूल झाड़ी। गर्द पोंछी। उससे कहना चाहा कि हमने कभी भी उसे नही भुलाया। हम हरदम उसके साथ रहे हैं। हमें ऊट पर बड़ी ममता जागी। हमे ऊट बड़ा प्यारा दिखाई दिया। हमने गौर से देखा तो उसकी झुकी हुई गरदन और भी झुकी हुई जान पड़ी।

क्या जाने किस बोझ से बेचारे ऊँट की गरदन इतनी झुक गई है!

हममें एक विचित्र सा उत्साह जागा। नहीं, नहीं। गरदन झुकने की क्या बात है। हम तो साथ हैं। साथ-साथ चलने वाले हम सब सिर ऊपर उठा कर चलेंगे। कौन रोक सकता है, हमे किसी का भी भय नहीं है। ..

सोचा कि ऊँट की गरदन कुछ ऊपर उठा दें। उठी हुई गरदन वाला ऊँट हमारा साथी है। हमने हल्का सा जोर लगाया गरदन कुछ सीधी हुई. .हमने कुछ ज़ोर और लगाया ..ऊँट की लम्बी गरदन बीच से टूट गई।...

हम अचानक घबरा गए। हमने शीघ्रता से इधर-उधर ताका। किसी ने देख तो नहीं लिया कि हमने ऊँट को तोड़ डाला है? नहीं, किसी ने नहीं देखा।

मन विषाद से भर आया। देखो, हमने ऊँट की गरदन ही तोड़ डाली। कैसे हैं हम कि बनाने की कोशिश में सभी कुछ बिगाड बैठे। हम क्षोभ के मारे अकुला उठे।

शिथिल चरणो से कुछ देर कमरे में टहलने रहे। एक मुट्ठी मे ऊँट की टूटी हुई झुकी गरदन और दूसरी मे टेढ़ी-मेढ़ी टाँगो, ऊँचे कूबड़ और उठी हुई आधा गरदन वाला हिस्सा ! ...हम मेज के नज़दीक आए। ऊँट को हमने मेज़ पर खड़ा कर दिया। हमको उस क्षण जान पड़ा कि यह तो वह ढोंगी बगुला है जो रोज़ तालाब की मछलियों को खा जाता था लेकिन एक दिन एक केंकडे ने उसकी चालबाजी जान ली और बगुले की गरदन ही काट डाली। यह गरदन कटा हुआ बगुला ही तो यहाँ खड़ा है।

ऊँट की उठी हुई ऊँची गरदन अजब सी जान पड़ती थी। ग्रीवा उठाए हुए ऊँट किसे खोज रहा था? गरदन का झुका और वक्राकार दूसरा हिस्सा मेरी मुट्ठी मे था। धीरे से हमने उसे उठी हुई ऊँची ग्रीवा में लटका दिया। यह अजब दृश्य था। उठे हुए बूचे गले मे झुकी हुई टूटी गरदन झूल रही थी—धीरे, धीरे, धीरे। ऐसा लगता था मानो गरदन में सुरीली घटियों को लटकाए हुए कोई ऊँट सुदूर रेगिस्तानो को पार करता हुआ आया है और अभी न जाने किन-किन देशो तक जायेगा। सारे रेगिस्तान पथ को उसने सुरीली घटी के माधुर्य से गुंजित कर दिया और अब आने वाले रास्तों पर उसकी घटियाँ सफल यात्रा के जयघोषों से भर कर

ग्रौर भी सुरीली हो जायँगी। धूल से लथ-पथ, क्लान्त ग्रौर उदास ऊँट की गरदन टूट गई। ग्रविराम गति से ग्रागे बढते रहने वाले ऊँट की गरदन में एक ग्रौर जयमाला पड़ी जो ग्राने वाले हर सुनसान को ग्रपनी सुगन्धि से भर देगी। .उठी हुई ग्रीवा की खोज सार्थक हो गई।

टेढे-मेढे, किन्तु ग्रडिग पैरों पर खड़ा ऊँट ग्रपने गले मे खुद ग्रपनी ही टूटी गरदन डाले था। झुकी हुई गरदन झूल रही थी, धीरे,धीरे,धीरे। ग्रागे बढते हुए कारवाँ की घटियो का सगीत मेरे प्राणों मे भरता जा रहा था। मैं ऊँट को ग्रपलक देखता ही जाता था।...

घर के भीतर शाम झुक ग्राई थी। सब लोग चुप ग्रौर ग्रपने कामों मे व्यस्त थे। हमने जाकर रोशनी जलाई। पूछा कि चाय बन गई या नही? ग्राज सब लोग एक साथ बैठ कर चाय पियेगे।.. हमने सबको एक कहानी सुनाई कि कैसे एक बच्चा था जिसने ग्रपने प्यारे साथी को खो दिया था। बडे होने पर एक दिन ग्रचानक ही वह ग्रपने बिछुडे हुए साथी को पा गया। ग्रधियारे में भटकती हुई जिदगी को जैसे उजाला मिल गया।...

सब लोग दग थे कि ग्राज हम कैसे बदले-बदले से हैं। हम बहुत खुश थे। बाकी लोग भी किस कदर खुश थे।

●

आर्द्रा

मोहन राकेश

●

बचन को थोड़ी ऊँघ आ गयी थी पर खटका सुन कर वह चौंक गयी। इरावती ड्योढ़ी का दरवाजा खोल रही थी। चपड़ासी गणेशन आ गया था। इसका मतलब था कि आठ बज चुके होंगे। बचन के शरीर में ऊब और झुंझलाहट की झुरझुरी भर गयी। बिन्नी न रात को घर आया था और न सुबह से अब तक उसने दर्शन दिये थे। इस लड़के की वजह से वह यहाँ परदेस में पड़ी हुई थी जहाँ न कोई उसकी जबान समझता था और न वह किसी की ज़बान समझती थी। एक इरावती थी जिससे वह टूटी फूटी हिन्दी बोल लेती थी, हालाँकि उसकी पजाबी हिन्दी और इरावती की कोकणी हिन्दी मे जमीन आसमान का अन्तर रहता था। कभी इरावती भी उसकी सीधे-सादे शब्दों मे कही हुई साधारण सी बात को नही समझ पाती तो वह बुरी तरह अपनी विवशता के खेद से दब जाती थी। और इस लड़के को जरा चिन्ता नहीं रहती थी कि माँ किस मुश्किल से दिन काटती है और किस बेसब्री से मेरी इतज़ार करती है। आये तो घर आ गये, नहीं तो जहाँ हुआ पड़ रहे! ऐसे ही करना था तो माँ को पास बुलाने की क्या जरूरत थी?

एक मादा सूअर अपने छः बच्चों के साथ, जो अभी नौ-नौ इच से अधिक ऊँचे नहीं हुए थे, कुएँ की तरफ से आ रही थी। तूत के बुड्ढे पेड़ के पास पहुँच कर उसने हुँफ् हुँफ् करते हुए दो एक बार नाली को सूँघा और फिर पेड़ के नीचे कीचड़ में लोटने लगी। उसके नन्हें आत्मज उसके उठने की राह देखते हुए वहीं आसपास मँडराने लगे।

दिन भर गली में यही सिलसिला चलता था। आसपास सभी घरों के लोगों ने सूअर पाल रखे थे। बस्ती के लोगों के दो ही धंधे थे—सूअर पालना और नाजायज शराब बनाना। ये दोनों ही चीज़ें उनके दैनिक आहार में

शामिल थी। बस्ती, सैंटाक्रुज़ के हवाई अड्डे से सिर्फ आधा मील के फ़ासले पर थी, पर पुलीस की आँख वहाँ नहीं पहुँचती थी। मोनिका का बाप गली में ही भट्ठी लगाता था। वह गली का सबसे बड़ा पियक्कड़ भी था और अक्सर पी कर गली मे गाता हुआ चक्कर लगाया करता था—ओ दैट आई हैड विंग्ज़ आफ एंजल्स, हियर टु स्प्रेड एंड हैवनवर्ड फ्लाऽऽइ...

उस समय भी वह रोज की तरह कुएँ के मोड़ के पास से लड़खड़ाता हुआ आ रहा था। उसके शब्द बचन की समझ के बाहर थे, परन्तु उसका स्वर उसके हृदय मे दहशत पैदा करने के लिए काफी था—ओ दैट आई हैड, विंग्ज़ आफ एंजल्स, हियर टु स्प्रेड एंड हैवनवर्ड फ़्लाऽऽइ। आई वुड सीक द, गेट्स आफ सायन, फार बियाड द स्टारी स्काऽऽइ...होइ-हो! हो-हो-हो! हो!...ओ दैट आई हैड, विंग्ज़ आफ़ एंजल्स,...

उसका चौड़ा चोकोर चेहरा वैसे ही भयानक था, फिर वह अपने ढीले-ढाले काले सूट मे और भी भयकर दिखायी देता था। उसका चेचक के दाग़ो और झुरियो मे भरा चेहरा दीमक खायी लकड़ी की याद दिलाता था। दूर से ही उस आदमी की आवाज़ सुन कर बचन का दिल धड़कने लगता था और वह अपना दरवाजा बद कर लेती थी। उसने कितनी बार बिन्नी से कहा था कि वह उस बस्ती से मकान बदल ले, पर वह हर बार यह कह कर टाल देता था कि बबई की और किसी बस्ती में बीस रुपये महीने मे इतना अच्छा मकान नहीं मिल सकता। बचन डर के मारे बिन्नी के आने तक लालटेन की लौ भी ज्यादा ऊँची नही करती थी। अँधेरा उसे बोझिल प्रतीत होता था पर वह मन मारे चुप बैठी रहती थी।

लालटेन की चिमनी नीचे से आधी काली हो रही थी। बचन मे उसे साफ करने का उत्साह नहीं था। अँधेरा होने लगा तो उसने फ़र्ज़ पूरा करने के लिये उसे जला दिया और अज्ञात देवता के आगे हाथ जोड़ने की प्रक्रिया पूरी करके घुटनो पर बाहे रख कर बैठ रही। सामने मोढ़े के नीचे लाली का कार्ड रखा था। वह लाली के अक्षरो की बनावट जानती थी पर हज़ार आँखें गड़ा कर भी वह उनका अर्थ नहीं जान सकती थी। कार्ड आये छः आठ घटे हो गये थे। बिन्नी के सिवा वहाँ हिन्दी का कार्ड पढ़ने वाला और कोई नहीं था। वैसे बिन्नी से कार्ड पढवा कर उसे सुख नहीं मिलता था। वह लाली की चिट्ठी इस तरह पढता था जैसे वह उसके बडे

भाई की चिट्ठी न होकर गली के किसी गैर आदमी के नाम आयी किसी नावाकिफ़ आदमी की चिट्ठी हो। दो मिनिट में वह पहली सतर से लेकर आखिरी सतर तक सारी चिट्ठी बाँच देता था और फिर उसे कोने में फेंक कर इधर-उधर की हाँकने लगता था। उससे चिट्ठी सुन कर वह हमेशा कुढ़ जाती थी और कहती थी कि आगे से कभी वह उससे चिट्ठी नहीं पढ़वाएगी। मगर परदेस मे और कोई चारा भी नही था और बिन्नी उसे नाराज देखता था तो चार बातें बना कर खुश कर लिया करता था।

उसे खुश होते देर नहीं लगती थी। बिन्नी इतना बड़ा होकर भी उससे बच्चे की तरह लाड़ करने लगता था। कभी उसकी गोदी मे सिर रख कर लेट जाता और कभी उसके पैरो से गाल सहलाने लगता। ऐसे क्षणों मे उसका हृदय पिघल जाता और वह उसके बालों पर हाथ फेरती हुई उसे अपनी छाती से लगा लेती।

"माँ, तेरा छोटा लड़का कपूत है। है न ?" वह कहता।

"हा-ह !" वह हटकने के स्वर मे कहती, "तू कपूत है ? तू मेरे चन्ना,...!" और वह उसका माथा चूम लेती।

लेकिन अक्सर वह बहुत तग हो जाती थी। आज की तरह अनेकों रातें ऐसी गुज़रती थीं जब वह घर नहीं आता था। वह उस अँधेरे घर में जिसकी छत नीचे दबाने को आती थी, अकेली करवटें बदलती रहती थी। अकेली होने पर उसे बहुत कम नींद आती थी। ज़रा आँख झपकने पर बुरे बुरे सपने आने लगते थे, इसलिए वह जानबूझ कर भी जागती रहने का प्रयत्न करती थी।

और जब वह आता तो अपने मे ही उलझा हुआ और व्यस्त सा। वह समझ नहीं पाती थी कि उसे किस चीज की व्यस्तता रहती है। जहाँ तक कमाने का सवाल था, वह मुश्किल से महीने मे साठ सत्तर रुपये घर लाता था। कभी दस रुपये ज्यादा ले आता तो अपनी पचास माँगें साथ उसके सामने रख देता। इस बार माँ ! दो कमीजें सिल जायें और एक बढ़िया सा जूता आ जाय। उसकी बातों से उसके ओठों पर एक खुश्क सी मुस्कराहट आ जाती थी। दस रुपये मे उसे घर भर का सामान चाहिए! और जब कभी वह पूरे रुपये भी नहीं ला पाता तो महीने भर की बड़ी

आसान सी योजना प्रस्तुत कर देता—दूध-सब्जी का नागा, दाल, प्याज, खुश्क फुलके और बस !

वह जानती थी कि वह ट्यूशन-ऊशन करके कुछ रुपये ले आता है, नहीं तो सही अर्थ मे वह बेकार ही है। उसके बड़े बड़े मनसूबे थे और वह उनका बखान करते समय छोटा मोटा भाषण दे डालता था, परन्तु वे मनसूबे पूरे करने के लिए जिस दुनिया की जरूरत थी, वह दुनिया अभी नहीं बनी थी और वह जोश से उँगलियाँ नचाकर कहा करता था कि माँ वह दुनिया बन जाएगी, तो तुझे पता चलेगा कि तेरा नालायक बेटा कितना लायक है !

"चुप रह खसम-रखना !" वह उसे प्रशंसा की दृष्टि से देखती हुई कहती, "बड़ा लायक तू ही है !"

"माँ, मेरी लियाक़त मेरे पेट मे बन्द है !" वह हँसता, "जिस तरह हिरन के पेट मे कस्तूरी बद होती है न, उसी तरह। जिस दिन यह खुलकर बाहर आएगी, उस दिन तुम्हे पता चलेगा !"

उसे उसकी ऐसी बातों से उस पर गर्व होता था, पर कई बार जब वह बहुत गुमसुम और बद बद सा रहता तो उसे बहुत उलझन होती।

उसके साथ उसके अजीब अजीब तरह के दोस्त घर आया करते थे। उन लोगों का शायद कोई ठौर ठिकाना नही था, क्योंकि वे आते तो दो दो रातें वहीं पड़े रहते और खाने पीने के मामले में बड़ी बेतकल्लुफी से काम लेते। वे जब चूल्हे से उतरती हुई रोटी के लिए आपस मे छीना-झपटी करने लगते तो उसे खुशी भी होती थी पर अक्सर उसकी दाल की पतीली खाली हो जाती और वह देखती कि उन लोगों की खाने की कामना अभी बनी हुई है, तो उसे घर का अभाव अपना अपराध प्रतीत होता था। ऐसे समय उसकी आँखों में गहरी व्यथा भर जाती और वह ध्यान बँटाने के लिए दूसरे दूसरे काम करने लगती। वे लोग रूखी नमकीन रोटियो की फरमाइश करते तो वह चुपचाप उन्हें बना देती, हालाँकि उन्हें खिलाने का उसका सारा उत्साह निचुड़ चुका होता।

और उन लोगों के बहस मुबाहिसे कभी शांत नहीं होते थे। वे सब बहुत जोर जोर से बोलते थे और इस तरह एक दूसरे से उलझ जाते थे जैसे

उनकी बहस पर ही धरती और ईश्वर की सत्ता का दारोमदार हो। वे कई बार इतने गर्म हो जाते थे कि लगता था कि एक दूसरे को नोच खायेंगे, मगर सहसा उस गर्मागर्मी के बीच एक क़हक़हा फूट पड़ता और वे एक दूसरे से बग़लगीर होने लगते। बिन्नी बचपन में बहुत खामोश लड़का था पर अब उसे इस तरह हुडदंग करते देखकर उसे आश्चर्य होता था। कई कई घटे घर मे तूफ़ान मचा रहता था। उसके बाद फिर नीरवता छा जाती थी, जो बहुत ही अस्वाभाविक और दम घोटने वाली प्रतीत होती थी। जब बिन्नी दो दो दिन घर नहीं आता तो उस नीरवता के ओर-छोर गुम हो जाते थे और वह अपने को सदा से गहरे शून्य अँधेरे एकान्त मे पड़ी हुई महसूस करती थी, जिसके दबाव से उसकी आत्मा छटपटा उठती थी।

जब अँधेरा गहरा होने लगा और मोनिका का बाप जाकर अपने कमरे मे बंद हो गया तो उसने दरवाजा खोल लिया। मादा सूअर और उसके बच्चे सामने घर के अहाते मे डेरा जमाये थे और एक मोटा सूअर नाली के पास हुँफ् हुँफ् कर रहा था। हवा तेज हो गयी थी और तूत के बुड्ढे पेड़ की डालियाँ बुरी तरह हिल रही थीं। आसमान का जो छोर दिखायी देता था वहाँ रह रह कर बिजली चमक जाती थी। चार महीने से प्रायः रोज ही बारिश हो रही थी। घर से कुएँ तक गली मे कीचड़ ही कीचड़ भरा रहता था। इस कीचड़ के लिए बचन को लड़के लड़कियों की उस टोली से गिला था जो वर्षा आरम्भ होने से पूर्व आधी आधी रात तक गली में घूमती हुई तारस्वर में ईश्वर से पानी बरसाने का अनुरोध किया करती थी। अब सारा दिन जैसे उन्हीं की वजह से गली में चिपड़ चिपड़ होती रहती थी।

गणेशन की ड्योढी के दरवाजे पर फिर दस्तक हुई। इरावती ने दरवाज़ा खोल दिया तो बिन्नी उधर से मुस्कराता हुआ अन्दर आ गया।

"आगे की तरफ़ कीचड़ बहुत है भाभी!" उस ने कहा और अपने कमरे में चला आया। इरावती ने उस पर एक शिकायत भरी नजर डाल कर अपना दरवाज़ा बद कर लिया। बिन्नी के सिर के बाल बुरी तरह उलझे हुए थे, और उस का कुर्ता पाजामा बेहद मुचड़ा हुआ था। यह स्पष्ट था कि वह रात को जिस हाल में सोया था अभी तक उसी हाल में था और सुबह से अब तक उसे हाथ मुँह धोने का भी अवकाश प्राप्त नहीं हुआ था।

'माँ, जल्दी से खाना डाल दो, बहुत भूख लगी है !' उस ने आते ही चारपाई पर फैलते हुए आदेश दिया। बचन चुपचाप अपनी जगह पर बैठी रही। न वह उठी और न ही उस ने कुछ कहा। कुछ क्षण की प्रतीक्षा के अनन्तर बिन्नी ने सिर उठाया, "माँ, खाना ..."

"खाना आज नहीं बना है", बचन बोली, मुझे क्या पता था कि लाट साहब आज भी आयेंगे कि नहीं ? कल रात का खाना मैंने सबेरे खाया, सबेरे का अब खाया। मैं किस तरह हर वक़्त बासी खाती रहूँ ? ... किसी तंदूर पर जा कर खा आ।"

बिन्नी हँसता हुआ उठ बैठा और माँ के मोढे के पास चला गया।

"यहाँ तदूर हैं कहाँ जहाँ जा कर खा लूँ ?" वह बोला,, "मेरे हिस्से की जो बासी रोटी रखी थी थी वह तुमने क्यो खायी ? मेरी बासी रोटी निकालो ..." और वह माँ का घुटना पकड़ पर बैठ गया।

'मेरे पेट से निकाल ले अपनी बासी रोटी !' बचन ने वाक्य आरम्भ तो किया था मीठी झिड़की के रूप मे, पर समाप्त करते करते उस की आँखें गीली हो गयीं।

बिन्नी ने उस की गीली आँखे नहीं देखीं। वह उठ कर रोटी वाले डिब्बे की ओर बढ़ता हुआ बोला, "डिब्बे में रखी होगी, ज़रूर होगी।"

बचन ने उस से बचा कर अपनी आँखें पल्ले से पोंछ लीं। बिन्नी रोटी वाला डिब्बा ले कर उस के सामने आ बैठा। उस मे कटोरा भर दाल और एक कपड़े मे चार रोटियाँ लपेट कर रखी थी। बिन्नी ने कपड़ा खोल कर जल्दी से एक रोटी तोड़ ली।

"यह ताज़ी रोटी है !" वह ग्रास मुँह मे ठूँसे हुए बोला।

"बासी रोटी खाने को माँ जो है !" कह कर बचन उठ खड़ी हुई और उस ने पानी का गिलास भर कर उस के पास रख दिया। बिन्नी ने एक घूँट मे ग़टाग़ट गिलास खाली कर के रख दिया और बोला, 'और !'

बचन ने गिलास उठा लिया और सुराही से उसमे पानी उँडलती हुई बोली, 'लाली का कार्ड आया है।'

"अच्छा !" कह कर बिन्नी रोटी खाता रहा। उसने कार्ड के सबंध मे जरा भी जिज्ञासा प्रकट नहीं की। बचन का दिल दुख गया। वह गिलास बिन्नी के आगे रख कर बिना एक भी शब्द कहे पीछे अहाते मे चली गयी। वहाँ वह अपनी चारपाई पर दरी डाल कर पड़ गयी। उसका दिल उछल

कर आँखों में वह आने को हो रहा था पर वह अपने को संयत किये रही। थोड़ी देर बाद बिन्नी जूठे पानी से हाथ धो कर मुँह पोंछता हुआ अन्दर से आ गया।

"कहाँ है कार्ड ?" उसने पूछा।

"कहीं नहीं है" बचन ने रुँधे से स्वर में कहा और करवट बदल ली।

"अब बता भी दो, जल्दी से सब समाचार पढ़ दूँ।"

"सो जा, मुझे कोई समाचार नहीं सुनने हैं।"

"नहीं कैसे सुनने हैं, मैं अभी सब सुनाता हूँ।" कह कर बिन्नी अन्दर चला गया और दो क्षण बाद ही कार्ड ढूँढ कर ले आया। साथ लालटेन भी उठा लाया। आधे मिनिट मे उसने सरसरी नजर से सारा कार्ड पढ डाला।

"भैया की तबीअत ठीक नहीं है।" वह लालटेन जमीन पर रख कर माँ की चारपाई के पैताने बैठ गया। बचन सहसा उठ कर बैठ गयी। बिन्नी ने गुन गुन कर के पहली डेढ पक्ति पढ़ी और फिर उसे सुनाने लगा। लाली ने लिखा था कि उसका ब्लड-प्रेशर फिर बढ़ गया है और डाक्टर ने उसे घर पर आराम करने की सलाह दी है। कुसुम का स्वास्थ्य अब ठीक है और उसका रङ्ग लाली पर आ रहा है। उन्होंने मकान बदल लिया है क्योंकि वह घर हवादार नहीं था। बच्चों को वहाँ से स्कूल जाने में भी दिक्कत होती थी। अब महीने तक दीवाली आ रही है। बच्चे माँ को बहुत याद करते हैं। माँ को गये साल से ऊपर हो गया है इस लिए सब का दिल माँ से मिलने के लिए उदास है।

"इसके बाद सब की नमस्ते है !" कह कर बिन्नी ने कार्ड रख दिया।

"यह नही लिखा कि किस डाक्टर का इलाज कर रहा है ?"

"तुम जैसे शहर के सब डाक्टरों को जानती हो !"

बिन्नी ने बात अनायास भाव से कही थी पर बचन का अन्तर छिल गया। उसके चेहरे पर थोड़ी कठिनता आ गयी।

"मैं कल वहाँ चली जाती हूँ," उसने कहा।

"तुम चली जाती हो, और मैं अकेला रहूँगा ? मेरी रोटी...!"

बचन ने वितृष्णा-भरी नज़र से बिन्नी को देखा जिस का अर्थ था कि तेरी रोटी क्या उसकी जान से अधिक प्यारी है ?

"तू कौन घर की रोटी पर रहता है!" उसने मुँह से इतना ही कहा।

"भैया का ब्लड-प्रेशर कोई नया तो है नहीं..." बिन्नी फिर कहने लगा।

"तू रहने दे, मैं कल जा रही हूँ", उस ने उसे बीच में ही काट दिया। कई क्षण दोनो खामोश अपनी अपनी जगह पर बैठे रहे। फिर बिन्नी 'अच्छा' कह कर उठ गया।

दूसरे दिन सुबह ही वह 'अभी थोड़ी देर में आऊँगा।' कह कर चला गया और दोपहर तक लौट कर नही आया। बचन का किसी काम में दिल नहीं लग रहा था फिर भी उसने खाना बनाया और घर के सभी छोटे-मोटे काम किये। बिन्नी की चारो पाँचों कमीजें ले कर उसने उनके टूटे हुए बटन लगा दिये। फिर उसने अपनी दरी और कपड़े एक जगह इकट्ठे कर लिये। यह निश्चित नही था कि वह आज वहाँ से जाएगी या नहीं। बिन्नी सुबह उसे निश्चित कुछ बता कर नहीं गया था। सम्भव था कि वह फिर रात तक घर आये ही नही। रात को भी उसके आने का भरोसा नहीं था। इसके इलावा यह बात भी उसे खटक रही थी कि हो सकता है बिन्नी के पास किराये लायक पैसे ही न हों। महीने की उन्नीस तारीख थी और उन्नीस तारीख को उसके पास पैसे कब रहते थे? इस स्थिति मे तो उसे तीन चार तारीख़ तक अपना जाना स्थगित रखना होगा। दीवाली अब की जाने कौन तारीख को पडेगी?...और इस बीच लाली की तबीअत कहीं ज्यादा खराब रही तो? ज्यादा ही तकलीफ होगी जो उसने चिट्ठी में लिखा है नहीं तो वह चिट्ठी मे कभी नहीं लिखता। वह पद्रह बीस दिन न जा सकी तो...?

और तभी बिन्नी आ गया। उसके साथ उसका लम्बे बालों वाला दोस्त था, शशि, जिसकी गरदन बात करते हुए तोते की तरह हिलती थी। वह उसके हाथ की दाल का सब से बड़ा प्रशसक था। आते ही पहले दाल की फरमाइश करता था। हस्बमामूल गली से ही वे दोनो ऊँचे ऊँचे बाते करते हुए आये।

"तुम्हारा टिकट ले आया हूँ", बिन्नी ने आते ही कहा, "मंगल-वाड़ी से शशि को लिया और वहीं से साथ टिकट भी ले लिया। तुम अभी तक तैयार ही नहीं हुई?"

"तैयार क्या होती ? तू मुझ से कह कर गया था...?"

"जब रात को तय हो गया था तो सुबह कहने की क्या जरूरत थी। अब जल्दी से तैयार हो जाओ। दो घंटे में गाड़ी जायगी। नकद सवा बीस खर्च कर के आया हूँ और वे भी उधार के।"

बचन को बुरा लगा कि वह शशि के सामने ऐसी बात कह रहा है। क्या वह नहीं जानती थी कि उसे टिकट के लिए रुपये उधार लेने पड़े होगे। वह कब चाहती थी कि उसकी वजह से उस पर उधार चढ़े ? वह कह देता तो वह तीन चार दिन रुक कर चली जाती।

वह कुछ न कह कर कपड़े लपेटने लगी।

"हटो माँ, तुम्हें बिस्तर बाँधना आता भी है ?" बिन्नी आगे बढ़ आया, "उलटी सीधी रस्सी बाँधोगी और कहीं मोटा कर दोगी, कहीं से पतला। हट जाओ, मैं एक मिनिट मे बाँध देता हूँ। ऐसा बिस्तर बँधेगा कि रास्ता भर तुम्हारा खोलने को जी नहीं करेगा..."

"तू रोटी खा ले। मैं बाँध लेती हूँ", उसने भरी हुई आँखों से कहा।

"रोटी खाने वाला आदमी साथ लाया हूँ," वह माँ से लपेटे हुए कपड़ों को फिर से फैलाता हुआ बोला, "यह इसी लिए आया है कि तुम चली जाओगी तो तुम्हारे हाथ की दाल फिर कहाँ मिलेगी ?"

बचन की गीली आँखों मे हल्की सी मुस्कराहट भर गयी।

"यह भी खाले", वह बोली, "अभी मैं दो फुलके और उतार देती हूँ।"

"और उतार कर क्या करोगी ? जो हैं वही खा लेंगे।"

"पहले मैं खा लूँ, फिर जो बचे वह इसे दे देना!" कह कर शशि गरदन उठा कर हँस दिया। बिन्नी बिस्तर बाँधता रहा और वह उन दोनों के लिए खाना डाल लायी।

"तैयार !" बिन्नी हाथ झाड़ता हुआ बोला और शशि के साथ खाना खाने के लिए डट गया।

"माँ, अपने लिए रख लेना और जितना बचे वह हमे ला देना!" शशि दाल सुड़कता हुआ बोला। वे लोग खा चुके तो उसने जल्दी से बरतन समेट दिये।

"और माँ तुम?" बिन्नी ने कुल्ला कर के हाथ पोंछते हुए पूछा।

"मैंने खा लिया है।"

"कब ?"

"तेरे आने से पहले।"

"झूठी !"

"सच, मैंने खा लिया है।"

"आगे तो कभी नहीं खाती।"

"आज खा लिया है।...जाना था न ? तुम दोनों तो भूखे नही रहे ?"

"एक चौथाई भूखे रह गये।" शशि ने डकार ले कर तौलिये से मुँह पोंछा और उसे खूँटी पर टाँग कर हँसने लगा।

स्टेशन पर उसे गाड़ी में बैठा कर वे दोनो प्लेटफार्म पर टहलने लगे। रात को भी उस ने ठीक से नही खाया था इसलिए भूख के मारे उस का सिर चकरा रहा था। वह जानती थी कि बिन्नी को अच्छी तरह पता है कि उस ने खाना नहीं खाया। इसीलिए उस के मना करने पर भी वह आधा दर्जन केले ला कर उस के पास रख गया था। वह एक बार मना कर चुकी थी इसलिए खाना नहीं चाहती थी। यदि बिन्नी आ कर विशेष अनुरोध करता तो वह खा लेती। मगर बिन्नी और शशि दूर टहल रहे थे और अब भी उन का बहस मुबाहिसा जारी था। उस की समझ मे नहीं आता था कि ये लोग आखिर इतनी बहस क्यो करते हैं ? हर वक्त बहस बहस, बहस ! बहस का कोई अन्त भी होता है। सारी दुनिया के झगडे इन्ही को निपटाने हैं ! फटे हाल रह लेंगे, अपनी सेहत का ख़्याल नहीं और बाते जैसे कि ससार भर की सम्पत्ति के यही स्वामी हों और उसे बाँटने की समस्या इनके सिर पर आ पड़ी हो !

वे लोग मुड़ कर आ रहे थे और वह उन के चेहरो को देख रही थी। वे माथे पर सलवटें डाल कर हाथ हिलाते हुए बाते कर रहे थे, फिर भी वे बच्चे से दीखते थे। दोनों जैसे दुनिया से अनजान और बेख़बर थे। वे शायद उसकी सत्ता को भी भूल गये थे। सहसा गाड़ी की सीटी सुन कर वे उसके डिब्बे की ओर बढ़ आये और उस के पास आ कर खड़े हो गये। मगर उन की बहस नहीं रुकी। करघे का काम रुक जाएगा तो लाखो आदमी बेकार हो जाएँगे। और जैसे कोमल रोयें हाथ के कपडे के होते हैं वैसे मशीनी कपडे के कभी नहीं हो सकते... 'वह सोच रही थी कि ये लोग

कभी अपने कपड़े नहीं देखते ? इन्हें अपनी बेकारी की चिन्ता क्यों नहीं होती ?

गार्ड ने सीटी दे दी तो भी बहस चल रही थी। गाड़ी चलने लगी तो जैसे बिन्नी को थोड़ा होश हुआ और उस ने उसका हाथ पकड़ लिया, "अच्छा माँ..."

बचन के ओठों पर खुश्क सी मुस्कराहट आ गयी और उस के सिर पर हाथ फेर दिया।

"अब कब आओगी ?"

"जब तू बुलाएगा।"

और गाड़ी चल दी। वह देर तक खिड़की से सिर निकाल कर देखती रही। वे दोनों हाथ मे हाथ मिला गेट की ओर जा रहे थे। उन की बहस शायद अब भी जारी थी।

बचन को आये पन्द्रह दिन हो गये थे।

"बिन्नी की चिट्ठी नहीं आयी ?" उसने लाली के कमरे के बाहर रुक कर पूछा। लाली से सवाल पूछने में उसके स्वर में शासित का सा भाव आ जाता था। वह बेटा धीरे धीरे इतना बड़ा हो गया था कि वह अपने को उस से छोटी अनुभव करने लगी थी।

"आ जाओ माँ," लाली ने काम से शिर उठा कर कहा, "चिट्ठी उसकी आज भी नहीं आयी। न जाने इस लड़के को क्या हो गया है ?" और वह उठकर खड़ा हो गया।

"बैठ तू काम कर, मैं जा रही हूँ," बचन बोली, "सिर्फ़ चिट्ठी पूछने के लिए ही आयो थी।"

और वह बरामदे से हो कर अपने कमरे की तरफ़ चल दी। वह जानती थी कि लाली का वक़्त कीमती है, वह आधी आधी रात तक बैठ कर दूसरे दिन के केस तैयार करता रहता है। मुवक्क़िलों की वजह से उस का खाने पीने का भी कोई वक्त नहीं रहता। सवा साल पहले जब वह वहाँ से गई थी, तब से अब तक उसकी व्यस्तता काफ़ी बढ़ गयी थी। नये घर में आ जाने से जगह का ज़रूर आराम हो गया था, मगर कचहरी और

भी दूर हो गयी थी जिससे उसे आने जाने में अधिक समय लगता था। इस लिए तीन तीन चार चार दिन वह उससे एक शब्द भी बात नहीं कर पाता था। रात को जब वह बैठक से उठ कर आता तो सीधा अपने सोने के कमरे में चला जाता। वह रोज सबेरे कुसुम से पूछ लेती थी, "रात लाली की तबीयत ठीक थी न ?"

"हाँ, माँ जी !"

"उसके सिर में रात को बादाम रोग़न डाल दिया करो।"

"मैं कई बार कहती हूँ मगर वे डलवाते ही नहीं।"

"मुझे बुला लेना, मैं आ कर डाल दूँगी।"

"डालने को नौकर है, मगर वे डलवाते ही नहीं।"

वह जानती थी बादाम रोग़न डलवाने के लिए लाली को किस तरह मनाया जा सकता है मगर कुसुम उसकी अपेक्षा अपने को अधिक अन्तरंग समझती थी और उसके सुझावों से सहमति प्रकट करती हुई भी करती वही थी जो उसके मन में हो। वह जिस शिष्टता और भद्रता से उस से बात करती थी, उससे उसे लगता था कि जैसे वह उस घर मे मेहमान हो। उसे घर मे सब सुख-साधन उपलब्ध थे। करने के लिये कोई काम नहीं था। एक नौकर खाना बनाने के लिए था और दूसरा ऊपर के काम करने के लिए। उन की देखभाल करने के लिए कुसुम थी जो रुपये पैसे का हिसाब भी रखती थी। जब कभी वह अपने हाथ से कोई काम करने को कहती तो तुरन्त नौकर का हवाला दे देती नौकर के रहते अपने हाथ से काम करने की क्या जरूरत है ? यही बात लाली भी कह देता था— "माँ, तुम काम करोगी तो नौकर किस लिए है ?"

बचन सोचती थी कि नौकर काम करने के लिए हैं और उनकी देखभाल करने के लिए कुसुम है, फिर वह वहाँ किस लिए है ? सबेरे पाँच बजे से ले कर रात को ग्यारह बजे तक वह रोज़ रोज क्या करे ? पंद्रह दिन पहले जब वह आयी थी तो बच्चे उसके गिर्द हुए रहते थे। उन्हे दादी से हजारो बाते कहनी और शिकायतें करनी थीं। मगर चार ही दिन में बच्चो के लिए उस की नवीनता समाप्त हो गयी थी। उन की अपनी छोटी छोटी व्यस्तताएँ थीं जिन मे उनका समय बँटा हुआ था। कभी कभी कुमुद जरूर उसके पास आ जाती थी और उसके कमरे में खामोश खेलती रहती थी।

उसे शायद दादी इस लिए अच्छी लगती थी कि उसकी माँ दोनों भाइयो से अधिक स्नेह करती थी...

बचन कमरे मे आकर चारपाई पर लेट गयी। बिन्नी ने अभी तक चिट्ठी क्यों नहीं लिखी ? रात को उस अँधेरे घर मे वह अकेला सोता होगा। रोटी का जाने उसमे क्या प्रबन्ध किया है ? उसने चलते समय पूछा क्यो नहीं कि वह पीछे कैसे रहेगा, क्या प्रबन्ध करेगा ? उसके रहते वह तन बदन की होश भूला रहता था, अब उसकी क्या हालत होगी ? चिट्ठी लिख देता तो उसे तसल्ली हो जाती। मगर क्या उसे चिट्ठी लिखने का होश होगा ?

कमरे की खिड़की खुली थी और वहाँ से दूर तक खुला आकाश दिखायी देता था। खिड़की से दिखाई देने वाले नक्षत्रो के विन्यास से परिचित थी। वही नक्षत्र बम्बई की उस मनहूस बस्ती के आकाश मे भी झिलमिलाते थे। यहाँ से वे उसे तिरछे कोण से दिखायी देते थे और वहाँ से वह उन्हें सीधे कोण से देखा करती थी। उसी कोण से उन्हे देखते हुए वह बिन्नी की आहट की प्रतीक्षा किया करती थी। हुँफ् हुँफ् की ध्वनियाँ पास आती और दूर चली जाती थी। फिर दूर से फटे हुए बेहूदा गले की आवाज़ आने लगती थी—ओ हैड आई द विग्ज ओ फेजल .। उस आवाज़ से वह बेहद घृणा करती थी। यहाँ इस एकान्त घर में आस-पास से कोई आवाज नहीं आती थी। नौ साढे नौ बजे बच्चों के सो जाने के बाद बिल्कुल नितस्तब्धा छा जाती थी। केवल रगीलाल के बरतन और चौका धोने की आवाज सुनायी देती थी।

उसने करवट बदली कि जिससे उसे नींद आ जाय। नीद न आना अब रोज़ की बात हो गयीं थी। कहाँ दस बजे से ही उसकी आँखो मे नीद भरी रहती थी और कहाँ अब वह ग्यारह बारह और एक तक के घटे गिनती रहती थी। वहाँ और यहाँ के वक्त मे बहुत फर्क था। जाने क्यों ? वह सोचती रह जाती जब तक कि किसी अनजानी घड़ी मे नीद उस पर अधिकार नहीं जमा लेती।

रात को वह बहुत देर से सोयी मगर सुबह जल्दी उठ गयी।

सुबह उसका चित्त रात से अधिक स्थिर।और अशात था। इतना

बड़ा पहाड़ सा दिन और उसके बाद फिर रात ! दिन भर की निष्क्रियता की कल्पना से एक विराट शून्य उस के अन्तर को घेरे था। आकाश में चिड़ियों के गिरोह उडते आ रहे थे। रसोई घर मे रंगी स्टोव में हवा भर रहा था। उसे साहब के बिस्तर पर चाय पहुँचानी थी। सुबह जब वह कमरे के कोने मे बाल्टी रख कर नहा रही थी तो बिन्नी बाहर से चाय की फरमाइश किया करता था। उस फ़रमाइश से उसके भजन मे बाधा पड़ती थी जिससे उसे उलझन होती थी, पर वह चुप चाप उसके लिए चाय बना देती थो।...आज उसे उलझन हो रही थी कि उसका भजन में दिल क्यों नहीं लगता ? जब उसके पास अवकाश ही अवकाश था और उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति उस ओर नहीं होती थी। जैसे वह रोज़ पूजा मे घन्टा डेढ घन्टा बिताती थी, पर उसका हृदय उस तरह केन्द्रित नही होता था जैसे पहले हुआ करता था।

वह कुछ देर बरामदे मे खड़ी सूर्योदय के स्वर्णिम रंग को देखती रही। क्षितिज के एक कोने से दूसरे कोने तक झिलमिलाती हुई स्वर्णिम आभा धीरे धीरे निखर रही थी। लगता था जैसे गोलक मे बन्द उजाला फूट कर बाहर बिखरने के लिए जद्दोजहद कर रहा हो। उजाले की बढ़ती हुई झलक से हर क्षण उसे ऐसी ही प्रतीति होती थी। उसने बरामदे से उतर कर पूजा के लिए कुछ मोतिया के फूल चुन लिये और रसोई घर मे चली गयी।

रगी स्टोव से केतली उतार कर चायदानी मे पानी डाल रहा था। उसने अपने अचल से फूल बिकाल कर आले मे रख दिये। रगी ट्रे लगा चुका था। वह उठा कर चलने लगा तो उसने ट्रे उसके हाथ से ले ली।

'रहने दे मैं ले जाती हूँ।" और वह लाली के कमरे की ओर चल दी।

"साहब नाराज न हो ", रगी ने पीछे से सकुचित स्वर में कहा।

"इस मे नाराज होने की क्या बात है !" वह थोड़ा खाँस कर लाली के कमरे मे चली गयी।

लाली कबल ओढ़े बिस्तर में बैठा था और कुसुम अभी तक सोयी हुई थी। लाली के हाथ में कुछ कागज थे जिन्हें वह बड़े ध्यान से पढ रहा था। उसने यह लक्षित नहीं किया कि माँ चाय लेकर आयी है। बचन ने ट्रे मेज पर रख कर चाय की प्याली बनायी और उसके निकट ले गयी।

लाली ने अभ्यासवश चाय के लिए हाथ बढ़ाते हुए लक्षित किया कि माँ प्याली लिये खड़ी है।

"माँ, तुम ?" उसने आश्चर्य के साथ पूछा।

बचन ने प्याली उसके हाथ मे दे दी। उसने पहली बार लक्षित किया कि लाली के बाल कनपटियों के पास से सफेद होने लगे हैं। चश्मा उतार कर रखने के कारण उसकी आखों के नीचे गड्ढे नजर आ रहे थे। लाली ने काग़ज रख कर चश्मा लगा लिया।

"रगी और नारायण दोनों में से कोई नही है ?" उसने पूछा।

"नारायण शायद दूध लाने गया है", वह बोली, "रंगी उधर रसोई में है।"

"तो उससे नहीं आया जाता था ? तुम सुबह उठ कर चाय लाओ, वहाँ।... इससे अच्छा है मैं आप बना कर पी लूँ।"

"तू जरूर बनाकर पी लेगा, जिसे यह नही पता कि दूध कौन सा है और चीनी कौन सी है !" और वह थोड़ा हँस दी। कुसुम करवट बदल कर उठ बैठी।

"माँ जी, आप—?" उसने भी आँख मलते हुए आश्चर्य के साथ पूछा। फिर उसने तत्परतापूर्वक कबल उतार दिया।

"आप रहने दीजिए, मैं बनाती हूँ।"

और कुसम उठकर दूसरी प्याली में चाय बनाने लगी। चाय बना कर उसने प्याली उस की ओर बढ़ा दी।

"मैं अभी नहायी नही, अभी से चाय पी लूँ ?"

"पी भी लो माँ", लाली बोला, "कभी धरम-करम छोड़ दिया करो।"

"नहीं, मैं नहीं जूठे मुँह पीती। तुम्हीं लोग पियो।"

कुसुम प्याली लेकर अपने बिस्तर पर लौट गयी। बचन लाली के पैताने बैठ गयी। वे दोनों खामोश चाय पीते रहे।

कमरे में हर चीज व्यवस्थित ढंग से रखी हुई थी। अँगीठी पर नीले रंग का कपड़ा बिछा था जिस पर कुसुम ने सफेद डोरे से कढ़ाई की थी। उस पर एक ओर अखरोट की लकड़ी का गौतम बुद्ध का बस्ट रखा था और दूसरी ओर हाथीदाँत की हसों की जोड़ी संदूकों पर गद्दे बिछा कर उन्हें लाल कपड़े से ढक दिया गया था। कोने में कुसुम की सिलाई की

मशीन चमक रही थी जिसके पास ही लाली की आधी सिली हुई कमीज के टुकडे बँधे रखे थे। छोटी मेज़ पर छोटे से शेल्फ में लाली की किताबें और पास टेबल लैंप रखा था। दूसरे कमरे के दरवाजे के पर्दे पर भी कुसुम ने अपने हाथ से कुछ कढ़ाई की थी। उधर चारपाइयों पर करवटें बदलने की आवाज़ आ रही थी। शायद बच्चे जाग गये थे।

लाली ने प्याली खाली करके मेज पर रख दी। कुसुम खामोश अर्थपूर्ण दृष्टि से उसके चेहरे को देख रही थी। बचन उठ खड़ी हुई।

"बस चल दीं माँ?" कहते कहते लाली ने अपने काग़ज उठा लिये।

"हाँ, तुम अपना काम करो, मैं भी जाकर नहा धो लूँ।"

"बैठो थोड़ी देर...कोई खास बात तो नही थी?"

"नहीं, बात कुछ नहीं। बाहर खड़ी थी, नौकर चाय ला रहा था, मैंने कहा, मैं पकड़ा देती हूँ।"

लाली की आँखे कागजों की ओर झुक गयी। कुसुम अभी तक चाय की चुस्कियाँ ले रही थी। बचन चलने के लिए उद्यत होकर फिर खड़ी हो गयी।

"एक बात पूछनी थी..." उसने कहा।

लाली ने फिर काग़ज़ रख दिये।

"कहो।"

"इतने दिन हो गये बिन्नी की चिट्ठी नहीं आयी"...

"मैं तो अब उससे गिला नहीं करता", लाली चिढ़े हुए स्वर मे बोला, "गफ़लत की भी हद होती है! इस लड़के का जैसे घर वालो से कोई नाता-रिश्ता ही नहीं है। यह भी नहीं पता कि इसे कुछ करना-धरना भी है या जिंदगी भर बहसबाज़ी ही करनी है? यहाँ बी० ए० कर लेता तो अब तक कुछ बन बना जाता। अब ज़िंदगी भर आवारागर्दी करेंगे!"

बचन की आँखें भर आयीं। उसने चेष्टा की कि आँसू आँखों मे ही रुक जायें पर वे बहने को हो आये तो उसने पल्ले से आँखें पोंछ लीं।

"मैं कहती हूँ मैं लौटकर वहाँ उसके पास ही न चली जाऊँ?" और वह निर्णय सुनने के ढंग से लाली की ओर देखने लगी। लाली गम्भीर होकर चुप हो रहा, उसने कुछ कहा नही।

"मैं कहती हूँ कि कम से कम मेरी आँखों के सामने रहेगा और मुझे पता चलता रहेगा कि क्या करता है और क्या नहीं करता...!"

"यहाँ माँ जी का दिल नही लगा !" कुसुम ने प्याली रखते हुए कहा। पल भर लाली की आँखें उसकी आँखो से मिली रहीं।

"अभी तो माँ, आयी ही हो", लाली बोला, "दस बारह रोज़ बाद दीवाली है। अभी ही चली जाओगी ?"

"नहीं, मेरा बच्चों को छोड़कर जाने को दिल करता है ? मैं वैसे बात कर रही थी", और वह फिर से जाने के लिए तैयार हो गयी, "पता नहीं रोटी भी वक्त से खाता है या नही !"

कुसुम उठ कर रगी को पुकारती हुई बाहर चली गयी।

"तुम जरूर ही जाना चाहो तो और बात है !" लाली के चेहरे का भाव कुछ अन्यमनस्क सा हो गया।

"नहीं, जाने की बात नहीं, मैं वैसे ही सोचती थी..."

वह बाहर की ओर देखने लगी जिससे आँसू फिर न टपक पडे।

"जाना है चली जाओ, नहीं खामखाह चिन्ता से परेशानरहोग

बचन कुछ क्षण खामोश खड़ी रही। लाली अपनी उगलियाँ मसलता रहा।

"किस गाड़ी से चली जाऊँ ?"

"रात की गाड़ी ठीक रहती है। उसमे भीड़ कम होती है।"

"तेरी तबीअत की फिकर रहेगी..."

"मेरी तबीअत अब ठीक ही है।"

"तू चिट्ठी लिखता रहेगा न ?"

"हाँ, मैं लिखूँगा, या कुसुम लिखती रहेगी।"

"अच्छा !..."

वह कमरे से चल दी। लाली ने कागज उठा लिये।

रात को गाड़ी में उसे अच्छी जगह मिल गयी। जनाने डिब्बे में उसके इलावा दो तीन ही सवारियाँ और थीं। कुसुम नारायण को लेकर उसे छोड़ने के लिए आयी थी। लाली मुवक्किलों की वजह से नहीं आ पाया था। कुसुम गाड़ी चलने तक उसके पास बैठ कर बातें करती रही। दादी

के पीछे अब बच्चे उदास हो जायेंगे। तीन चार दिन घर बहुत सूना-सूना लगेगा। रास्ते मे अच्छा खाना उसे किस स्टेशन पर मिलेगा?

गाड़ी ने सीटी दी तो कुसुम प्लेटफ़ार्म पर उतर गयी।

"जाते ही चिट्ठी लिखिएगा।" उसने कहा।

"अच्छा! लाली की तबीअत का पता देती रहना।"

कुसुम ने सिर हिलाया। बचन को लाली के सफ़ेद बालों का ध्यान हो आया।

"रात को उसे देर-देर तक मत पढ़ने देना और उससे कहना कि सिर में बादाम रोग़न डलवा लिया करे।"

कुसुम ने फिर सिर हिला दिया। गाड़ी चल दी। कुसुम ने हाथ जोड़ दिये।

प्लेटफार्म पीछे रह गया तो बचन आकाश की ओर देखने लगी। उसके अन्तर मे फिर एक शून्य सा भर रहा था। सामने क्षितिज के पास वही नक्षत्र चमक रहे थे। बचन अपलक दृष्टि से उन्हें देखती रही। फिर वह जहाँ जा रही थी, उस घर का नक़्शा उसकी आँखों के आगे घूमने लगा। वह नीची छत वाला टूटा-फूटा कमरा, मादा सूअर और उसके बच्चों की हुँफ-हुँफ् और कुएँ की तरफ से आती हुई मोटी, भद्दी फटी हुई आवाज—ओ डैडाई है ड्विंजो-फेजल...अँधेरा, एकान्त, बिन्नी, शशि और उनके दोस्त, बहसे और दाल रोटी के लिए उन लोगों की छीनाझपटी...

उसकी आँखे भर आयी, जिससे क्षितिज के पास चमकते हुए नक्षत्र धुधले पड़ गये।

उसने आँखे पोंछ लीं। नक्षत्र फिर चमकने लगे।

●

वंध्या का गीत

श्रीराम वर्मा

●

ये मेरे बच्चे नहीं,
किसी के भी हों
तो क्या,
दुर्दम सागर की लहरों से खेल रहे हैं।
मैं डरती हूँ—डूब न जायें
ओ प्रभु,
मेरी भुजा लहर-सी आज अनन्त
बना दो।

ये मेरे बच्चे नहीं,
किसी के भी हों
तो क्या
इनके पाँवो तले से धरती
जैसे खिसक गई है;
माथे पर अम्बर जैसे
टूट गिरा है

ये मेरे बच्चे नहीं,
किसी के भी हों
तो क्या,
निविड़ शून्य में पङ्खहीन
कातर ये
उड़ने को आतुर हैं;
ओ प्रभु

मेरी प्राणशक्ति इनके हर
अवयव से बांधो
पुलकित पङ्ख बना दो।

अरक्षित ये,
कातर ये
निविड़ अन्धेरे में
खोजते हुये ये
रङ्गमय खिलौने—

ओ प्रभु,
नयन ये समर्पित हैं
मेरी पुतलियों का
मंजुल प्रकाश इन्हें दे दो तुम!
मेरे इस वत्सल किन्तु
बंजर हृदय को नई रूपाकृतियों में
गढ़
सुघर खिलौनों में ढाल ढाल
इनको तुम दे डालो

ये मेरे बच्चे नहीं,
किसी के भी हों
तो क्या!

●

आत्मा के सहचर

●

एक कहानी : दो लम्बी कविताएँ

पानी की तस्वीर

कमलेश्वर

●

गाड़ी कोई पुल पार कर रही थी। इस्पात पर आवाज़ों की चोट ने उसे कहीं और ला दिया। ऐसी ही किसी नदी के किनारे खड़ा वह झुकती हुई शाम देख रहा था। शाम का सूरज और पानी का बदलता हुआ रंग। बाढ़ का पानी गाँव की नदी से उतर गया था। चिकनी मिट्टी पर किसी के चरणों के चिन्ह अंकित थे। घासें दब गयी थी। घाट की झोपड़ी मे अभी लालटेन जली थी। कछुओ पर निशाना-साधते-साधते बहुत देर हो गयी। संजय ने दो बार कहा 'चलो', पर कोई गया नही। आखिर हाथ में मोमबत्ती लिये बाबा खोजते हुए पहुचे थे।

"इसी तरह हड़ायेगा तो ताले कुजी में कल मे रखूँगा!"—कहते हुए बाबा ने दोनों को बाँह से पकड़ा। बातों से बेरहम, पर पकड़ से दयालु बने घर की ओर खींचते हुए ले जा रहे हैं, "अब से इधर आये तो टागें तोड़ दूँगा।" कि सजय को ठोकर लगती है और बाबा पैर सहलाते-सहलाते गाँव के मुखिया को कोस रहे हैं—"मछली का ठेका दिलाने के लिए मुखिया हैं, सड़क की हालत के लिए आँखों पर पट्टी बँधी है ...अभी लड़के का पैर टूट जाता ..."

बाबा ऐसे ही हैं!

बाहर चबूतरे पर मोमबत्ती की रोशनी में नौगुटिया जम गयी। चाल अटकते ही जोगिन्दर बाबू को प्यास लगती थी, वहीं से आवाज लगायी, "एक लोटा पानी लाना अछत।"

"दिन भर का थका हारा है, तुम खुद ले लो।" बाबा ने कहा, पर खुद पानी लेने उठ गये। अछत नदी किनारे घूमता रहा है। कितनी थकन आती है नदी किनारे, यह बाबा जानते हैं। मां,पिता, भाई और मित्र की तरह पाला है बाबा ने।

पढ़-लिखकर बड़ा हुआ, पर बाबा की ज़ुबान से सख्त बात नहीं सुनी। विशाल पर्वत की तरह बाबा, दुस्तर दुरूह पर बहुत विनत। जो चाहे

चरणों से चढ़कर मस्तक पर बैठ जाय जैसे पहाड़ कुछ नहीं बोलता, उसी की तरह कठोर-कोमल! पता नहीं किन पथरीली चट्टानों के नीचे अदेखी तरलता है जो किसी क्षण, कहीं फूट कर बह निकलती है।

कथा मे वह नही जाना चाहता था, पता नही क्यों ईश्वर पर विश्वास नहीं होता। बाबा नही बोले थे, न बुरा माना था। मन की ठेस दिखायी नही। फिर शिवरात्रि आयी थी। मंदिर की सजावट होनी है। बाबा ने कहा—"अक्षत, दिन दिन भर रगो का खिलवाड़ करता है, मूर्तियों के नाक-नक्शे सॅवार दे।" अब कैसे न जाता मदिर? कूचियाँ और रग लेकर दिन भर मदिर की सजावट मे लगा रहा। भक्त आते रहे, उनकी अटूट श्रद्धा अनजाने मन मे उतरती रही। शाम से कीर्तन था। जाते हुए बाबा ने कहा, "तुम तो यहीं रहोगे अक्षत, घर देखना। मैं मदिर पर रतजगे में रहूँगा।"

पता नहीं क्यों अक्षत के मन मे हुआ कि थोड़ी देर के लिए चला जाय! बाबा धोती पहनाना चाहते थे, मदिर और धर्म से उसका कोई सम्बन्ध न जोड़कर बोले, "मेरी धोती पहन ले, देखें तेरे ऊपर फबती है या नही! बैठने मे आसानी रहेगी।" बाबा ने मन का काम करवा लिया था! इसी तरह वे सस्कार किया करते थे, विचार नही। विचार देने वाले हताश भी होते हैं पर संस्कार देने वाले सदैव आश्वस्त रहे हैं। कितनी सहन-शक्ति है बाबा मे। जैसे कभी कुछ होता ही नहीं। रोज़ सुबह सूरज की तरह चमकने लगते हैं। अम्लान, अप्रभावित। रात चाहे जो हुआ हो पर सुबह सब कुछ वही। उनके स्नेह की अक्षुण्ण गरमाहट भरी कोमलता नही जाती। किरनें कभी फूटने से इनकार नही करतीं।

नदी पर रोज देर होती थी। चन्द्रमा पियरा कर ढलने लगता तो वह लौटता। मन मे बड़ा पश्चात्ताप होता। गली मे आहट सुनते ही बाबा किवाड़ो से लग कर खडे हो जाते और कुंडी पर हाथ रखते ही खोल कर उसे भीतर ले लेते, "इतनी सर्दी है, स्वेटर तक नही पहना!" कहते-कहते चादर मे लपेट लेते।

लेटता तो मनीषा की बात याद आती, "खिडकियाँ खोल लेना, पर अच्छी तरह कपडे पहन कर लेटना। रात मे देखने आऊंगी। और दूसरे दिन बाबा नज़र रखते! शाम को निकलते ही कहते, "ऊनी पहन ले अक्षत। घर की तो कोई बात नही, बाहर सर्दी खा जायेगा।"

जैसे बाबा मनीषा पर अविश्वास करते हों और मनीषा बाबा पर। एक दूसरे में अनदेखी ईर्षा रहती, शका रहती ...अक्षत के लिए किसी को अपने ज्यादा दूसरे पर विश्वास नही। वह चाहता था कि बाबा मनीषा के लिये कुछ कहें, पर नही, वे कभी नहीं बोले।

एक रोज़ बाबा ने संजय के समाने कहा था, "अक्षत घर बसाले तो बेफिकर हो जाऊँ, इसकी मा की आखिरी बात पूरी हो जाय!"

संजय ने पूछा, "कहाँ तय की है?

"तय तो इसकी माँ कर गयी है।" बाबा ने कहा।

"ये सब बेकार की बातें हैं, मुझे कुछ भी करना धरना नही।" अक्षत ने बात बढ़ानी चाही। सुनकर बाबा चुप हो गये। विरोध की परछाईं तक नहीं।

लेकिन सब जानते हुए बाबा बात से नही डिगे। मृत की आखिरी बात रखनी थी। न जाने कैसे पीछे-पीछे सब होता रहा। कहीं खराश तक नही, कोई उथल-पुथल नहीं ... सब अपनी जगह अडिग थे. न बात न तर्क, जैसे एक एक विश्वास लिये बैठे हों।

अक्षत सोचता था कि बाबा की बात को अस्वीकार करने पर बाबा कुछ कहेंगे और तब वह उन्ही से अपनी बात मनवा लेगा, या वे विरोध ही करेंगे तो वह रास्ता पा लेगा। पर बाबा पानी का बहाव थे ...हाथ मे आकर निकल जाते, वह विरोध करता तो दोनों ओर से कतरा कर बह निकलते,.पर धारा का प्रवाह अविकल था।

एक रात अक्षत ने कहा, "बाबा, आप सब जानते हैं, फिर भी ..."

"अक्षत तू भी तो सब जानता है!" बाबा ने कहा।

'तो क्या करूँ बाबा, तुम्ही बताओ! मैं तो केवल एक हूँ।" अक्षत ने कहा।

'एक है इसीलिये, मुझे तेरा सुख चाहिए! तेरी माँ से अधिक कौन सोच सकता था? वह तो आज अपने किसी भी स्वार्थ से दूर है! फिर तेरी मर्ज़ी ... जो ठीक लगे, जिससे मन भरे..." बाबा ने रुँधे हुए गले से कहा और उनकी आंखें डबडबा आयी। अक्षत देखता रहा गया। बाबा भरी आंखों से उसे ताक रहे थे। उन पुतलियों पर तैरते पानी मे उसकी तस्वीर झिलमिला रही थी। पानी की तस्वीर। उसने आंखे झुका लीं पर वे आंखें कभी नही भूलतीं, जब भी कुछ निश्चय करता तो वे पीछा करती, माँगती

कुछ नहीं। न आदेश देतीं, न अनुनय और न तिरस्कार ... बस यह कि जो तुम करोगे ये स्वीकार कर लेंगी, इनमें उभरी हुई तस्वीर न मिट जाय ...बस केवल यही !

सहसा एक झटके के साथ गाड़ी रुक गयी। अक्षत होश में आया क्या-क्या सोच जाता है ! पता नहीं अब मनीषा कैसी होगी ? अनजाने चला आया था । आज वापस वहीं जाते एक क्षण के लिए सकोच होता है। लेकिन बात ही ऐसी थी। और सजय क्या सोचता होगा ? और बापू ! कभी कभी प्यार भी अत्याचार हो जाता है। उसे सब क्यों इतना चाहते हैं ? प्यार के ज़ुल्म को सह सकने की क्षमता होती तो क्यों चुपचाप चला आता और आज वापस जाने की नौबत आती ? कहीं भी तो वह अकेला नहीं था, घर मे बापू, बाहर संजय और हर समय मनीषा। उसका कुछ भी अपना नहीं था, एक क्षण भी नहीं। कोई तो घृणा करता, कोई तो हिक़ारत से डॉटता। अपनी-अपनी बातें सब कह लेते हैं पर कोई उन्हे मनवाना नहीं चाहता। "तुम्हे यह मानना पडेगा," आखिर कोई भी यह क्यों नहीं कहता ! कोई नहीं कहता, न मनीषा, न सजय और न बापू। कैसे अदृश्य घेरे थे, बहुत मजबूत पर बहुत कमज़ोर...उसने एक निगाह बाहर की ओर डाली, कोई तालाब शीशे की तरह पीछे खिसकता जा रहा था। चॉद की पड़ती छाया और भी कोमल होकर उसमे झॉक रही थी...मन न जाने कहॉ उलझ गया वह झील कितनी याद आती है...

जैसे अक्षत झील के किनारे उतर गया। नील झील का ठहरा हुआ जल, बरौनियो की तरह बॉस के झाड़, लम्बे-नुकीले। बड़ी खामोशी थी। पानी सॉस रोके पड़ा था। अपलक देखता रहा। झील के वक्ष की छाया उसे निहार रही थी। स्वय पर मोहित हो गया। कितनी कोमल थी पानी की तस्वीर। और तस्वीर का सौन्दर्य...हाथ सहम जाते हैं, यह सारा सौन्दर्य खो जायगा, कॉप कर तस्वीर मिट जायगी। कहीं अपनी तस्वीर से ईर्ष्या न हा जाय, झील के लम्बे विस्तार को देखता है और किनारे खड़े बांसो को...कि सहसा मनीषा की कटीली-नुकीली बरौनियॉ और नील झील की तरह गहरी अथाह ऑखे आ जाती हैं। मनीषा की निर्मल मुक्त हॅसी और मुस्कराने के लिए आतुर पतले ओठ।

उसकी आँखों में झॉककर ऐसी ही छाया मिलती थी, वह सॉस रोके

देखता रह जाता, झील की तरह आँखों के नम किनारे। और उस पानी में निखरी हुई उसकी तस्वीर। तब प्यास अनायास मर जाती है, हाथ डुबोये नही जाते। अपने से ईर्ष्या होती। मनीषा अपलक उसकी आँखों मे झाँकती रहती और वह दृष्टि हटाकर उन मोहक पतले होठों को देखने लगता। उनके किनारे पतले होकर न जाने कैसे छुप गये थे। ओठो का वह रहस्यमय सधिस्थल...कैसा आकार है, कुछ याद नही आता। बस, वे बहुत सुन्दर हैं। जब सोचने बैठता है तब बनावट खो जाती है। जब उन ओठों के रहस्य को नहीं समझ पाता तो फिर उन आँखो मे झाँकता है और वही पानी की तस्वीर उसे फिर-फिर निहारती है। मनीषा जैसे केवल पानी हो जाती है और उसमे उभरी हुई उसकी छाया। पानी और छाया, छाया और पानी. जैसे छाया पानी से विलग नही, जैसे पानी छाया से परे नहीं।

मनीषा!

पहले दिन देखा था। मनीषा सामने थी। न बहुत देखने की आतुरता न अपने को कुछ समझने का अहकार। अक्षत भी सामान्य था और मनीषा भी। जैसे हर नया विचार कुछ देर साथ रहता है वैसे ही मनीषा के बारे मे भी सोचा था। बड़ी सम्पन्न और तेजोमय थी। एक ऐसे पक्षी की भाँति जो अपने पखों की शक्ति पहचानता हो। हवा को काट फेकने का दभ नहीं, उसे पार कर जाने की क्षमता पर विश्वास हो। बस इतना ही। इससे अधिक कुछ नहीं। कोई असाधारण आकर्षण नहीं।

एक दिन सहसा मनीषा ने पूछा था, "तुम्हे कैसा लगता है?"

"क्या?"

और मनीषा के ओंठों के संधिस्थल और भी रहस्यमय हो गये थे, जैसे अक्षत की आँखें कुहरे के पार डूबे नदी तटो को देखती हों, ऐसे तट, जिन तक पहुँच पाने के बाद धार दिखायी देती हो!

कभी कहती थी, "अक्षत, तुम्हें देखकर मन धुल गया था, बहुत डरती थी आदमियों से। पता नहीं क्या कर देते हैं कि ज़िन्दगियाँ टूट जाती हैं। बूढ़े निरापद लगते थे। पता नहीं तुम लोगों की तेज़ी में कैसी वंचना की गंध आती थी। सब झूठ लगता था। बड़ा पछतावा हुआ

बाद में। कितना गलत सोचा। निस्स्वार्थ हँसी केवल तुम्हीं लोगों के पास थी। आदमी का डर भाग गया। राजीव, सजय, अमित, अशेष और तुम...तुम्हारे छोटे-छोटे आदर्श और कल्पनाएँ कितनी पवित्र हैं! इतना रस कहाँ से मिलता है अक्षत! दुनियाँ मे रहते हुए भी उससे अलग होकर सपने कैसे बुन लेते हो? बग़ैर सोचे समझे कैसे हँस लेते हो? सचमुच स्वार्थी नहीं हो?...कितनी बड़ी सार्थकता है तुम लोगों के जीवन की ”

“क्या है, सब बेकार जी रहे हैं। किसी के काम नहीं आते। न घर के न अपने, सजय अपने घर का अकेला बेटा है, सब आसरा लगाये है पर कुछ भी तो नहीं करता। अमित यूँ ही दिन काट देता है और खुद मैं...कोई अर्थ नहीं .ऐसे कुछ होता है?” अक्षत बोला था।

“होता है अक्षत, तुम्हीं सब तो कगार के पेड़ हो, जिनकी जड़ो से धरती चिपकी है, नहीं तो धार छोड़ती? ये पहाड़, चाँद-सितारे आख़िर कौन सा अर्थ लेकर जी रहे हैं...इन्हें बेकार कहोगे? हर क्षण अर्थ खोजोगे तो स्वार्थी हो जाओगे। जब तक निरर्थ जी लोगे तभी तक यह पवित्रता का तेज मुझे दीखेगा, मुक्त रह लूँगी। तुम सब तो सौन्दर्य हो, अपने मे पूर्ण! विजया कहती थी—तुम सब बेहूदे हो, देखकर हँसते हो तो बडे भद्दे लगते हो, चिढ होती है।—पर तुम सुन्दर न होते तो हमे यह गर्व कहाँ से मिलता अक्षत?”

इस तरह जब मनीषा किसी दूर देश से बोलती तो अक्षत हँस पड़ता, ‘तुम तो रहस्यवादी हो जाती हो, कुछ ज़मीन की सोचा करो. स्थूल।’ वह कहता और मनीषा की ओर देखता। उसका फेन-सा स्वच्छ शरीर। आकर्षक लगती। और नजदीक से देखता...वह आकर्षण खीचता। और...और निकट जाता तो सब कुछ रहस्यमय हो जाता। जैसे छिछले पानी को उलीचकर फेकने मे सुख हो, कुछ और गहरे मे डुबकी लगाने का मोह और गहराई मे उतरकर केवल आकठ डूबे रहने का आल्हाद, न पानी उलीचने की चपलता, न डूब निकलने का आतुर साहस।

एक दिन उसकी आँखों मे आँसू थे, “कुछ बताओ अक्षत, क्या हम ऐसे नही रह सकते? क्या यह सब जरूरी होता है। और क्या अधिक मिल जायगा? तुम्हीं बताओ...”

सुनकर अक्षत खामोश रह गया था। उसकी आँखों मे भाप-सी उमड़ रही थी पर पानी नहीं था। सब कुछ भूलकर मनीषा एकदम बोली

थी, बरसने के पहले के बादल बहुत अच्छे लगते हैं...बस ऐसे ही रहना, इसमे ज्यादा कुछ नहीं...'

"बात क्यों उड़ाती हो, सब साफ साफ बताओ..." अक्षत ने पूछा था।

"कुछ भी नहीं, बस ऐसे ही। तुम परेशान मत हुआ करो। मैंने मजाक की थी। इतना भी नहीं सह सकते.." कहकर मनीषा ने बात उड़ा दी, 'तुमसे अच्छा तो सजय है। न जाने इतना क्यों चाहता है तुम्हें। घंटों तुम्हारी बातें करते नही थकता। तुम सब कितना सोचते हो एक दूसरे के लिए।' और बात सजय की ओर मुड़ गयी थी।

फिर एक दिन बोली थी, "सजय ने एक खुशखबरी सुनायी है।" सुनकर अक्षत उदास हो गया, बोला, "यह सब होने नही जा रहा है। मुझे कुछ भी नहीं चाहिए .न तुम और न दूसरा। मैंने तो माँगा नहीं, बाबा न जाने क्यों परेशान हैं? तुम्हारे प्रति उनका व्यवहार भी बिगड़ा होगा। कैसे देखते हैं तुम्हें?"

"जैसे पहले देखते थे। तुम्हारे लिए ही तो सब सोचते हैं। सचमुच कितने भाग्यवान हो तुम, मुझे तो ईर्ष्या होती है। तुम्हारी जगह मैं होती तो मुख उठाये न बनता। तुम जीना भी नहीं जानते। मैं बाबा के साथ चीजे पसन्द करके उसके लिए भेजूगी।"

"तुम यह सब ठीक समझती हो?" अक्षत ने पूछा था।

"इसमे ग़लत क्या है? बाबा की बात स्वीकार कर लो अक्षत! उन्हें दुख देकर क्या मिलेगा?"

अक्षत हँस दिया था, बोला, "मैं कुछ भी नही हूँ?"

"हो, इसीलिए। मन स्वीकार लेगा। न स्वीकारे तो और कुछ सोचना। पर ग़लत नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं जो औरों को दुखदायी हो " वह बोली थी।

इतना सब होकर भी कुछ नही हुआ था, जैसे दोनों अछूते थे। वे किसी और की बातें थी। पर कुछ था जो कसक जाता था . न जाने कैसा दुःख। पता नहीं क्या था! मन में दुख की सज्ञा में अर्थदोष दिखायी पड़ता था। इस परिताप में एक तृप्ति थी। पश्चात्ताप और कुछ खो देने की विक-

लता के साथ ही अदम्य शक्ति। विश्वास पा लेने पर भी रिक्तता। शायद यह रिक्तता ही अटूट विश्वास की कड़ी थी।

ठीकाठीक दोपहर मे मनीषा आयी थी, "चलो नदी की तरफ घूम आयें।" गाव की बस्ती के पार की वह नदी! आग बरस रही थी! आखिर नदी का किनारा, उस पार ले जाने वाली नावें स्थिर थीं। दूर का क़स्बा बालू की धूल मे छुप गया था। चारों तरफ जैसे आग लग गयी हो, और उड़ती रेत का सफेद धुआं। जगह जगह जैसे शीशों के पहाड़ हों, जिनकी आकस्मिक चमक आखो की रोशनी छीन लेती है। उजेले का अधापन! और हवा उन चमकते गर्म शीशो को हिला जाती। नदी की सतह पर किसी ने घी उडेल दिया था, पानी पर तैरती चिकनाई की चादर! हवा आग के दायरे मे घिर कर अकुला रही थी। शून्य, सन्नाटा बोलता था। दोनों एक छप्पर के नीचे बैठ गये थे। उसके नीचे नदी नही, लावा बह रहा था।

मनीषा घुटनो पर सर रखे चुपचाप बैठी थी। आंधी आयी थी, और दोनों छप्पर से निकल कर बोधि-वृक्षों के नीचे आ गये थे, सामने ढाल है। सारा शरीर धूल से ढक गया है। मनीषा नजदीक खींच कर बालों मे पडे तिनके बीनती जाती है। उसने पूछा था, "पेड़ गिर पडे तो?"

"दोनो दब जायेंगे..." अक्षत ने उत्तर दिया।

"मेरे लिए सफेद गुलाब लगवाना।" मनीषा बोली थी

'और मेरी देह मे जो भी काम आ जाये, सब ले लिया जाय। मन की आग भी "

दोनो और निकट आ जाना चाहते थे, पर नहीं। अपनी बनायी दीवारें नही तोड़ी जातीं। दोना सम्पन्न-सन्तप्त खडे हैं।

'एक बात मानोगी मनीषा?' उसने पूछा था।

"क्या?'

"विन्ध्याचल की तरह मानना पडेगा।"

"कब आओगे, बस यह बता दो और सब स्वीकार कर लूंगी।"

"कभी नही।" कहते-कहते भीतर का धीरज टूट गया था। पर दोनों चुप थे। जैसे नदी तट पर कोई प्रतिज्ञा करके धार रहे हों। उस पार नावे अभी नही खुली थी, इधर का घाट भी वीरान पड़ा था। दूर क़स्बे के स्टेशन पर जब रेल की सीटी गूंज जाती है तब दो घटे बाद कोई घाट पर

नाव का इन्तजार करता दीख पड़ता है। आज शायद कोई भी नही आया था।

उठ कर चले आये और पागलो की तरह पतले के वनो की ओर चले गये। बस साथ रहना इष्ट था। अक्षत के पैरों को पतले ने काट दिया था। चरागाह की ओर से घूमते वापस लौटे, तब शाम हो गयी थी।

और तब से आज तक—न अक्षत ने कोई वचन लिया था न दिया था। विन्ध्याचल नत होगा। अकारण। मनीषा क्या देती थी, वह नही जानता। क्या माँगती थी, यह भी नहीं जानता। वह सब कुछ उसी पर छोड़ देती थी। जो मन स्वीकारे, वही ठीक। अधिकारहीन होकर अधिकारिणी हो जाती थी।

तेज सीटी की आवाज के साथ गाड़ी रुक गयी। चारो तरफ सन्नाटा था। बीहड़ सुनसान में अचानक यह रुकाव कैसा? अक्षत ने आँखे रगड़ ली। खिड़की से बाहर झाका तो नागफनी की बाड़ दूर तक खड़ी थी। कोई स्टेशन नही था। शायद सिगनल का इन्तजार हो। न जाने अपने आप में कैसा लगा। मन भर-भर आता है। डिब्बे मे सब सो रहे है, कोई भी नहीं जागता कुछ देर बाते ही करता। गाड़ी धीरे-धीरे रेंगने लगी। एक छोटा-सा गाँव सोया पड़ा था। हलकी चाँदनी मे छतें और ऊँची ड्योढियाँ चमक रही थी, छप्परो की किनारियो से दूध भर रहा था। चमकदार बादलों के बीच से कुछ गर्वीली चोटिया झाँक रही थी। मूड़ मट्टी का मैदान चाँदी-सा चमक रहा था...

ऐसे ही रेती चमका करती थी—दोनों किनारो पर फैली हुई रेती। सजय बाँह पकड़ कर कहता, 'चलो अक्षत, अब बहुत देर हो गयी।' और तब चाँदनी के सैलाब मे डूबे स्वाप्निल गाँव की ओर देखते रह जाते। चमकदार बादलों में डूबा हुआ गाँव! बचपन बीता और दोनां अलग होकर कितने वर्षों बाद फिर उसा गाँव मे मिले थे। अब अक्षत रङ्ग और कागज लिये न जाने क्या क्या उतारा करता था और सजय न जाने क्या क्या लिखता रहता। दोनों मे न जाने कैसा क्षमता थी, सजय कहता, "अक्षय ये गांव जायेंगे! ये जो कुछ इनमे टूट कर बदल रहा है, इसे रङ्गो मे उतारे जाओ.. एक इतिहास बना कर रख दो..."

"बड़ा मुश्किल है सजय, बनाते-बनाते नदी का रंग बदल जाता है" अक्षत कहता।

"बदल जाने दो, वह तो हमेशा रहेगा, पर जाल फेंकने से पहले मछुआरा झुक कर जब अपनी शक्ति तोलता है—उस मुद्रा को लो, मल्लाह जब नदी की छाती में बाँस गड़ा कर धारा चीरता है उस पौरुष को लो, अक्षत नदी मे दीपदान करती स्त्रियों की श्रद्धा को लो...ये हमारी प्रगति के चरण हैं। पता नहीं कल कौन सा रूप होगा। ये दृश्य जीवन के किसी और रूप को जन्म देकर खो जायेंगे। इन्हें इनके पूरे अर्थों के साथ उतार लो "सजय कहता था, "तुम्हारी रेखायें और मेरे शब्द! एक जीवित युग छोड़ जायें!"

सजय ऐसा कहता तो वह बहुत ऊपर उठ जाता...कितने रग, कितने चित्र, मुद्राएँ और भाव! कहाँ फुर्सत है? सारे सामाजिक सम्बन्ध सुविधा के लिए हैं, स्थितप्रज्ञ हो सकने के लिए। आचरण, वृद्धि और वासना के नियमन के लिए। रगों के साथ सबका शमन हो जाता है, कहाँ कुछ व्यापता है? कोई कमी नहीं खलती।

तब सजय खुद ही कहता' "इस तरह पागल हो जाओगे अक्षत! वह तुम्हारे लिए आती है और तुम समझते नहीं!"

फिर काफी दिनों बाद एक बार बोला था, "अक्षत, बहुत भाग्य-वान हो तुम, मनीषा तुम्हारी अतिरिक्त शक्ति है, तुम्हें कभी इस साहसिक जीवन से डिगने नहीं देगी, जहाँ रुकोगे, वह चलायेगी। जीवन कभी हार नहीं पायेगा..."

लेकिन बाबा की बात से सजय ही सचमुच दुखी था। बहुत सोच समझ कर उसने कहा, "अक्षत, बाबा की बात स्वीकार करके क्या कर पाओगे? तुम्हारे रगों के बगैर हर चित्र अधूरा रह जायेगा। सुबह नदी पर पानी लेने जाती हुई औरतो की धीमी चाल की रेखाएँ जब तक तुम्हारे कागज़ पर नही उतरेंगी, तब तक उस चाल का सौन्दर्य कहाँ उभरेगा? सौदर्य तो तुम देते हो, नहीं तो ये अभ्यस्त आँखें एकरसता के अलावा क्या देख पाती हैं! वही रोज़ के दृश्य हैं, पर तुम्हारे रग उन्हें रोज़ नया अर्थ देते हैं। कौन सी बड़ी सार्थकता है अक्षत! बाबा की बात या यह उल्लास...जो सबके लिये अनायास तुम्हारे माध्यम से मिल जाता है। कोई सहायक लो, जुआ मत खेलो। हर जुआरी आखिर में हारता है।"

और तब मनीषा, बाबा और संजय सभी सामने थे। किस पर आँख मूँद कर अविश्वास करे। खुली आँखो तो हर कोई महान दीखता है।

संजय से उसने बहुत अपनेपन से कहा, "तुम सब क्या चाहते हो?" कुछ भी समझ में नही आता। सब जैसे मन की बात हुई जाती है, बुद्धि केवल वहीं काम देती है जहाँ तर्क हो, विरोध हो, अविश्वास हो, रहस्य हा। पर सजय, यहाँ तो सब स्पष्ट है, सब साफ़ है, सब सीधा है। ग्रन्थियाँ तो कही नहीं। मनीषा, बाबा और तुम...सभी केले के तने की तरह सीधे और ग्रन्थिहीन...इसी लिए बार बार सरक जाता हूँ। इन तनो मे गाँठ होती तो शक्ति आजमाता। विरोध हटाता। स्वार्थ होता तो टकराता। बुद्धि ऐसी जगह बड़ी अशक्त हो जाती है। जो मन से पाता है उसे बुद्धि से जबरदस्ती तर्क जाल मे डालकर तोड़ देना बड़ा दुष्कर है इसीलिए कहता हूँ सजय, विद्रोह और सघर्ष मन की थाती हैं, बुद्धि की नहीं। कोई उलझन मेरे सामने नहीं, पर कुछ इतना विराट और व्यापक सामने है जिसे देखने मे दृष्टि हार जाती है। अंतरिक्ष दृष्टि की सीमा है, प्राकृतिक विस्तार की नहीं। रात का अधेरा भी हमारी दृष्टि की सीमा के कारण है, सुबह तो कहीं न कहीं होती ही है। बस सजय, ये सीमाएँ हैं मेरा सीमित जीवन, सीमित साधन और परिस्थितियाँ। सब कुछ करना चाहता हूँ, सबके लिए करना चाहता हूँ, पर कैसे? किस तरह सजय?"

"अनिश्चितता के लिए मन उत्तर नहीं देता। जो मूल्यवान हो उसे उठा लो...यह अन्तर करना पड़ेगा, जो कम मूल्यवान हो उसे छोड़ो... चुनना पडेगा अक्षत!" संजय बोला था।

"किसके मूल्य को कम आँकू? कोई तो सामर्थ्य से कम नहीं देता। जिसके पास जो है दे देता है, फिर यह अतर की बात कहाँ है सजय! मूल्याकन करने के लिय अततः दृष्टि दोष चाहिए। वह कहाँ से लाऊँ? अपने मन को सँकरा कर लूँ? शायद तभी किसी पर विश्वास कम हो सकेगा। नही तो नही। यह नहीं हो पायेगा...नहीं कर पाऊँगा" अक्षत ने कहा था।

"खुद सोचकर स्वीकार करो।" सजीदगी से सजय बोला।

"सब तो तुम लोगों ने सोचा है, कुछ गलत सोचो मेरे लिए। जो सचमुच सही है उसे अपने अहं में, व्यक्तित्व के झूठे पौरुष पर गलत कैसे कह दूं? इसलिए कि उन बातों को सही मानते हुए भी व्यक्तित्व

की विशेषता का आडम्बर खड़ा करूँ ? कुछ नया कर जाऊँ ! यह नयापन बहुत पुराना है...आदिम बर्बरता का एक रूप है यह वैयक्तिक चमत्कार की सामन्ती मान्यता है सजय ! धर्म ने कितने चमत्कार खडे किये, पर हमें कहाँ पहुँचाया ? भ्रम और अन्धविश्वास मे छोड़ गया । चौरासी करोड़ देवताओ के रहते हुए देवताहीन बौद्ध मत फैल ही गया । कोई नहीं रोक पाया । तुम सभी बोधिसत्व हो...किसे इनकार दूँ ?" अक्षत ने बहुत मन से कहा था ।

"इतना बड़ा विश्वास लेकर जी पाओगे ?" सजय बोला, "यह भी भ्रम का दूसरा रूप है ।"

"भ्रम बुद्धिहीन के लिए है" अक्षत आवेश मे बोला, "विश्वास लिया नहीं जाता सजय, धारण किया जाता है । शरीर धारण करके हम अन्तिम क्षण तक जी लेते हैं । मेरे या तुम्हारे जी लेने मे ही कौन सी दुविधा है ।"

"तुम जी सको, तुम्हारे रग जी सकें, बस इतना चाहता हूँ । इन्हे धूमिल मत होने देना, इन्हे सीमा मे जिलाओ चाहे असीम मे—चाहे जिसमे !" संजय की अकुलाहट भरी आवाज थी, "चाहे जो स्वीकार करो—बस !"

एक झटका लगा और गाड़ी रुक गयी । उसका छोटा-सा स्टेशन मदहोश पड़ा था । जैसे उसमे धीरे धीरे चेतना आ रही हो । दूर का आसमान सुरमई होकर चाँदनी पी रहा था । हवा मे नमी थी । डिब्बे के एकाध यात्री जागने के क्रम मे थे । न जाने मन कैसा हुआ कि लौटने को कहने लगा । यह दो वर्षों का अज्ञातवास क्या क्या देखेगा जाकर ? एक भी पत्र नहीं डाला इस बीच । सब लोग क्या सोचते होगे ? और सहसा पाकर किस तरह मिलेंगे ? उसने सामान उठाया और उतर पड़ा । प्लेटफार्म पर खडे होकर इच्छा हुई कि पख लग जायें और वह गाँव मे हो—इस चाँदनी के आसमानी समुद्र से स्वप्न की तरह उतरे । मनीषा बाहों मे घेर ले, सजय मार बैठे और बाबा अपने मे डुबो लें—

हलकी हवा चल रही थी । सारे कपड़े उतार दे यहाँ से वहां तक नंगा हो कर घूमे । जैसे सब अक्षत को वहीं मिल गये हो । कौन पराया है, जिससे शर्म करे । छिपाव रक्खे । तभी गाड़ी छूट गयी और वह सामान लिये उस छोटे से स्टेशन से बाहर आ गया ।

कुत्ते जाग गये थे। पर दुकानें सोयी पड़ी थीं। कदम उठते गये और पता नही किस तरह सारा रास्ता कट गया। वह नदी के किनारे खड़ा था। एक क्षण देखता रह गया...बहता हुआ अथाह पानी! कहीं कगार टूट कर झम से गिर पड़ा। ठेके वाले जाग गये थे और एक बड़ी व्यापारी नाव मे ऊँट चढ़ाये जा रहे थे...'उर्र...र...र...र' और फिर छप-छप। नाव काँपी और ऊट चढ गया। सवारी वाली नाव के लिये अभी सवारियाँ नहीं थी। कह कर वह उसी नाव पर बैठ लिया!

नदी चढ़ी थी। बाँस से किनारा ठेला और अब धार थी। बहता हुआ पानी। सहसा मन अकथनीय बोझ से भर आया। पानी मे गँदलापन और गति थी। झाँक कर देखा। कोई तस्वीर नहीं झाँकती। न जाने कैसा बोध हुआ। अक्षत को लगा कि वह नाहक़ ही चला आया, न आता तो बेहतर होता। कौन मिलेगा अब? सब पराये हो गये होंगे। सब तस्वीरें मिट गयी होंगी। सारा उल्लास और आल्हाद खो गया। उसे कोई न देखे। मन हटाने के लिये उसने बनाये चित्रों की फाइल निकाली। कितना रगा है उसने, एक क्षण को भी नहीं बैठा। बीमार न पड़ता तो न जाने कितने चित्र होते। अनगिनत!

पूरब से सुबह हो रही थी। पानी पारे की तरह मोटा था और लहरो के थपेडे नाव को कँपा रहे थे। दूर किनारा अभी धुँधलके में डूबा था। मन फिर हुलस आया।

विन्ध्याचल अभी नत होगा।

सजय शब्दों के महल मे सोया पड़ा होगा।

बाबा आँखो मे तस्वीर लिये गुमसुम बैठे होंगे।

और वह जाकर अपने रंगों से सबको भर देगा।

किनारा आते ही मन फिर डूबने लगा। क्या होगा? कौन कैसा होगा? उतर कर एक क्षण सोचा...पहले कहां? सजय की ओर। उससे सब के लिये पूछ पायेगा।

अभी तो सजय के घर का दरवाजा आया था। भीतर शब्दों का महल खड़ा होगा! खटखटाया तो बड़े भाई ने दरवाज़ा खोला। संपूर्ण भर लिया। जैसे बोल न पाते हों...'अक्षत...कहाँ खो गये थे, अच्छा किया तुम आ गये...बहुत अच्छा किया तुम आ गये...बहुत वक्त से आ गये अक्षत!' और उन्होंने बाँह पकड़ कर शब्दों के महल के भीतर कर दिया!

. एक बार देखता रह गया। चारों तरफ़ काग़ज़ । काग़ज के ढेर आलमारी में, सदूक पर, खिड़की पर, मेज़ पर। और उन पर जमी हुई धूल की पर्त। सचमुच शब्दों का महल खड़ा था। भरा भरा-सा ताकता रह गया। तभी सजय की आवाज कानों मे पड़ी—'आओ अक्षत...'

आवाज़ ने दिशा दी। उधर कोने मे एक खाट पर संजय पड़ा था। कितना लम्बा हो गया और आखें जैसे निकली पड़ती थीं। मुख पर केवल आखे थी। सजय कुछ बोल रहा था और अक्षत ने सब धीरे धीरे सुना.

शब्दो का महल बन चुका था, पर शिल्पी जाने को तैयार खड़ा था। और...और बाबा की आँखों की तस्वीर मिटी नहीं, वे उसे साथ ले गये।

और विन्ध्याचल नतशिर चला गया। लेकिन अक्षत द्वारा दिया मस्तक का शाप उतर गया। अब सूरज रोज सुबह सिन्दूर भरता है।

अक्षत ने गहरी साँस लेकर सजय को देखा और फिर खिड़की की ओर। सुबह सिन्दूरी माँग लिए मिलने आ रही थी मनीषा तो नहीं?... और उस सिन्दूर के बीच डबडबाया-सा गोला उभर रहा था...बाबा तो नहीं?

कही भी पानी नही था। कोई तस्वीर नहीं थी। पथरीली जमीन दूर तक फैली पड़ी थी। एक दूसरी ही सृष्टि थी...

सजय बुदबुदाया, "अक्षत! अब पत्थर पर तस्वीरें आँकना! पानी के रङ्ग चुक गये ..इन पत्थरों को तराशना, इनकी मूर्तियाँ गढना।"

अक्षत उन पथराई आँखो को देख रहा था, जो और भी बड़ी होती जा रही थीं!

संजय फिर बुदबुदाया, "मैं जानता हूँ अक्षत! ये पत्थर भी एक दिन चुक जायेंगे, तब तिनके उठा लेना, उन्हे जोड़ तोड कर रूप देना, पर हारना मत—"

अक्षत ने सजय की पथराई-उदास आँखो में झाँक कर देखा, उनमे पानी छलछला आया था। एक अक्षय तस्वीर उनमें उभर रही थी। और अक्षत ने काँपते ओठो से उसके माथे को चूम लिया।

●

अपने प्यारे कवि जॉन कीट्स् की याद में

वीरेन्द्रकुमार जैन

●

कीट्स्, कोमल कीट्स,
वह जो काँप-काँप उठता था
सामने पाकर किसी अनजानी लड़की को!
क्या आप उसको हिस्टीरिया कहेंगे?
न्यूरोसिस कहेंगे, या कि नाड़ी-भंग कह देंगे?
या कि फिर वह मात्र पल भर का रोमांच कम्पन था?
या कि वह हतवीर्य दुर्बल लालसा का
महज़ लाचार, बेक़ाबू उद्वेलन था?
या कि फिर हवाओं औ' बादलों पर तैरती
दिव्य की वह बीन थी आसमानी,
कि जिसको बजाती है
अनन्त की वह आलोक पंखिनी बेटी
अपनी सपनीली अँगुलियों से :
जो उतरती है समय के फेनायित सागरों की तरंगों पर
रंगों की लीला-केलि रचने को?

●

मैं कहता हूँ, उस कोमल किशोर को
सामने पाकर स्वयम् सौन्दर्य शर्मा जाता था!
वह किसी आत्म-हारा कुमारिका के
सोये हृदय की पल-पल काँपती सीप में
प्यार का पहला मोतिया सपना था।
वह रमणीत्व की चेतना का
वह सारभूत परिमल साकार था,
कि जिसको देख कर—

रमणियों में कोई सम्राज्ञी भी
ईर्ष्या और मोह से मर्माहत मूर्छित हो जाती !
कुछ ऐसी चुटीली, कमनीय कजरारी मोहिनी थी
उस अर्ध-नारीश्वर कवि कुमार योगी मे।
वह तो वह कोमलतम, सूक्ष्मतम प्याला था आरपार,
जिसे धरती की माटी ने दिया था आकार
केवल एक ही बार :
कि जिसे चुना था परम सर्जक ने
अपनी अमृत-सुरा
मर्त्यों की धरती पर ढालने को।
वह तो उन बहती हवाओं औ' पानियों से बना प्याला था,
कि जिसको रूप देने को
चिर चंचल लहरों औ' वायवी तरंगों ने
थिरता में बँध आना मंजूर कर लिया था !
उस प्याले की लहरीली तहों मे
देश, काल और रूप की लीलाएँ,
तारों की रंगीन रोशनियों से
पल-पल बनती-मिटती चित्रावलियों-सी
झलकती रहती थीं !
वह दिशाओं के नीलमों से बना
ऐसा एक विशाल फ़ानूस था,
जो अपने केन्द्र मे जलती
अखण्ड सत्य की एक श्वेत लौ को
खण्ड-खण्ड कर, अनन्त रंग की
उत्सव-लीला मे बिखेर देता था।

●

हाँ, वही परमतम ज्वाला अनवरत जल रही थी
उसके हृदय की बन्द कमल-पाँखों में :
इसी से उस नाजुक सलोने लड़के ने—
उस काम-मोहन देवकुमार ने—

मानवीय सौन्दर्यों, यौवनो और प्यारों के
भाग्य पर प्रश्न-चिन्ह आँके थे।
हर पार्थिव रूप-सौन्दर्य की
अनिवार्य भंगुरता को देख कर
उसका कोमल हिया कसक-कसक उठता था।
कोई भी धर्म, दर्शन तर्क-सिद्धान्त ज्ञान-विज्ञान,
दे नहीं पाये उत्तर उसकी आत्मा के
उस वह्निमान प्रश्न का,
जिसकी ज्वालाओं में व.
दिन रात जलता रहता था
वह अनन्त के विराट द्वार पर
सान्त की वह चरम चीत्कार पुकार था,
जो सीमा की बाहों में
असीम के रमण की चाह लेकर मचल उट्ठी थी।

●

हाँ, वह वासना की पीर से विह्वल लड़का
अपने कोमल किशोर सीने में
ऐसा एक ज्वालामुखी,
ऐसी एक प्रलयंकरी आँधी लिए चलता था,
कि जिसको सहने की, झेलने की, थामने की,
तुष्ट करने की सामर्थ्य—
सीमा की किसी भी बेटी में नहीं थी।
वह आग और तूफान थम सकता था
उसी धरती पर,
जिसकी विपुलता और गहराइयों,
अन्त नहीं जानती हों, तल नहीं जानती हों!

●

उसके वे कुसुम्बी ओठ तरसते थे
ऐसे एक चुम्बन के लिये,

जो कभी टूटना नहीं जानता,
जो कभी छूटना नहीं जानता,
कि जिसके भीतर से स्रवित हो
ऐसी एक मादन मधु गन्ध-धारा,
जो आपूरित हो ऐसी एक सघनता,
विपुलता, तन्मयता औ अगाध अन्तर-माधुरी से,
जिसका आस्वाद मानव की इन्द्रियों ने
इससे पहले कभी नहीं जाना हो!

❁

आकाश के शून्यों से तदाकार
उसकी वे बड़ी बड़ी विस्मित, विस्फारित आँखें,
एक अजब आत्मलीन मूर्छा में
उड़ती तैरती रहती थीं,
अगम अनन्तों के मर्मों की थाह पाने के लिये।
मानो कि दो अग्निपंखिनी देव-कन्याएँ
अवरुद्ध, जड़ीभूत भौतिक तत्व के
वज्र को पिघला कर,
उसे चिरन्तन अविनाशी सौन्दर्य के
तरल प्रवाह को बहा देने को आकुल व्याकुल हों।
अरे हाँ,
कुछ ऐसा ही राज़ था
उसकी उन मर्म वेधिनी भाग्य-वेधिनी आँखों का
जिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि-विवेक की दानिशमन्द दुनिया
शायद कह देना चाहती थी हिस्टीरिया!
कुछ सनातन, चिरन्तन् के दावेदारों का कहना है,
कि उसने केवल इन्द्रियों के, रक्त मांस के गान गाये
कि वह था कवि केवल नश्वर रूप सौन्दर्यों का,
जो धूल माटी की भंगुर लीला के
पार नहीं देख पाया था!—

... ...

तो चुनौती है मेरी उस शाश्वत, सनातन को,
सारी प्रकट प्रकृति-सत्ता के
उस गोपन स्रोतो मूल को,
यदि वह कर सके अस्वीकार
इस नाना-रंगिणी, नाना रूपिणी
सृष्टि-लीला के अन्तहीन जुलूस को,
जो उसी सच्चिदानन्द अमृतेश्वर के
अनाहत आनन्द की अनन्तिनी धारा है।

वह अनियारा तरुण काम मोहन,
भगवान के उसी दुर्दाम उद्दाम आनन्द सागर का
देवदूत गायक था ·
जो उसकी लहरों की आकाश-वाहिनी
चूड़ा पर निरन्तर खेलता रहता था,
और अपनी समूच सत्ता को—
पल-पल उस आनन्द सागर की
प्रत्येक लहर के साथ तरंगायित,
वलयित, एकतान करता रहता था।

●

अपनी नाजुक, लचीली, तन्वंगी देह-वल्ली मे,
(जो किसी लड़की को सामने पाकर कॉंप जाती थी :
वह देवों की दिव्य देहों का कल्प-काम लोच
और सर्व वल्लभ अन्दाज़ लेकर चलता था।—
लोच और सम्मोहन ऐसा कि
जो घोरतम, गाढ़तम, वज्रीभूत
भौतिक तत्व को भी—
लाचार कर दे, उसके सपनों और
आविर्भावों की ज्योतिर्मयी जगती मे,
उसका मनचाहा आकार लेने को !

●

निश्चय ही उसने रक्त-मांस,
इन्द्रियों और मन-प्राणों के गीत गाये थे,
लेकिन आत्मा के अतल समन्दरों की अविराम बेचैनी से गाये थे,
ऐसी कुछ दुर्दाम अनन्तिनी वासना से
विह्वल आलोडित होकर गाये थे:
कि जो शान्त नहीं हो सकती थी तब तक,
जब तक वह मुक्त नहीं कर दे
उस मर्म कक्ष के द्वार को—
जहाँ भंगुर भौतिक की बाहों में,
कल भगवान की अमृता बेटी का
मुक्त रमण होना है!

●

इसी से तो अपनी चरम परम वासना को
सिन्दूरी कल्याणी ज्वाला में,
उसने छार-छार कर दिया था
अपने भौतिक अस्तित्व को।
उसने इन्द्रिय-गम्य की सीमा को तोड़ देने के लिये,
ऐन्द्रिक अनुभूतियों के सीमान्त बींधे थे,
उसने अपने घायल हृदय की मोह दग्ध आहों से,
पराजित प्यार की कसकती कराहों से,
मांस की निविडता के अतल गर्भ चीरे थे :
भगवान की निर्बन्ध भूमा का अमृत,
मर्त्यों की बन्दिनी भूमि पर लाने के लिये।
चिर काल की क्षायक भंगुर देह को
चिरन्तन् जीवन का
पारदर्शी भवन बनाने के लिये!

●

इसी से तो उम्र के केवल छब्बीसवें बरस में
कर लिया उसने मरण का आलिंगन :

मानों कि नाशवान सौन्दर्य, यौवन और प्यार की
विफलता औ, पराजय को
सहने से करके इनकार,
वह स्वयम् मरणातीत अमृत को
अपनी पार्थिव भुजाओं में
बाँध लेने को आकुल पागल हो उठा था !
इसी से तो उसके मरते ओठ गा उठे थे
वह अमर गान
'मेरा नाम पानियों पर लिखा हुआ है !'
('My name is writ on waters')

●

कौन कर सकता है उस दावे से इनकार ?
क्योंकि यह सच है कि
कमल अधखिला ही मुर्झा गया था .
फिर भी उसके परिमल औ, पराग ने—
महासागरों औ, आकाशों को पार कर,
जानी हुई पृथ्वी का हर किनारा छू लिया था :
देश-काल के अन्तराल चीर कर
सत्ता में विद्यमान हर मानव-हृदय के
मर्म को अपनी अन्तर पीर से बींध दिया था !
सर्वकाल के बहते पानियो पर
उसका नाम अग्नि के अमिट अक्षरो मे लिख दिया था।!

●

ओरे ओ ! चिरन्तन् सौन्दर्य के अनपहचाने देवदूत,
ओरे ओ ! अबोध बालक अनन्त के
तू आया था इस भंगुर जगती में,
मर्त्य मानवों के हृदयो मे
अमर जीवन की प्यास औ' पुकार जगाने के लिये !

मैं नवीन भारत का एक तरुण कवि,—

—उस भारत का, जहाँ—
आत्मा का प्रकाश सबसे पहले जागा था—
मै तेरा जयगान करता हूँ,
मानव ओ, चैतन्य की नवीन विकास प्रगति के
अचीन्हे अजाने पैग़म्बरों के बीच :
कि तूने अपने जलते तारुण्य की मशाल से
छिन्न-भिन्न कर मौत के वज्र घूंघटों को,
झाका था मानव-विकास की उस नवीना ऊषा मे
जहाँ आत्मिक और भौतिक तत्व
रमण कर रहे हैं एक मुक्त नग्न आलिंगन में—
करने को आविर्मान,
आश्चर्यों और सौन्दर्यों का एक ऐसा
अपूर्व जगत जाज्वल्यमान,
कि जिसकी परछाईं तक छू नहीं पायी थी,
इससे पहले, मानवी कल्पना की
ऊँची से ऊँची उड़ान !

ओरे ओ मेरी आत्मा के
अभिन्न वल्लभ, अयाने सहचर,
मैं अपने गीतो मे तेरा जयगान करता हूँ :
तू—जो फिर से एक बार स्पन्दित हो उठा है
मेरे अंग अंगों में, मेरे हृदय की कसकती धड़कनो मे,
मेरी धधकती नाड़ियो और रक्त-वाहिनियों मे .

कीट्स, कोमल कीट्स,
वह जो काँप काँप जाता था ।
सामने पाकर किसी अनजानी लड़की को ?

*

मेरे सहचर मित्र

गजानन माधव मुक्तिबोध

●

मेरे सहचर मित्र,
जिन्दगी के फूटे घुटनो से बहती
रक्तधार का जिक्र न कर,
क्यो चढ़ा स्वयं के कंधों पर
यो खड़ा किया
नभ को छूने, मुझको तुमने।
अपने से दुगुना बड़ा किया मुझको
क्योकर ?
गभीर तुम्हारे वक्षस्थल
मे अनुभव-हिम-कन्या गंगा-
यमुना के जल
की पावन शक्तिमान लहरे पी लेने दो।
ओ मित्र, तुम्हारे वक्षस्थल के भीतर के
अन्तस्तल का पूरा विप्लव जी लेने दो।
उस विप्लव के निष्कर्षों के
धागों से अब
अपनी विदीर्ण जीवन-चादर सी लेने दो।

इस विप्लव की चल तडिल्लता की
शैया पर
लोटती हुई बेचैनी की मेरी आँखें
हैं देख रहीं .
प्रश्नों की दानव कांखों
ये दबे-घुटे .कैदी उत्तर ॥
पर, ज्यों ज्यों उत्तर के मुख पर
उद्विग्न दृष्टि की किरणें केंद्रित करता हूँ
वे लाल-लाल आंखो से मेरा पीला
मुंह निहार कहते—
"हमको यो गलत न दो उपमा,
तुम अपनी सडी गली महिमाओं की
निर्माल्य मालिकाएं
हमको मत पहनाओ।
ओ, देखो तो उस ओर ।
और मै आँखे फाड़े देख रहा .

उस नीले नीले आसमान की सरहद पर
परिचिता एक कोमल चिड़िया,
जो नित्य तुम्हारे घर आंगन
रोशनदानो मे उड़ती थी
घर की आत्मा,
वह दूर क्षितिज पर ठहरी सी
काली बिंदिया
उस नीले नीले आसमान की सरहद पर
वन-पक्षिराज बन
पंख पसारे उडती हुई मुझे कहती,
वह पक्षिराज मुझसे कहता .
ओ मित्र, तुम्हारे घर आंगन
को शैलांचल — गिरिराज शिखर
तो होने दो
ओ, आसमान तो झुकने दो उसके

मुख पर
इस समय बात के पूरे नहीं
अधूरे तुम,
कमजोर .प्रखर होना बाकी,
अब बूटी-दबा दीन ढेला
कैलाश शिखर होना बाकी,
कैलाश-शिखर पर बैठेगे ।।

मै ज्यों-ज्यो उत्तर के मुख पर
उद्विग्न दृष्टि की किरने केंद्रित करता हूँ
उत्तर का मह .
पहले बादल,
फिर बादल मे मानव मुख रेखा ऊर्जस्वल
भव्याकृति, स्वेदायित
रक्तांकित-मुख मडल
धीरे-धीरे आ मेरे इतने निकट कि वह
आँखो पर झुकता आता है
इतना समीप झुकता कि त्वचा की
रेखाए
रक्तिम घावो मे कटी पिटी,
मेरी आँखो में उमट रही ।
वह घाव-भरे चेहरे का कोई सैनिक है।
रण-मैदानो की संध्या मे
जब लाल विभा बैंगनी हुई
संवलाई लाली मे डूबी सरिताओ की
थर्राई लहरो के भीतर से उझक-उचक
झल्लाहट-भरी दिली तकलीफ़ो की
बिजली
या पीड़ा-भरे विचारो की जल-मुर्ग-
मछलियों की उछाल
बेचैन कोण जब बना रही,

पीड़ा के उस सरिता तट पर
शत हताहतों के बिखरे दल में देख मुझे
मूर्छित आहत
अपना गहरा साथी-सैनिक पहचान मुझे
यह जान कि मेरी अभी धुकधुकी
बाकी है
मेरे टटोलने प्राण झुक रहा आंखो मे
वह उत्तर . सहचर सैनिक है ।
उसके मुख का
उद्वेग भरा आनन्द भरा
वह रग
आँख पी लेती है
मुंद जाती है
उत्तर के मात्र स्पर्श ही से
निर्णायक ठंडी गरम झनझनाहट गहरी
तन मन मे फैल कि प्राणो मे
फन फैला कर अड जाती है,
रुंध जाती है
औ अकस्मात् जबरन, धक्के से
शिलाद्वार
वह गुहा-द्वार आत्मा का धड़ से
खुलता है।
औ' अन्तर के उस गुहा-तिमिर मे
एक सुदृढ़
पत्थर के टेबल पर रक्खे
रक्ताभ दीप की लौ
कुछ हिलती डुलती है
अंधियाले मे प्रस्फुटिता
लाल-वलय शाली
अंगार-ज्योति के नीचे
पीड़ा की पुस्तक केपन्ने स्वयं पलट

जाते।
कालान्तर-अनुभव ग्रंथ
देश देशान्तर के,
जो पढ़ता हुआ जातवेदस् उद्दण्ड
क्रान्तिदर्शी कोई
बैठा था पत्थर-कुर्सी पर आजानुबाहु,
वह सहसा उठ
आंधी-बिजली पानी के क्रुद्ध देवता-से
घुस पड़े भव्य उत्तर का अभिवादन
प्रचड
उससे विशाल आलिंगन कर
सहसा वह बहस छेड़ देता
मानव समाज रूपान्तर की
विधि-धाराओं मे मग्न मानवी-प्राणों के
मर्मों की व्यथा-कथा अंगार तपस्या पर
मानव-स्वभाव के प्रश्नों पर
मानव-सभ्यता-समस्या पर,

उस गुहा भीत से कान लगा मै सुनता हूँ
जो बहस कि उससे ज्ञान हुआ—
यह भान कि तुमने कंधा पर
सहसा मुझ को क्यो खड़ा किया नभ
को छूने
अपने से दुगुना बड़ा किया
जिससे पैरों की उंगली पर
तन कर ऊंची गर्दन कर दोनों हाथो से
मैं स्याह-चन्द्र का फ्यूज़ बल्ब
जल्दी निकाल
पावन प्रकाश का प्राण-बल्ब वह
लगा सकूं
जो बल्ब तुम्हीं ने श्रमपूर्वक तैयार किया
विक्षुब्ध ज़िन्दगी की अपनी
वैज्ञानिक प्रयोगशाला मे।
उस शाला का मैं एक अल्प-मति
विद्यार्थी,
जड़ लेखक हूँ मैं अननुभवी,
आयु मे यदपि मैं प्रौढ़,
बुद्धि से बालक हूँ॥
मै एकलव्य जिसने निरखा
ज्ञान के बन्द दरवाजे की दरार से ही
भीतर का महा मनोमंथन-शाली मनोज्ञ
प्राणाकर्षण शाली सुन्दर प्रकाश देखा।
पथ पर मंडराते विद्यालय के शब्दो से
विद्या के स्वर-कोलाहल में से छन कर
कुछ
आये वाक्यों से प्राप्त किया
सब ग्रंथाध्ययन वंचिता मति ने सबको पर
ज्ञान के हृदय जाग्रति स्वप्नों को
प्राप्त किया
बचपन से ही,
आश्चर्य-चकित जिज्ञासु-आत्मा चढ़ती
है शत-किरण चट्टान
शिखर नभ के
छुटपन से ही।
उस मुक्ति-काम बेचैनी मे
मैं उन गरीब गलियों मे घूमा-फूमा हूँ
जिन गलियो मे तुम अक्षयवट
ले शत-सहस्र भावना-विचारो के पल्लव
औ जटा जटिल-अनुभव शाखाएं लिए
खड़े।
जाने कितने जन-कष्टों की पीढ़ियां दुख
की देखी हैं,

तुमने उस अक्षयवट से मैं
चिन्ता में अकुलाता झूमा
बेचैनी के सांपों को मैने छाती से
उस अक्षयवट के तने-तने पर रगड़ा है
वह रगड अभी तक बाकी है
व्रण-रेखाएं जिसकी
इस छाती पर साक्षी।
ओ अक्षयवट यदि तुम न रहे होते
मेरी इन गलियों मे
तो अंधकार के सिवु तले
पानी के काले थर के नीचे कीचड मे
अज्ञान-व्हेल की प्रदीर्घ भीषण ठठरी सा
मैं कहीं पडा होता सूने मे,
किसी चोर की गठरी सा,
रह अंधकार के भूमे सा
निशि-वृषभ-गले ॥

खूंखार [illegible]निक संशयवादी
शायद मै कहीं न हो जाऊं,
इसलिए, बुद्धि के हाथों पैरों की बेडी
ज़ंजीरें खनका कर तोड़ी,
तुमने निर्दय औजारों से,
टूटती बेडियों की नोकों से जख्म हुआ
औ' खून बहा
यह जान तुरत
अपने अनुभव के गंधक का
चुपडा मरहम मेरे व्रण पर तुमने सहसा।
भीषण स्पर्शों की तेज दवा
झनझना गई,
तन-मन की ढीली-रगें झटक झटका कर
तानी, बना गई।

जब दीप्त तुम्हारी आंखों मे
मेरी ताक़त बढ़ गई स्वयं
तुम कर्मवाद के धीर दार्शनिक से लौटे
गंभीर चरण चुपचाप क़दम।
मै फिर भी अपने घावों में उलझा सा
हूँ
जिससे कि तुम्हारे कुशल अनुभवी
प्राणों की
मुझ को सहायता मिली रहे।

यह जान तुम्हारे माथे की
तीनों रेखाएं उलझ गईं
नभ मे त्रिकाल रेखाएं विद्युत की चमकीं
मैंने जब नीली चकाचौंध
वह देखी तो
वे भीषण होकर गरज गईं
झूठे अवलम्बन की शहनाई मूक हुई
भावुक निर्भरता का संबल दो टूक हुआ.
देखा सहसा मै बदल गया,
भूरे निःसंग रास्ते पर
मै अपने को ही सहल गया।

मैने छोटे निज जीवन मे
जी ली है अनगिन जिन्दगियाँ।
जिन्दगी हरेक
प्रज्ज्वलित चन्दन का ईंधन,
मेरी धमनी मे जलते चन्दन का धूँआ,
छाती के रेशे रेशे मे
उसने घुस-फंस कर की काली
धड़कन मेरी।

पर वह काजल है चन्दन का ।
वह सवलाया कलियाया मुंह
है स्नेहभरी चिन्ता मे शाल्मलिवृक्ष
तले
उद्विग्न खडे बनवासी दुर्धर अर्जुन का
जिसके नेत्रो मे चमक उठे,
चन्दन के पावन अंगारे,
जो सोच रहा क्यों मानव के
इस तुलसीवन मे आग लगी,
क्यों मारी मारी फिरती है
मन की यह गहरी सज्जनता,
दुख के कीड़ो ने खाई क्यों
ये जुही-पत्तियां जीवन की,
निर्माल्य हुए क्यो फूल युवक-युवती
जन के
क्यों मानव-सुलभ सहज आकांक्षाओ
के तरु
यों ठूॅठ हुए वृन्दावन के,
मानव-आदर्शों के गुम्बद मे आज यहां
उलटे लटके चिमगादड़ पापी
भावों के ।
क्यों स्वार्थ-घृणा-कुत्सा के
थूहर जंगल में
हैं भटक गये ये लक्ष्य
पुराने पॉवो के ॥
क्यों घर-आंगन की मौन अकेली
छाया मे
चिन्ता के प्रेत
सियाह-बदन,
हैं झूल रहे
आवाज़ कढी उस झूले की
धॅसते हिय की हिलडोल बनी
लोहे का गाडर छत पर का
छाती पर धम से आ धमका
किस कारण से ?
वह कारण, सामाजिक जंगल का
घुग्घू है,
है घुग्घू का संगठन, रात का तम्बू है ॥
यह भीतर की ज़िन्दगी नहाती रहती है,
हिय के विक्षोभो के खूनी फ़व्वारों मे,
अंगारो मे !
इस दिल के भरे रिवाल्वर मे
बेचैनी जोर मारती है इसमे क्या शक।
क्यों मशीन के ताक़तवर उस
पिस्टन की सी दिल की धक-धक,
उद्दाम वेग से चला रही
ये लौहचक्र
मन-प्राण-बुद्धि के विक्षोभी ।
यह स्याह स्टीम-रोलर जीवन का, सुख-
दुख की
कंकर गिट्टी यकसां करके,
है एक रास्ता बना रहा युग के मन का,
मेरे मन का ॥

रास्ते पर इस
मानव, व्यक्तित्व कदम्बों की शीतल छाया,
विद्रोहो की विधियाॅ,
विक्षोभी मन का बल,
छाती में मधुमक्खी का छत्ता फैला है
जो अकुलाया,
औ दशतत्परा मधुमक्खी के दल दल ।
रस-मर्मज्ञाओ की सेना स्नेहान्वेषी,

पर डंक सतत तैयार, बुद्धि का मित
संबल।
मधुमक्खी दल ने ज़िन्दगियों के फूलों से
रस-बिंदु मधुर एकत्रित कर संचित रखने
मेरे प्राणों में अग्नि-परीक्षाओं से गहरे
छेद किये
छाती मधुपूरित अनगिन छेदों का जाला,
आत्मा में मधुमक्खी का है छत्ता फैला॥
मानव व्यक्तित्व-कदम्ब तले
मधुमक्खी छत्ते के जाले,
तुमसे सीखा कैसे ये पाले जाते हैं,
मेरे दिन, मेरी रातों मे
ओ सहचर मित्र, तुम्हारे दिन हैं,
रातें हैं।
मेरे भीतर
मानव-व्यक्तित्व कदम्ब-तले,
तरु के गंभीर तने पर चाकू से लिक्खीं
काटीं, खोदीं, वाक्यावलियाँ जिन्दगियों
ने।

जिन्दगी हरेक . निजत्व लिए पलकें
खोले,
अपना-अपना व्यक्तित्व लिए
अलकें खोले
अन्तर के तरु की शाखा-शाखा पर
प्रतिपल
चाकू से काट काट, चित्रित करती हैं
गहरा संवेदन।
मानव-व्यक्तित्व-कदम्ब तले,
(गंभीर रात्रि मे) आकर के, चुपचाप
सिमिट,
अकुलाहट की चांदनी
सरल, निर्व्याज मुखी
तरु-तने खुदीं वाक्यावलियाँ
पढ़ती है बहुत ध्यान से, तब
पढ़ते-पढते अक्षर दल से,
उमडी चन्दन की ज्वालाएं,
पावनता की विक्षुब्ध रश्मियां भभक
उठी,
ये खोदे गये मर्म-सारांश भभकते हैं
बस इसी तरह
अर्थों की गहरी ज्वालाएं दिन रात
निकलती इसी तरह,
माधुरी और करुणा में भीगी रहकर भी
हिय के भीतर की शिलालेख चट्टान,
गर्म रहती ही है।
संघर्ष-मार्ग इतिहास मर्म कहती ही है
ओ मेरे सहचर मित्र,
क्षितिज के मस्तक पर नाचती हुई
दो तड़ित्लताओं मे मैत्री रहती ही है।

●

समतल

●

मिश्र है, यूनान है, वह रोम है,
यह रहा भारत, वहा है चीन वह,
एशिया, यूरोप, विस्तृत आफ्रिका,
युक्त अमरीका, अनेक-अनेक वे
एक को सब दूसरे है छू रहे ।
ये इधर के सिन्धु गिरि वन और नद
उधर के भी है सदा से एक से।
स्वजन कब होते कहो परकीय है?

गहन गहरे मे अगोचर रूप से
सूक्ष्म गति कैसे कहां बहती हुई
एक ही जीवन-शिराएँ अन्य के
प्राण मे समरस निरतर ढालती।
एक ही पाताल से उठकर स्वयं
आ रहा है एक ही पय मृदु मधुर।
झड रहा नभ से अमल आलोक यह
बृहत् बूँदो मे निरन्तर एक-सा ।
सत्य शाश्वत एक ही, तब तो सदा,
एक को देखे बिना ही दूसरे
सिद्ध बुद्ध मसीह पैगम्बर विबुध
पा सके है, पा रहे है सब कही ।

पूर्व या पश्चिम कही भी तीर्थमय,
सिधु समतल है सकल संसार के।

सियारामशरण गुप्त

मृत्यु के सुन्दर और असुन्दर चेहरे

●

लघुकथा, कहानियाँ, एकांकी, शब्द-चित्र

३०५

एक शिखर पर दो आत्माएं

'सत्य'

एक बार हिन्दुस्तान के दो महान दार्शनिकों की पवित्र आत्माए बर्फ़ से ढके हुए समय के एक ऊचे पहाड़ पर मिली।

पहली आत्मा ने दूसरी आत्मा का अभिवादन करते हुए कहा, नमस्कार श्रीमान ! आपके आन्तरिक शाश्वत हर्ष मे, मैं अपनी प्रसन्नता सम्मिलित करता हूँ।

दूसरी आत्मा, जो बिलकुल शांत थी, उसमे एक स्पन्दन हुआ, और वह बोली—मेरी प्रसन्नता के अनन्त कारणों मे वृद्धि करने वाले तपस्वी, मेरे प्रणाम स्वीकार करे।

कुछ देर ठहरने के बाद दूसरी आत्मा ने पहली आत्मा से कहा,—आज हम बहुत दिनों के बाद मिले हैं ! आओ हम कुछ समय तक एक साथ बैठे। और उन बातों की चर्चा करें, जो हमारे गत जीवनकालीन विरोधा के बावजूद भी दिलचस्प हैं !

फिर वे आपस में इस प्रकार बातचीत करने लगे।

दूसरी आत्मा—मृत्यु जीवन का कितना करुण उपसहार है। मुझे आज ऐसी ही एक घटना याद आ रही है। इसी पहाड़ के नीचे से जब मैं एक बार गुजर रहा था, तब मैंने एक स्त्री को अपने पुत्र की मृत्यु के दुख मे बिलखते देखा था। उसने मुझसे उस छोटे से जीव को जीवित करने की प्रार्थना की।

पहली आत्मा—हाँ, महोदय, मृत्यु शाश्वत सत्य की तरह हर जगह व्याप्त है। मुझे भी वह घटना याद है, जब कि एक महिला अपने मृत शिशु को जीवित करने के आग्रह सहित मेरे पास आई थी।

दूसरी आत्मा—तब, उस समय, मैं करुणा से आर्द्र हो आया। अपनी तपस्या तथा व्यक्तित्व की परम इच्छा के अनुसार मैंने उस बालक को जिन्दा कर दिया।

पहली आत्मा—मै ऐसा नही कर सका। मैंने उस महिला से, किसी घर से ऐसे चावल के दाने लाने के लिए कहा, जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो। वह प्रत्येक घर मे भिक्षा माँगने गई, पर उसे ऐसी कोई जगह नहीं मिली, जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो!

दूसरी आत्मा—जब मैंने बालक को जिन्दा कर दिया तो उस स्त्री का हृदय आनन्द से भर गया। उसने कृतज्ञता सहित मुझे नमस्कार किया। पहली बार उसने मृत्यु का यह स्वरूप देखा था।

पहली आत्मा—उस महिला को जब सहज सत्य का ज्ञान हो गया, तो मुझे बड़ा संतोष हुआ।

कुछ समय तक वे दोनो मौन रहे। इसके पश्चात् सूर्य के गहरे प्रकाश मे दोनो आत्माए विलीन हो गईं।

मैंने ओस की दो सुन्दर बूँदे देखी। एक फूल पर मुसकरा रही थी। दूसरी पौधे की जड़ के समीप नृत्य कर रही थी!

●

कहानी

अंधेरे की आँखें

श्रवणकुमार दिव्य

●

मैं उसकी व्याकुलता को क्या जानूँ? उसके और मेरे बीच 'पशु' और 'मानव' होने की खाई जो है।

सुबह उठते ही देखा कि डाक-बंगले के बरामदे मे एक बकरी ठिठुरी हुई, निरीह-सी, एक कोने मे सिमटी बैठी है। पहाड़ी इलाका था, शायद इसी से अपने रेवड़ से छुट गई थी। बाहर जोर की वर्षा हो रही थी पार्श्व में नदी घोर गर्जन कर रही थी और इससे उस जीव की ठिठुरन निरन्तर बढ़ती जा रही थी।

मुझे देखते ही वह सहम गई। चाहती तो यह थी कि उसी कोने मे समा जाए, पर मजबूर थी। दीवार उसे जगह नहीं दे रही थी। लेकिन फिर भी वह सिमटी ही जा रही थी। मानो, उसको मुझसे कुछ आशंका थी, भय था, त्रास था और वह उसका अतीन्द्रिय मन से अनुभव कर रही थी। फिर मेरे सामीप्य का आभास पा वह एकाएक उछल कर उठ खड़ी हुई। अपने काल्पनिक व्याघ्र के प्रति अनादर से बैठे रहने मे उसका कोई बचाव नहीं। आँखे उसने घुमाकर सफेद कर ली थीं, लेकिन भागे तो कहाँ भागे? टाँग उसकी टूटी हुई है, वातावरण पर उसका वश नहीं, और उस पर उसका कोई सहचर नहीं, कोई रक्षक नहीं।

कुछ देर यों ही सिटपिटाने के बाद एक क्षण आता है जब अकस्मात सारी दृष्टि बदल जाती है। न जाने कैसे, वह पङ्गु जीव मुझे ही अपना सहचर, अपना रक्षक समझ बैठा और सहानुभूति पाने के लिए मेरे पास सहज ही आ खड़ा हुआ मैं उसे कहता तो क्या कहता? हाँ, उसकी नरम-नरम, रोएँदार, गरदन को सहलाते हुए मैंने उसे मन ही मन सात्वना दी—"भई, तुम्हारे मन में मेरे प्रति यह अविश्वास क्यों?" और जैसे कि मेरे मूक शब्द उसके अन्तस् तक अनायास ही पहुँच गए हों, वह उनका अनुमोदन करने के लिए धीरे-से मिमिया उठी।

ऐसे ही खडे-खडे मैं उसे एकटक देखता रहा। उसके काले रूप में वह जो चमक थी, मुझे बहुत प्रिय थी। उससे मैं कहना तो बहुत कुछ चाहता था, लेकिन किस भाषा में कहूँ? वह, जो उसके और मेरे बीच अगम्य है, उसे कैसे पूरा जाए? मैं उससे पूछना चाहता था कि अरे; क्या तुम सारी रात ऐसे ही ठिठुरती रही? क्यों नहीं तुम मेरे पास आ गई? तुम्हें इस अँधेरे में डर नहीं लगता? और तो कुछ नहीं कर सकता, लाओ तुम्हारी टाँग रूमाल से बाँध दूँ। और अपनी जेब से रूमाल निकालते हुए मैंने उसे पुचकारा। लो, वह तो मेरी भाषा समझती है! क्योंकि रूमाल को को देखते ही उचक-उचक कर वह मेरे आलिङ्गन में आ जाने के लिए व्याकुल होने लगी। उसके मन का आदिम भय भाग गया।

दूर, मानो अन्तरिक्ष मे, कोई व्यक्ति अपनी धोती का लङ्गोट बनाए उस व्यग्र, पहाड़ी नदी की शिलाओं में से अटकी हुई लकड़ियाँ निकाल रहा

है। वह अपने कार्य में बड़ा दक्ष मालूम होता है, क्योंकि ऐसी नदी से ऐसा खिलवाड़ करने के लिए असाधारण साहसिकता आयोजित है। वह बड़ी स्फूर्ति से इस शिला से उस शिला पर छलाँग लगाता है। जरा-सी असावधानी उसकी मृत्यु का कारण हो सकती है।

व्यक्ति ने शायद देख लिया कि कोई यात्री डाक-बगले मे ठहरा हुआ है। पास आकर, उसने झुक कर, मेरा अभिवादन करते हुए पूछा—

"साहब इधर ठहरेंगे ?"

"हाँ, पैदल चलते-चलते बहुत थक गया हूँ, इसलिए आज रात यहाँ आराम करने का ख्याल है।" मेरे स्वर म कुछ रूखापन था।

लेकिन वह इसके तनिक भी अप्रतिभ न हो गिड़गिड़ाता हुआ बोला—"तो साहब, बन्दा ताबेदार है। वह सामने मेरा होटल है। जिस चीज की जरूरत हो, फौरन् हुक्म दें.. हाँ, तो आज दोपहर को क्या खाएँगे ? सब्जी, दाल, शिकार—जो आपका हुक्म हो ?"

मैंने संक्षिप्त मे बताया कि मुझे साधारण भोजन चाहिये। इससे शायद उसे कुछ निराशा हुई, लेकिन फिर भी अपने आन्तरिक भाव को छिपाते हुये बोला—"खैर जो भी आप चाहे ! अच्छा, अब चाय लाऊँ ?"

मेरी 'हाँ' सुनकर वह जल्दी से चलने को हुआ। लेकिन मैंने उसे एकाएक टोका—"दरिया से इस तरह लड़कियाँ निकालते तुम्हे डर नही लगता ?"

"डर !" उसने ईषत्-सी हँसी हँसते हुए उत्तर दिया—"डर किस बात का ? उस भगवान् का जो मजूर है वह तो हो कर ही रहेगा !"

"कहाँ के रहने वाले हो तुम ?" मैंने अपनी प्रश्नावली आरम्भ की।

"पञ्जाब का।"

इस पर मैंने उसका साहस बढाने के विचार से पञ्जाबी मे ही बोलना शुरू किया, लेकिन उसके ढङ्ग मे कोई परिवर्त्तन न आया।

"तो इधर, इस इलाके मे, तुम्हे कोई खास फायदा है ?"—मैं देख रहा था कि मेरे विश्राम-गृह और उसके होटल के अलावा वहाँ और कोई

सिर छिपाने की भी जगह न थी। हाँ, पास ही हेसी लोगों के (कुल्लू घाटी की खानाबदोश जाति) एक-दो खेमे जरूर थे।

"फायदा क्या होगा ? इधर आते-जाते मुसाफिरों की सेवा हो जाती है !" उसकी भाव-भङ्गिमा से निर्लिप्तता टपक रही थी।

"बेटा है तो चालाक !' मैंने मन-ही मन कहा।

लेकिन इस वार्तालाप के बीच हम उस बकरी को तो भूल ही गए थे। मानो वह हमारे वार्तालाप में एकाग्रचित्त हो अपने भविष्य का निर्णय सुन रही थी क्योंकि उसके कान तो खडे थे और आँखे उसकी टुकुर-टुकुर हममे कुछ कौतुक देख रही थीं। होटल वाले का हिलना था कि वह छपाक से उछल कर एक तरफ हट गई। होटल वाले का कौतूहल जागा—"अरे, यह बकरी किसकी है ?"

"पता नही ! रात से यहीं पड़ी है। बेचारी की टॉग किसी ने तोड़ दी है।"

होटलवाला कुछ-एक क्षण असमजस मे पड़ा रहा फिर एकाएक बोला—"ओ हाँ, इसको तो मैंने वहाँ बॉध रखा था, यहाँ कैमे आ गई ? कल ही तो इसे एक कुआल (गड़रिया) से दस रुपये मे खरीदा है।"

और यह कह कर वह जिस से तीव्रता नदी से मेरी ओर लपका था, उसी तीव्रता से उस भीरु जीव पर लपका, और उसे दौड़ाता-धमकाता अपने होटल की ओर ले गया।

चाय पीने मैं होटल स्वयम् ही गया ! देखता हूँ सामने वाली उच्च श्रेणी की छाया मे एक छोटी सी दुकान है जिसके मस्तक पर कोई बोर्ड तो लगा नही है, और न ही उसमे चोरी-डाके से बचने के लिए कोई दरवाज़ा ही हैं। हा दरवाजे के नाम पर एक झॉझर टाट का टुकड़ा ज़रूर लटका हुआ है। दुकान का नक़्शा तैयार करने के लिए किसी ड्राफ्टसमैन की जरूरत भी नही पड़ी। खुद ही सुविधानुसार पत्थरा के छोटे-बडे टुकडे चुन कर उसे तैयार कर दिया गया है।

यह असल में दुकान होटल है, क्योंकि इसमे खाने-पीने से लेकर सूई-धागे तक, प्रत्येक वस्तु प्राप्य है। इधर कढ़ाई से धुआँ उठ रहा ह, तो उधर एक कोने मे रस्सी पर गोश्त सूख रहा है। यहाँ एक खूटी से नाडे

लटक रहे हैं, वहाँ गठरी में कपडे के थान बँधे पडे हैं। आपको क्या चाहिए, रात काटने के लिये दो-गज़ जगह ? वह भी आपको दो आना देने पर मिल सकती है। यदि गरम कपडे नही हैं तो आप चूल्हे के पास, उस की गरमाई तपते-तपते सो सकते हैं। खैर !

दुकान मे प्रवेश करते ही मेरी आवभगत मे दो-एक स्वर उठे। उनमे उदात्त स्वर एक युवक का था। वैसे वहां एक श्मश्रुधारी, सुदृढ सन्यासी भी बैठे थे, जिनके चेहरे पर मेरे वहाँ होने से कोई प्रकाश-भाव परिलक्षित नही किया जा सकता था, क्योंकि वे आँखें मूँदे भजनगान कर रहे थे। मुझे भूमि पर आसन लेते देख वह युवक बड़ी उत्कठा से बोला—"क्या दूँ महाराज ?" और फिर मेरा सकेत पा बडे अन्दाज़ से एक गिलास चाय बनाने लगा। मुझे समझते देर न लगी कि यह उस प्रौढ व्यक्ति का सहकारी है।

"साथ खाने को क्या दूँ, पडत जी ?" उसने उस प्रौढ व्यक्ति से परामर्श लिया।

वास्तव मे, वह 'पडित जी' नामधारी व्यक्ति उस समय भागवत-परायण कर रहा था, और यह प्रश्न शायद उसके 'मनन' मे बाधा था। इसलिए इसे सुनते ही पाश्ववर्ती नदी की गर्जना को अपनी गर्जना में डुबाता हुआ बोला—"देख नहीं रहे, मैं पाठ कर रहा हूँ ? ये कुछ खाएँगे भी ?"

मैं समझ गया कि परोक्ष रूप से यह आक्रोश-शर मेरी ओर ही छोड़ा गया है। अपनी भूल सुधारते हुए मैंने कहा—"नही जी, जो तुम खिलाओ, खा लूँगा।" सुनते ही उस 'पडत जी' की पूरी बाछें खिल गईं और अपने हाथ की जीर्ण पुस्तक को एक तरफ रख पूरे मनोयोग से मुझ में रुचि लेने लगा।

"हाँ, आप कह रहे थे", उसने बखान करना शुरू किया,"कि दरिया से लकड़ी निकालते वक्त मुझे डर नहीं लगता ! बात असल में यह है साहब, कि जान को जोखो मे डाल कर ही सब कुछ किया जाता है। पेट का मामला तो ठहरा। इधर ये लकड़ियाँ बहती आती हैं। इनका कोई वाली-वारस तो है नही, सो हम "

वह बात खत्म भी न कर पाया था कि किसी ने उसे टोक दिया। तीन-चार बच्चे बारी-बारी से सिगरेट का एक टुकड़ा पीते दुकान के बाहर खडे कुछ कुनमुना रहे थे। सकोच और भोलापन उनके चेहरो की गुलाबी

से मिलकर एक निराली छटा ला रहा था। पंडत जी ने उनको देखते ही पहले तो उसने दिखावे की लोरी भरी, और फिर मुझे उनके भुनभुनाने का अभिप्राय बताते हुआ बोला—"दो जी, इनको एक-एक पैसा, ऐसे ये जान छोड़ेंगे।"

मैंने पूछा—"बच्चो, क्या चाहिए ?"

"हाँ, पैयसा"—उनका समवेत स्वर सुनाई दिया।

मैंने सबको एक इकन्नी दे दी।

उनके हाथ मे इकन्नी देखकर 'पडतजी' को रोमाँच हो आया। झट से अनुरोध हुआ—"लाओ बच्चो, तुम्हें मिठाई दे।"

सहकारी युवक बाहर लकड़ियाँ फाड़ रहा था। उसने साधारणत 'पंडत जी' की ओर देखा और चुप हो रहा।

'पडत जी' अन्तर्यामी के समान कह रहा था—"जाएगे कहाँ ? लाएंगे तो यही न।"

मैंने उसके मन की थाह लेनी चाही। व्यग्य किया—"तुम तो पडत जी, यहाँ के सेठ हो। नहीं, सेठ की तिजोरी हो।"

पर वास्तविकता उसे कटु न लगी। अपने दतहीन मुँह को खोलते हुए बोला—"मैं ठीक कहता हूँ—ये जाएंगे कहाँ ?—लाओ, लाओ बचो, मिठाई नही खाओगे आज ?" उसने अपना रुख उधर मोड़ लिया था।

बच्चे विमूढ-से, ना-नुकर करते हुए बड़ी सरलता से मेरी ओर देखने लगे।

मैंने कहा—"क्या तुम्हें गाना आता है ? गाओ। और पैसे मिलेंगे।"

"पडत जी' ने समझा, शायद मध्यस्थता की जरूरत है, बोला—"अरे साहब, इनसे क्या सुनना। इनकी बडी बड़ी बहनें है. "

"अच्छा !" मेरा कौतूहल जागा। "ये लोग काम क्या करते हैं ?"

"काम ?" मेरे कौतूहल को बनाए रखते वह बोला—"ये हेसी लोग हैं। काम इनका यही है—बस, नाचना, गाना, और जब देखा कि आपकी जेब में कुछ है तो यूँ हो जाना—" और उसने अपनी अगुलियो से एक अश्लील सकेत किया।

मैं कुछ सकुचाया भी, लेकिन यह कौतूहल जो जागा था—"तो जैसा सुनता हूँ, यहाँ की फिजाँ ही खराब है !"

"अरे, आप तो सब कुछ जानते हैं।" उसने अपनी आँख मारते हुए झट से उत्तर दिया—"बन्दा आपका हर तरह से ताबेदार है!"

इस समय तक के श्मश्रुधारी सयासी अपना भजन-गान समाप्त कर चुके थे, और इस स्थिति का अपनी बड़ी-बड़ी आँखें खोले पर्यवेक्षण कर रहे थे। एक दो बार इस पर उन्होंने अपना मतामत प्रकट करना चाहा भी, लेकिन चुप हो रहे।

इसी बीच कहा मे बकरी जोर से मे मे कर उठी। दुकान का वातावरण एकाएक स्तब्ध हो गया। 'पडत जी' अन्दर ही अन्दर आवेश म आ गया, सहकारी युवक एकदम सतर्क हो गया, सन्यासी की बड़ी-बड़ी आँखे फैल कर और बड़ी हो गई और मुझमे भी एक प्रकार की दृढ़ता आ गई। क्या हुआ? सबके चेहरों पर यह प्रश्न-सूचक चिह्न था। "वोह! वोह!" बाहर खडे बच्चों मे हलचल सी मच गई, और वे बार-बार ऊपर एक चट्टान की ओर इशारा करने लगे। देखा—बकरी, रस्सी से बधी, गले में फदा लिए, एक बडे से पत्थर से लटक रही है।

'पडित' जी दौड़ा, सहकारी युवक दौड़ा, मैं दौड़ा और मेरे पीछे-पीछे सन्यासी भी द्रुत गति से चले आए।

बकरी के गले से रस्सी खोलते ही 'पडित जी' मे, काठिन्य का उद्भव हुआ। तुरन्त अपने सहकारी को आदेश दिया—"दौड़ कर नीचे से छुरी ले आओ, इसको अभी बना लें, नहीं तो—"

यह सुनते ही मेरे अन्दर कुछ हौल-सा उठा। सन्यासी ने अपनी आँखें मूँद लीं।

सहकारी युवक ने धीरज से काम लिया—"इसको जरा होश मे लाने की कोशिश तो करो!"

वह मुमूर्षु जीव। उसकी रुकी-रुकी साँस फिर चलने लगी। आँखो मे उसके नीर था, और वह अपनी व्यथा को कई प्रकार से व्यक्त करना चाहती थी!

सध्या समय।

ग्रीष्म ऋतु है। शरद ऋतु होती तो यहाँ बरफ की कई-कई परते जमी होती। फिर भी मेरे जैसे मैदान से आए व्यक्ति के लिए यह शरद ऋतु

ही है। उतरती सध्या के साथ-साथ ठड क्षण-प्रतिक्षण बढती चली जा रही है। आकाश को देखकर सहज ही आशका होती है कि आज रात वर्षा फिर होगी।

इधर हेसी लोगों के खेमो से जो धुआँ उठता है, वह वही ऊपर जम जाता है। पास ही खडे उनके खच्चर कभी-कभी हिनहिनाते हैं, और कुत्ते भौकते हैं, लेकिन यह सब नदी की गर्जना में विलीन हो जाता है। 'पडित जी' की बकरी भी इन खेमो के पास अपनी तीन टॉगो पर लॅगड़ाती घास चर रही है।

एक खेमे के अन्दर डफ पर नृत्य का पूर्वरग आरम्भ होता है। नूपुर ठुनठुना उठते हैं। भारी-भारी कदमों की थाप सुनाई देने लगती है। फिर एक साथ दो आवाजें उठती हैं। स्पष्टतः वे स्त्रियों की हैं। एक और आवाज़ उनका अनुसरण करती है। इसमे न सोज़ है, न गद्‌गद् भाव, केवल एक लय है। वह एक हेसी युवती है। गाना गा कर किसी को बार-बार प्रेम का उलाहना दे रही है। अब यह नाच और गाना पराकाष्ठा की ओर पहुँच रहा है। 'पडित जी की' आँखो में लाल डोरे खिंच आए हैं। वह भर-भर लुगड़ी (स्थानीय नशैला पेय) के कटोरे पी रहा है। उसके सामने उसका एक समवयस्क हेसी बैठा है जो उसको पीए जाने के लिए उत्तेजित जा रहा है। घनी हैं, छोटे-से चेहरे की गाले पिचकी हुई हैं, और एक आँख मे सफेदी आई हुई है। इस पर जब वह हँसता है तो एक अजीब कैफ़ियत पैदा होती है। उसको बगल मे दो बुड्ढी औरतें कानो मे बालियाँ डाले डफ बजा रही हैं, और उनके साथ, आपस मे सट कर कुल्लू की दो नवयौवनाएँ बैठी हैं। सन्यासी और सहकारी युवक दुकान मे बैठे सुल्फा पी रहे हैं।

डफ बजे जा रही है, नूपुर ठुनठुनाए जा रहे हैं, और कोई ऊँचे-नीचे स्वर से एकरस हो गाए जा रहा है।

नदी यह सब कुछ देख रही है, और सुन रही है और जोर जोर से अट्टहास कर रही है!

विश्राम-गृह के बाहर अधकार घनीभूत हो गया है, लेकिन इस अधकार की भी मानों आँखे हैं!

वे आँखे मेरी ओर बढ़ती ही चली आ रही थी! मैं अपने बिस्तर पर

ाटे-लेटे सहसा चौक पड़ा । यह क्या ? वे आँखे कुछ कहती भी नहीं, बस ानिमेष देखे ही जाती हैं । उनमे वे ही लाल-लाल डोरे ! मैंने पहचाना । ाडत जी' ? हॉ ! क्या चाहिये ? कोई जवाब नहीं ! फिर प्रश्न किया । इस ार टार्च के अपसारी प्रकाश की वर्द्धमान रेखाएँ तीन चेहरों पर क्रमशः ाकीं । कौन ? वही देसी नर्तकी ? वे ही दो नवयौवनाएँ ? मुँह से कुछ ोलती नहीं, यत्रचालित-सी खड़ी हैं ।

बोलो, बोलो, क्या चाहिए ?

गुफाओ और कन्दराओ से प्रतिध्वनि करता एक दयार्द्र, करुण वर— पैयसा !

बोलो, बोलो, क्या चाहिए ?

गुफाओं, कन्दराओं से प्रतिध्वनि करता एक दीर्घ स्वर—पैयसा !

फिर सन्नाटा ! नदी में अपूर्व उफान उठा, मानो उसमें सब कुछ समा जाएगा । 'पडत जी' में भी उफान उठा और उसके साथ एक चीख ।

"देख क्या रही हो ?"

और जैसे कि एक दो तीन शरीरों की नग्नता ने मुझे घेर लिया ।

"पडत", मैं कॉपता हुआ उठ खड़ा हुआ । लेकिन ये अधकार की आँखें जो थी, जरा भी न झपकी, किन्तु विरत होकर पीछे हट गईं । मेरी कपकपी बढती गई, और साथ-साथ इसके मुझमे दृढता जागी ।

"ठहरो !" मैंने कड़क कर कहा ।

लेकिन वह जो भागा तो सीधे होटल ही जा कर रुका ।

मैं प्रकृतिस्थ हुआ, पर इस दशा में नींद असंभव थी । अनिष्ट की आशका थी । उसके पीछे-पीछे हो लिया ।

दुकान पहुँचाते ही उसने टाट तान लिया । मैं दम साधे बाहर ही खडा रहा ।

सहकारी युवक शायद सन्यासी के लिए सोने की व्यवस्था कर रहा था । उसने 'पडतजी' का चेहरा देखा और सब कुछ समझ गया ।

'क्यो, काम नही बना ?' उसने धीरे से पूछा ।

बादल जो देर से बरसना चाह रहे थे, एकाएक वेग से बरस पड़े । "तेरी जो शक्ल देख कर गया था !"

"मेरी शक्ल ?"

"हाँ मरदूद, तेरी शकल !"

"धैर्य धरो बेटा !" सन्यासी अपने अधिष्ठान से बोले

"आप ही रक्षा करो, नारायण !" 'पडत जी' ने याचना की।

"आप को यहाँ कुछ दिन ठहरने के लिए इस लिए प्रार्थना की थी कि आप के प्रताप से "

"यह पाप कब तक फलेगा, महाराज ?" युवक तन गया था।

सन्यासी ने अपना वरदहस्त उठाया—"धैर्य धरो, बच्चे !"

"नहीं बात कुछ जरूर है महाराज," 'पडतजो' अपनी पराजय का कारण ढूँढ रहा था—'या यह बकरी ही मनहूस है।'

और जैसे कि उसने कारण ढूँढ ही निकाला, उसी क्षण उछला, कोने मे एक ओर सिमटी बकरी को आ दबोचा। कुछ क्षण बकरी की अनवरत मे ! में ! अन्धेरे को चीरती रही। फिर एक हृदय विदारक स्वर—वैसा जो सिर्फ मृत्यु के क्षण पर ही कोई पशु निकाल सकता है। पहाड चुप सुन रहे थे, उनमे कोई हरकत न थी। पेड़ निस्पन्द थे...

हेसी लोगो ने इसे जरूर सुना और वे बेतहाशा दुकान की ओर दौडे। टाट खींचकर अलग फेंक दिया गया, और खून से लथ-पथ 'पडत जी' को देख कर आपस मे कुछ कानाफूसी शुरू हो गई। 'पडत जी' के समवयस्क हेसी ने, जो सध्या समय उसे लुगड़ी के कटोरे भर भर दे रहा था, बकरी के सिर से जुदा हुए, तड़पते शरीर से फूटती खून की धार देख कर जबान से चटखारे मारने शुरू कर दिए। 'पडत जी' ने अवसर हाथ से न जाने दिया, बोला—"दो आने !" और दाम तय हो जाने पर खून से एक बर्तन भर दिया गया।

'पडत जी' का होटल।

एक खूँटी से पिछली टाँगो से बधी बकरी लटक रही है, और 'पडत जी' बड़ी होशियारी से धीरे-धीरे उसकी खाल उतार रहा है।

सुबह हो गई थी और मैं होटल के पास चलने को तैयार खड़ा था। 'पंडत जी' मुझे देखते ही सकपका गया, और खाल उतारते उतारते एक

क्षण के लिए रुक गया, मानो उसकी गति में मैंने बाधा डाल दी हो। फिर उसे याद आई और वह झट से मेरे पास पिछले दिन का हिसाब चुकाने आ खड़ा हुआ। पर जहाँ उसने छोड़ा था वहीं उसके सहकारी ने संभाल लिया। यात्री को प्रस्थान करते देख हेसी भी अपने खेमों से बाहर आ गए। सन्यासी बाबा शीतल स्नान में मग्न थे।

देखते ही देखते सहकारी के चेहरे पर कसमसाहट घिरने लगी, छुरी चलते-चलते उसके हाथों से गिर पड़ी और वह शोकातुर-सा चिल्लाया-"पंडत जी, यह क्या? यह तो गाभिन थी!"

एक साथ सब की नजरें उठीं। पहले बकरी के कटे हुए पेट पर और फिर 'पंडत जी' के चेहरे पर। लेकिन वहां तो कोई भाव नहीं था। केवल जड़ता थी। नितात जड़ता।

●

लमसेना

कृष्णकिशोर श्रीवास्तव

●

आदिवासियों के जीवन पर आधारित
एक मार्मिक ध्वनि-नाट्य

मरिया मुण्डा, कमार, परजा, आदिवासियों मे शादी के समय लडक वाले लडकी वाले को दहेज देते हैं। जो लड़का गरीब होता है और दहेज़ नहीं दे पाता तो वह शादी के पूर्व लड़की के पिता के घर नौकरी करता है और इस नौकरी से दहेज़ चुकाता है। शादी के पूर्व जो इस प्रकार घरजमाई बनते हैं उन्हें लमसेना कहते हैं।

पात्र-परिचय

बैदी	एक आदिवासी युवती
पाकली	बैदी की सखी
माला	नगर की सभ्य तरुणी
मोदी	लमसेना
मासा	बैदी का पिता

(दूर से संगीत का स्वर उठता है और धीरे धीरे मोदी के पौरुषमय स्वर में बदल जाता है।)

बमुर कांटा तोला हेरेला बैया
बोलाये रहेब तोला बैठेला
बैया बोलाये...रहेब बमुर कांटा...

बैदी : **(हंसकर)** बस खतम भी कर अपनी ददरिया। बबूल का कांटा निकालने के बहाने तू मुझे बुलाकर बैठा रहा है. यही कहना था तो साफ साफ कह देता, गाकर क्यों कहता है।

मोदी : मुझसे अच्छा गाते कहाँ बनता है। अच्छा तो तू गाती है। **(रुककर)** ये ददरिया मन की बात कहती थी ..इसलिये तुझे सुना दी।

बैदी : मैं समझ गई तेरे मन की बात। अब जाने दे मोदी।

मोदी : मत जा न।

बैदी : जाने दे। बहुत देर हो गई।

मोदी : देर हो गई तो क्या। तू किसी की नौकरी थोडे ही करती है।

बैदी : नौकरी करती तो हूँ। **(हंसकर)** अपने मोदी की। **(चुलबुलेपन से)** अब छुट्टी दे दे न। माला मालकिन राह देखती होगी।

मोदी : माला...जगल साहब की लड़की, तेरी राह क्यो देखती होगी।

बैदी : मुझे माला मालकिन को हिरमे का ब्याह दिखाना है।

मोदी : रुक जा कुछ दिन, अपना ब्याह दिखा देना।

बैदी : **(हारे स्वर में)** पता नहीं कब होगा अपना ब्याह। मोदी तू जानता तो है मेरे तापे[1] को। कितना गोनोम[2] चाहता है। कहता था कि अपनी बैदी के ब्याह मे डेढ सौ रुपया लूँगा। और...

मोदी : और मैं इतने रुपये कहाँ से लाऊँगा। बैदी इतने रुपये मे तो मुझे कोई खरीदेगा भी नही। गुनिया कहता था कि मेरा भाग ही खोटा है। **(सोचकर)** पर बैदी अगर मेरा भाग खोटा होता तो तू मुझसे बोलती भी नहीं।

बैदी : मोदी, मेरा तापे बड़ा जिद्दी है। रुपये के पीछे तो पागल है। आवा[3] ज़िन्दी होती तो उसे समझाती, मेरी तो सुनता ही नहीं।

(**याद करते हुये**) हां मोदी, तेरे तापे की दो भैंसे और चार सुअर थे न।

मोदी : पर अब तो वे काका के हो गये हैं। लेने के लिए पचायत कराना पडेगा और मैं पचायत भी तो नहीं करा सकता। कहाँ से लाऊँगा पचों के लिये लादा[४]। (**हर्ष के स्वर में**) बैदी! अगर तेरा तापे मुझे लमसेना बना ले तो सारा काम बन जाये, खून पसीना एक कर गोनोम की पाई पाई अदा कर दूँगा।

बैदी : मोदी!

मोदी : हां बैदी! फिर तू मुझे मिल जायेगी न। (**रुक कर**) तू सामने रहेगी तो अगारों पर भी वैसा ही नाचूगा जैसा तू महुये के फूलो पर भीमुल पाडुम[५] मे नाची थी।

बैदी : मोदी मेरा तापे बड़ा चिड़चिड़ा है। मन पर भी मार करता है। .. तू कैसे सहेगा।

मोदी : तुझे देखकर। बैदी, तेरी एक ददरिया सुन लूँगा तो उसकी सब गालियाँ भूल जाऊँगा।

बैदी : (**सोचते हुये**) पर मोदी तापे से कहेगा कौन कि तुझे लमसेना बनाये। मुझे डर लगता है और. .

मोदी : लाज भी लगती है। (**मुग्ध भाव से**) बैदी, जब तू लजाती है तो और अच्छी लगती है। (**शीघ्रता से**) अपनी माला मालकिन से कहना कि वह तेरे तापे से मुझ लमसेना बना लेने को कहे। (**बनावटी गंभीरता से**) बैदी, माला साहब की बेटी है, तेरा तापे मान जायेगा।

बैदी : तू क्यो नही कहलाता किसी से।

मोदी : बढ़ई[६] से कहूँगा कि वह तेरे तापे से कहे।

बैदी : बढ़ई क्यो कहने लगा मेरे तापे से।

मोदी : उसके लिये मैंने फरसी बनायी थी और कुछ नही लिया था। दूसरा कोई बनाता तो दो हांडी लांदा जरूर लेता।

बैदी : (**शरारत से**) तू क्या करेगा लादा का। बिना लांदा पिये ही तो तुझ पर नशा चढा रहता है।

मोदी : (बैदी की मुद्रा में) गायता[७] मुझ से कहता था कि बैदी में लांदा से ज्यादा नशा है।

बैदी : धत् !

मोदी : मैं बढ़ई से कहूँगा कि बैदी के तापे मगरू माथा पर मन्तर मारो तो जानूँ।

बैदी : अच्छा अब मुझे जाने दो। उधर बैठकर अपनी किकिर[८] बजाना, मैं दूर से सुनूँगी।

मोदी : किकिर तो तब बजती है जब तू सामने रहती है। (रुककर) हां, मैं तो भूला जा रहा था। कल तड़के हुर्रा के मुर्गे से मैं अपना मुर्गा लड़ाऊँगा। नलवा किनारे, महुआ के नीचे देखने आना। तू न आई तो मेरा मुर्गा हार जायेगा।

बैदी : तुझसे तेज़ है तेरा मुर्गा। हारेगा कैसे ! (प्रसन्नता से) आऊँगी देखने। महुआ बीनने के लिये घर से टोकना लेकर चलूंगी।

मोदी : जिससे तापे कुछ पूछे भी नहीं !

बैदी : (लजाकर) तू बड़ा नटखट है। अच्छा अब मैं चली, तू भी जा।

(ध्वनि-लोप)

माला : कहां भाग गई थी बैदी। मैं तो थक गई तेरी राह देखते देखते।

बैदी : मोदी के पास गई थी।

माला : मोदी कौन।

बैदी : मेरा मोतियारा[९]। रोज मिलता है। मैं भी तो बिना मिले नहीं रह पाती। वो मुझे अच्छा लगता है।

माला : ऐसा क्या अच्छा है तेरे मोदी में।

बैदी : तोता, मैना, तीतर, मुर्गा सबकी बोली बोलता है। एक बार चौपाल में मुर्गे की बोली बोला तो मैं सोते सोते चौंक पड़ी। मैं समझी सबेरा हो आया। बाहर आई तो देखा चदा आकाश में चढ़ा था, आधी रात थी, और मोदी सामने खड़ा हस रहा था।

माला : तुझे बुलाने के लिये मुर्गा बना होगा।

बैदी : (अपनी धुन में) एक बार जगल में शेर की बोली बोला था तो मैं डर गई थी। (सोचकर) और मालकिन एक हांडी लादा मिल

जाये तो रात भर टिमकी[10] टिनका टिनका कर ऐसा नाचता है कि सब दंग रह जाते हैं।

माला : जब मोदी तुझे इतना अच्छा लगता है तो फिर तू उससे शादी क्यो नही कर लेती।

बैदी : चाहती यही हूँ पर कैसे करू। मेरा तापे डेढ सौ रुपये चाहता है और मोदी के पास, अपने आपको छोड़कर और कुछ नहीं।

माला : (**कुछ आश्चर्य से**) दहेज मोदी देगा, तुम्हारे तापे को! उल्टी बात है।

बैदी : बात तो बिल्कुल सीधी है मालकिन। मोदी को गोनोम देना होगा। मेरी कीमत मेरे तापे ने डेढ सौ रुपये लगाई है।

माला : और दूसरा उपाय नही हो सकता।

बैदी : मोदी हमारे घर लमसेना बन जाये तो कुछ नहीं देना पडेगा। लमसेना बनकर मोदी हमारे घर काम करेगा तो गोनोम चुक जायेगा। पाकली का ब्याह ऐसे ही हुआ था।

माला : तो तू मोदी को लमसेना बना ले। (**हंसकर**) फिर तो वह घर में ही म आ जायेगा! छिप छिप कर मिलने की झंझट जती रहेगी।

बैदी : ये झंझट बुरी नहीं लगती मालकिन। (**रुक कर**) पर मोदी लमसेना तभी बन सकता है जब मेरा तापे चाहे। मैं तापे से कहूँ (**लजा कर**) मालकिन तुम...

माला : मैं समझ गई। मैं और बाबू जी मिलकर मासा को समझा लेंगे..

बैदी : (**हर्ष से**) मालकिन (**रुक कर**) जब मोदी लमसेना बनकर आ जायेगा तो मैं उससे कह दूँगी कि वह तुम्हारे घोडे के लिये अपने से घास काट कर लाया करे। मालकिन मोदी बड़ा अच्छा है।

माला : (**भावुकता से**) हा मोदी बहुत अच्छा होगा तभी तो तेरा यह भोलापन उस पर न्यौछावर है। अच्छा अब चल बैदी, हिरमे की शादी देख लें।

(गीत और नृत्य की धीमी शान्त ध्वनि सुनाई पड़ती है।

धीरे धीरे यह ध्वनि बढ़ती और स्त्री पुरुषों के सम्मलित स्वर में गीत स्पष्ट हो जता है .

ए ए ए ए ए..

जय महामाई, जय कालिका, जय माय दन्तेसरी

तुमो नमो धरि पद चालिबी, गीत गाइबि कठे तू बस मोहरी।

ए ए ए ए.. ... ।

गीत का स्वर कुछ क्षण बाद फिर धीमा हो जाता है)

माला : बैदी हिरमे बारात लेकर कब आया था।

बैदी : हिरमे, मुगिया के तापे के घर लममेना था और लमसेना बारात नही लाता। सारा खर्च दुलहिन का तापे देता है।

माला : शादी मे सिर्फ नाच ही होगा, या कुछ और।

बैदी : मुर्गा और सुअर कटेंगे, लादा की हांडियां खुली होंगी, पेज" बनेगा, सब खायेंगे और नाचेंगे। मालकिन ब्याह के पहले यही होता है।

माला : और उसके बाद।

बैदी : दूल्हा और दुलहिन को दरवाजे मे खड़ा करके छत पर से उन पर पानी डाला जायगा।

माला : पानी।

बैदी : हाँ घड़ा भर के। और उसके बाद दूल्हा दुलहिन को एक कोठे मे बन्द कर दिया जायेगा। बस ब्याह खतम।

माल : बस इतना सीधा तरीका। (**रुककर**) बैदी तुम्हारी हर चीज,तुम्हारे हर रिवाज तुम्हारे समान ही साधे है। और हमारे यहाँ...।

बैदी : तुम्हारे यहाँ ऐसा नही होता मालकिन ?

माला : नही बैदी। हमारे यहाँ शादी एक स्वाग होता है, जिसे पूरा न करने पर रिवाजो का दम घुटने लगता है। एक पक्ष, दूसरे को निचोड़ कर संबधों का ढाग रचता है। (**अचानक रुककर**) तू नहीं समझेगी बैदी।

बैदी : मैं नहीं समझी मालकिन। (**हंस कर**) तुम्हारा ब्याह देखूंगी तो समझ जाऊँगी।

माला : (**उदासीनता से**) पता नहीं कब तू देख पाती है।

बैदी : क्यो मालकिन।

माला : तू क्या जाने बैदी कि हमारे यहाँ एक लड़की की शादी करने के लिये लड़की के बाप को बिक जाना पड़ता है। (**सांस लेकर**) कई डेढ़ सौ लगते हैं।

बैदी : यह उल्टा है मालकिन। जो लड़की ले जाय सो पैसा दे।

माला : होना तो ऐसा ही चाहिये बैदी, पर ऐसा नहीं होता। हमारे यहाँ लड़की की शादी मे पिता को अपनी इज्जत तक देनी होती है। सच मान बैदी, गरीब घरो मे तो लड़कियों के पैदा होने पर जो खुशी मनाई जाती है वह ऊपरी अधिक होती है, मन की कम। (**अपने आपको रोकते हुए**) ... खैर,......छोड़ इसे। तेरी खुशी पर मैं अपनी चिन्ता क्यों लादूँ।

बैदी : मालकिन जब मोदी से मेरा ब्याह हो जायेगा, तब हम दोनों तुम्हारे लिये काम करेंगे।

माला : (**मुग्ध भाव से**) कितनी भोली है तू बैदी ? (**रुककर**) अब आ थोड़ा नाच देख ले।

बैदी : (**प्रसन्नता से**) मेरा तापे भी नाचने आया है मालकिन। वह देखो।

माला : हाँ ! (**रुककर**) अच्छा नाचता है। और उसके सिर पर लगा वह सींग वाला मुकुट भी सब से अच्छा है।

बैदी : मालकिन ! मेरा तापे ये सींग एक जोड़ी बैल देकर लाया था क्योंकि उन बैलों के सींग नहीं थे। नाचने के पहले घंटा भर तो उसे बाँधने सवारने मे लगता है।

माला : तेरे तापे के लिए बाबू जी से कहकर मैं एक जोड़ी अच्छे सींग और मँगवा दूँगी।

बैदी : क्यों।

माला : जिससे कि वो मेरी बात मान जाय। मोदी को लमसेना बनवाना है न। (**हँसकर**) घर पहुँचते ही बाबूजी से तेरी बात कहूँगी।

बैदी : (**हर्ष से**) सच, मालकिन सच। (**तेजी से**) मालकिन देखो पाकली नाच रही है। और वो चदिया कैसा निसान[12] बजा रहा है। मेरा मन भी नाचने को करता है।

माला : **(चिढ़ाते हुये)** चदिया का निसान भा गया, या मोदी की याद आ गई। नाचना है, तो नाच ले, मैं भी देखूँगी।

बैदी : **(दूर होते हुये)** तो देखो मालकिन आज बैदी कैसा नाचती है। पर जाना नहीं जब तक मैं नाचूँ।

माला : **(सांस छोड़ते हुये)** चली गई। (**भावुकता से**) कौन कहता है कि असभ्यता अभिशाप है।

(ध्वनि लोप)

मोदी : **(भारी स्वर में)** बैदी, भीमुल पाड़ुम को मुझे तेरे घर लमसेना बने तीन बरस हो गये। और आज नुका नोरदान पांड़ुम [13] हैं...चार बरस हुआ चाहते हैं **(हारे स्वर में)** एक वर्ष से ज्यादा है, ब्याह के लिए।

बैदी : वो भी कट जायेगा मोदी। तूने ही तो कहा था कि तू सब कुछ सहेगा।

मोदी : कहा था मैंने। पर अब तो बस के बाहर की बात हो गई। तू देखती है कितना काम करता हूँ मैं। फिर भी तेरा तापे ताने मारने से बाज नहीं आता। गाँव छोड़कर अगर चाय के बगीचे मे काम करने चला जाता, तो इतने दिनों मे तेरे गोनोम के बराबर कमा लेता।

बैदी : पर तेरी याद मे, मैं जो मर जाती। **(धैर्य बँधाते हुये)** फिरकोइदेव काट देंगे एक बरस।

मोदी : बैदी गुनिया कहता था कि सब देव मुझ से नाराज हैं। मैं उन्हें मुर्गा नहीं चढ़ाता न। (**रुककर**) चढाऊँ भी कैसे। कहाँ से लाऊँ। बैदी, मैं खुद ही उनकी बलि चढ जाऊँगा।

बैदी : मोदी अपनी बलि चढाने के पहले मेरा गला घोट देना।

मोदी : **(भावुकता से)** बैदी, तुझे पाने के लिए इतने दिन काम करते करते जिन हाथों मे छाले पडे हैं, उनसे तेरा गला कैसे घोटूगा। मेरे लिये तो तेरी इस पगिया के दो छोर बाकी है।

बैदी : ऐसा न करना मोदी। मैं तेरे लिए यह पगिया जगदलपुर से लाई थी। सभाल के बाँधा कर।

मोदी : यही तो मेरा साथ देती है। इसी से पूछ कितने आँसू मैंने इसमें

सुखाये हैं। कितनी हिचकियाँ इसमें छिपाई हैं। **(सांस लेकर)** आखिरी हिचकी भी इसी के साथ होगी।

बैदी : मोदी। पता नहीं आज तू कैसी बहकी बहकी बाते कर रहा है।

मोदी : बैदी जब मन बातों के बान खाकर बहक जाता है तो और कुछ सूझता ही नहीं **(रुककर)** बैदी कितना निकम्मा हूँ मैं। तू अपनी हमेल देकर मेरे लिए पगिया लाई, तेरे गले की शोभा चली गयी। मुदरी देकर मेरे लिए टिमकी लाई, तेरा हाथ कङ्गाल हो गया और मैं तेरे लिए एक टिकली भी न ला सका।

बैदी : तो क्या हुआ मोदी। तू मेरे पास रह, मुझे कुछ नहीं चाहिये। **(समझाते हुये)** मैं जानती हूँ, तू ला कैसे सकता है तेरे पास है ही क्या देने को।

मोदी : ऐसा मत बोल बैदी।...मेरे पास सब कुछ है देने को। उसके बदले तेरे लिए सुख चैन तो ला सकता हूँ।

बैदी : **(रोकर)** मोदी मुझे अपना नहीं, तेरा सुख चैन चाहिये।

मासा : **(दूर से आते हुये)** रो रही है बेटी। कुछ कह दिया क्या इस कलमुँहे ने। सच बेटी, मैं तो बद्दई और जङ्गल साहब की बात मानकर पछता रहा हूँ। उन्ही के कहने पर मैंने इस कामचोर को लमसेना बनाया... नही तो कोई इसे दो कौड़ी को भी न पूछता।

बैदी : **(हिचकियाँ लेते हुये)** नही तापे। मोदी ने मुझ से कुछ नहीं कहा ...कुछ नही कहा।

मासा : **(क्रोध से)** वह तुझ से क्या बाते करने चला। लाट साहब का बेटा है न। पेट भर पेज मिलता है खाने को। लोटा दो लोटा लादा मिल जाता है पीने को .....तभी ये ऐंठ है। काम के नाम पर इधर की सीक उधर नही होती। **(डांट कर)** क्यों रे लकड़ियाँ काट लाया।

मोदी : **(चिढ़कर)** आगन मे पड़ी हैं...देख लो।

मासा : गोली लाया होगा.. जिस चूल्हे मे लगेगी, उसे ही बुझा देगी। **(रुककर)** मछलियाँ पकड़ी ह आज।

मोदी : नहीं।

मासा : (गुस्से से) नहीं । फिर क्या किया......चार लड़कियाँ काटने मे दिन बीत गया। मुर्गों की लड़ाई होती तो दिन भर नदी के किनारे खड़ा रहता।

बैदी : जाल मेरे पास था तापे।

मासा : तो माँगने मे इसे शरम लगती थी। अभी आ रहा था तो कबरी गाय रम्भा रही थी पता नहीं, उसे चराया है या नहीं।

मोदी : अभी तो लाया हूँ चराकर।

मासा : झूठा कहीं का। चरा लाया होता, तो गाय रम्भाती क्यों। अरे जानवरो पर तो दया करना सीख। पैदा होते ही अपनी आया को खा गया, फिर अपने तापे को चाट गया और अब हमे चूसने आया है। हत्यारा।

बैदी : तापे। ऐसा न कहो उसे ...

मोदी : कह लेने दे बैदी।

मासा : (व्यंग्य से) आहा, बडे आदमियों जैसी बात कर रहा है। (**बैदी की सिसकियां**, बैदी तू अन्दर तो जा। पिज्जा लादा दे गया है सभाल कर रख दे। लोटा भर बाहर रख लेना...आकर पिऊँगा। (**पायल की आवाज़ दूर होकर थम जाती है**)

मासा : क्यो रे कौन सा टोना कर दिया है इस भोली पर।

मोदी : मैंने कुछ नहीं किया।

मासा : (**क्रोध से**) मोदी, तू मासा को नही जानता। मासा पर जो जीभ चलती हैं मासा उसे खींच लेता है। जो आँखें उस पर उठती हे, वह बाहर निकाल लेता है।

मोदी : (**क्रोध से**) मासा, मोदी भी तेरे गाव का है।

मासा : (**चालाकी से**) मैं जानता हूँ और दुःख तो इस बात का है कि तू मेरा लमसेना है। लोग क्या कहेगे मुझे।

मोदी : कहो तो मैं चला जाऊँ।

मासा : किसी और को फांसे देना। जाकर हरजाने के लिये पचायत करायेगा और...

मोदी : नहीं मैं ऐसा नहीं करूँगा। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे घर में सुख-चैन बना रहे। मुझे क्या। किसी तरह दिन काट लूंगा।

मासा : (व्यंग्य से) यदि हमारे चैन की फिकर है, तो फांसी लगाकर किसी . महुए से लटक क्यो नहीं जाता ।

मोदी : फांसी लगाकर महुए से...।

मासा : (हंसकर) हां, हा, फॉसी लगाकर महुए से । मैं भी छुटकारा पा जाऊँगा और बैदी भी ।

मोदी : (व्याकुल होकर) मासा...मासा...

माला : (प्रवेश करती हुई दूर से) क्या बहस चली है मासा । मोदी तो तुम्हें देखते ही सूख जाता है । उससे क्या बहस करते हो ।

मासा : मैं तो तग आ गया इस निकम्मे से । तुम्हारे बाबू जी के कहने से ही इसे रखा था ..मैंने नहीं तो ऐसी फांस मैं अपने गले न डालता ।

माला : मासा, जिसे तुम गले की फांस कह रहे हो, उसे मैं तुम्हारी साफी और बैदी की हमेल कहती हूँ (रुककर) मैंने देखा है... मोदी कितनी मेहनत करता है ।

मासा : दिखाता है ज्यादा...करता है कम । चालाक बहुत है, तुम नही जानती मालकिन ।...(सांस लेकर) और जब कोई इसकी तारीफ कर देता है तो इसका दिमाग और चढ़ जाता है ।

माला : मासा, न जाने क्यो तुम इससे चिढे रहते हो । इससे अच्छा लड़का तो तुम्हे खोजे नहीं मिलेगा ।

मासा : इससे अच्छा लड़का नही मिलेगा तो मेरी बैदी कुआरी ही रहेगी । जानकर ता मैं उसके गले पर फरसा नही मार सकता ।

माला : शायद तुम नही जानते मासा कि...खैर, तुम अभी जाओ, मैं मोदी को समझाती हूँ ।

मासा : पक्के घडे पर मिट्टी नही चढती मालकिन । (दूर होते हुये) पर तुम पढी लिखी हो न, कोशिश जरूर करोगी ।

माला : मोदी, मैं नही जानती थी कि तुझे इतनी तकलीफ होगी ।

मोदी : भाग का लिखा कैसे मिटेगा । (टूटे स्वर में) अब नहीं सहा जाता मालकिन । सोचता था कि बैदी सामने रहेगी तो हस-कर सब कुछ अपनाता रहूँगा । पर बैदी भी हमेशा मेरे सामने नहीं आ सकती । मासा का रुख देख कर उसे काम करना

पड़ता है। मालकिन, मासा ने शरीर से अधिक मन पर मारा है। मन कहता है भाग जाऊँ।

माला : कहाँ जाओगे भागकर। मोदी, दुनिया मे ऐसे आदमी हर जगह हैं। कहाँ तक बचोगे।

मोदी : तो मैं वहाँ चला जाऊँगा, जहाँ कोई न होगा। मालकिन, मासा कहता था...कि मैं उसके गले की फांस हूँ...**(सांस लेकर)** गले की फांस मुझे सब से अलग ले जा सकती है।

माला : क्या बकते हो मोदी। कहाँ का पागलपन सवार हुआ है तुम्हें।

मोदी : पागलपन तो उस दिन सवार हुआ था, जिस दिन मैंने मासा के घर लमसेना बनने का निश्चय किया था। मालकिन, मैं अपनी बैदी की, मासा की, सबकी शांति चाहता हूँ. सबके सुख-चैन की मुझे चिन्ता है **(गूंजता है)**—याद हमारे सुख चैंन की फिकर है, तो फासी लगाकर किसी महुए से लटक क्यों नही जाता। **(उद्वेग से)** मालकिन...मालकिन...महुए का पेड़...कितना नशा होता है उसकी छाँह मे, और ये बैदी की लाई पगिया...कितना प्यार है उसके डोरे डोरे मे।

माला : मोदी आज तुझे कहाँ का पागलपन सवार हो गया है। बैदी कहती थी, कि तू बड़ा समझदार है।

मोदी : बैदी कहती थी न, भोली, बड़ी भोली है बैदी। **(रूखी हँसी)** गायता कहता था कि मुझ पर बैदी के भोलेपन का नशा चढा रहता है जैसे बैदी कोई महुए का चुआ फूल है।

माला : बैदी महुए का ऐसा फूल है जो कभी नहीं चुएगा। याद है तुझे, जनवरी में जब महुए फूले थे तभी तू लमसेना बना था।

मोदी : **(कुछ दुख से)** हाँ मालकिन, उस दिन भीभुल पांडुम था। बस बस वही एक पांडुम सुख मे बीता। उसके बाद हर पांडुम इसी तरह बीता है। जैसे आज का यह नुका नोरदान पांडुम बीत रहा है।

माला : अभी कुछ ही दिन तो हुये हैं जब हमारी दीवाली आई थी, और दीवाली के दिन ही बैदी ने मुझ से कहा था कि मासा अब तुम्हे चाहने लगा है।

मोदी : मालकिन मासा मुझे नहीं, मेरे प्राण चाहता है।

माला : मोदी किसी के बारे मे ऐसा नहीं सोचते। हर आदमी मे हमें अच्छाई खोजनी चाहिये।

मोदी : तीन बरस से ऊपर हो गये मुझे अच्छाई खोजते। अब सोच लिया है मैंने कि शांति खोजूगा। सबकी आँखों से ओझल हो जाऊँगा।

माला : आज ज्यादा लांदा पी गया क्या।

मोदी : आँखो से पिया है लांदा...(**हँसकर**) बैदी के रूप का।

माला : अच्छा जा, सज के आ, जा.. तुझे अपने घर ले चलूगी। बाबूजी एक तमाशा दिखाने वाले है। देख पगिया अच्छी बाँधना।

मोदी : पगिया ही तो बाधना है आज। ऐसी बाधूगा कि देखने वाले चौंक उठेगे। बैदी की लाई पगिया है...मेरे आँसू पी पीकर मतवाली हो गई है...आज महुए की छांह मे इसके साथ भी नाचूँगा। जुहार १४ मालकिन (**दूर से**)...बैदी से कहना मुझे नाचता देखने...आ जाये। मासा से कहना मैं वहाँ नाच नाचकर उसे सुख चैन बाँटूगा।

(**ध्वनि-लोप**)

माला : बैदी, तू समझाती क्यों नही अपने तापे को। कितना सताता है उसे।

बैदी : कैसे समझाऊँ देखती हूँ और अपने भाग्य पर रोती हूँ। (**रुँधा कंठ**) तापे ने कई बार मोदी को मारा भी है, पर मोदी ने कभी कुछ भी नही कहा। गाँव भर मे मोदी के बराबर बोझा कोई नहीं उठाता, ..इतनी ताकत है उसमे, पर वह मेरे तापे से कुछ नही बोलता।...(**रोकर**) मालकिन, मोदी मेरे लिये सब कुछ सहता है और.. (**रो पड़ती है**)।

माला : बैदी, रोने से जिन्दगी नही चलती, रोने वाले कभी नही जीतते। तुझे जीतना है अपने तापे की कठोरता को। तुझे अपना प्रेम पाना है। आँसू अपने साथ सब कुछ बहा ले जाते हैं ..लाते कुछ नहीं। अपने तापे से साफ-साफ कह...मैं भी कहूँगी।

बैदी : जितना तापे ने मोदी से कहा है, उतना तापे से कोई न कह

सकेगा। मेरे सामने कितना कहा आज...और मेरे जाने के बाद न जाने क्या-क्या कहा होगा।

मासा : (दूर से आते हुये) कुछ नहीं कहा तेरे जाने से बाद। बस एक ही बात कही, अगर जरा भी शरम-हया होगी तो बात असर करेगी।

बैदी : (व्याकुल होकर) क्या कहा तापे ?

मासा : जब बहुत मुंह लगा और हमारे सुख चैन की बात करने लगा तो मैंने कह दिया कि अगर हमारे सुख चैन की फिकर है तो फांसी लगाकर लटक क्यों नही जाता किसी महुए से।

बैदी : तापे-तापे। क्या कह दिया तुमने।

मासा : सच तो कहा है। ऐसे निकम्मे धरती का बोझा होते हैं। देखता हूँ उसमे कितनी लाज बाकी है।

माला : (क्रोध से) मासा, उसके लाज हो या न हो...पर तुममे आदमियत नही।

मासा : मालकिन, आदमी वो है जो मान से जीता है और शान से मरता है। मोदी आदमी है (हंसकर) आदमियत आदमी के साथ बरती जाती है।

बैदी : मालकिन, मोदी सीधा है। तापे की बातें उसे लगी होगी . कहां-कहीं ..मालकिन कहां गया वो ..मैं जाऊँगी...उसके पास जाऊँगी बोलो बोलो...

माला : हुर्रा खेत की तरफ।

बैदी : हुर्रा खेत की तरफ। मालकिन, वहाँ महुए के पेड़ है...तापे .. कहीं...मोदी...मुझे न मिला तो बैदी भी तुम्हें नहीं मिलेगी। मैं मोदी के...मैं मोदी के पास जाऊँगी। तापे तुम्हारे लिये पिज्जा के घर का लादा रखा है। पीना और नाचना...मैं...(रोकर मैं मोदी के पास जाऊँगी। (दौड़ने की आवाज, फिर शांति)

(नृत्य के साथ स्त्रियों के सम्मिलित स्वर में एक गीत सुनाई देता है)।

राई फूलै रे केर बुमिया रे।
गेंदा फूलै रे छतनार।

बेहली कै फूल रस फूल डोहरी रे
देखनी मा लगत है सुहावन रे।
धरती ते निकरै केकरिया रे वाचक धरे अनुहार।

(**नृत्य और गीत के स्वर को रौंदता किसी के दौड़ने का शब्द सुनाई देता है।**

और नृत्य और गीत का स्वर अचानक थम जाता है।)

पाकली : बैदी री, रुक तो। कहाँ भागी जा रही है। थोड़ा नाच तो ले हम लोगो के साथ। देख मुँगिया है, हिरमे है और .

बैदी : (**हांफते और भरे स्वर में**) नहीं पाकली मैं अभी नहीं नाचूंगी।

पाकली : क्यो क्या हुआ है अभी।

बैदी : (**अचानक**) मोदी.

पाकली : ओ। तेरा मोदी रूठ गया क्या।

बैदी : (**भरे स्वर मे**) हाँ। रूठ गया है। तूने देखा है उसे।

पाकली : अभी थोड़ी देर पहिले यही से गया है। मैंने रोका तो बोला कि बैदी के लिए महुए लाना है।

बैदी : (**घबरा कर**) महुए।

पाकली : तू घबरा क्यो रही है। तेरे ही लिये तो महुए लाने गया है। (**हंस कर**) ओ बेचारा तेरे लिए महुए पर चढेगा, महुए तोड़ेगा और तू कहती है .

बैदी : (**दूर होते हुये** मुझे महुए नही चाहिये पाकली...मुझे मोदी चाहिये।

पाकली : आँचल मे बाँधकर रख ले ..कही जाने भी न पाये। (**स्त्रियों के हंसने का सम्मिलित स्वर**) जा दौड़ के पकड़ ला। और देख यहाँ से लौटना। तू भी नाचना...मोदी भी नाचेगा...। सुना।

बैदी : (**दूर से**) तू मेरी राह ताकना पाकली।

(**नृत्य और गीत फिर प्रारम्भ होता है...राई फूलै रे ..**)

माला : (**हांफते स्वर में**) पाकली ओ ..पाकली...बैदी को देखा है।

पाकली : हाँ मालकिन ! अभी गई है इस तरफ। पर तुम मत जाओ

वहाँ। वो मोदी को मनाने गई है। मोदी भी रूठ कर इसी तरफ गया है।

माला : (**दूर होते हुये**) इसी तरफ गई न।

पाकली : हाँ। (**रुककर**) मालकिन भी वहीं चली गई। बेचारी बैदी मन भर मोदी को मना भी नही पायेगी। (**स्त्रियों की हंसी**) (**गीत का स्वर फिर बढ़कर.. धीमा हो जाता है**)

बैदी : (**हांफते और रोते स्वर मे**) मोदी रे ..मोदी रे। कहाँ छिप गया। मेरी सौगन्ध। निकल आ। मैं तापे से लड़कर आई हूँ अब उसके घर कभी नही जाऊँगी ..तेरे साथ ही रहूँगी। मोदी तू ने मेरे लिये बहुत दुख सहे...पर अब मुझे कोई दुख नहीं होगा। (**पुकारकर**) मोदी रे आ जा ..कहाँ छिपा है निकल आ न रे। तेरी बैदी तुझे बुला रही है। (**हिचकियां लेकर**) रूठ गया निर्मोही। कहता था कि तेरे इशारो पर नाचूँगा...आज मेरे पुकारने पर भी नही आ रहा है। (**पत्तों की खरखराहट**) मोदी... आ गया

माला : (**दूर से थके स्वर में**) बैदी, अब मोदी नही आयेगा...कभी नहीं आयेगा। (**रोकर**) देख ..उस महुए की तरफ देख मोदी ने तेरी दी पगिया से फाँसी लगाकर...(**रो पड़ती है**)

बैदी : (**चीखकर, दौड़ते हुए**) मोदी...मेरे मोदी रे। ये क्या किया तूने... क्या किया तूने मोदी ? (**रोने का स्वर**)

(**दूर से स्त्रियों के नृत्य और गीत का स्वर सुनाई देता है... जो धीरे धीरे थम जाता है।**

कंकरा चुनरे महला बनाव, जेकर पूरब दुआर,
या डेरि दानै मा बेरी जूझत है रे
राई फूलै रे ...

(**ध्वनि-लोप**)

● ●

कुछ विशिष्ट शब्दार्थ—

१. तापे = पिता २. गोनोम = दहेज ३. आवा = माँ ४. लांदा = शराब

बँधे बिखरे छन्द जीवन के

कविताएँ : आत्मकथ्य : कविताएँ

●

शाम, एक थकी लड़की

धर्मवीर भारती

●

नींद भरी, तरलायित बड़री, कटावदार आँखें मूँद
शाम—
एक सफर में थकी हुई लड़की सी
आयी और मेरे पास बैठ गयी

बैठी रही गुमसुम ' धीमे
से उठी,
और कसे हुए अंग ढील
उतर गयी
गुनगुनी धूप की नदी में

साँवला सलोना जिस्म
कुछ क्षण लहरों के हिलकोरों पर
काँपा
फिर घुलने लगा—
घुलने लगा पानी की लपटों में
नीली मोमबत्ती सा !

ओ जल-निमग्ना !
ओ लहर-विह्वल !
अपने को थामो, सम्हालो —

मैं हूँ नदी तल की रेत ।
अर्पित हूँ,
लेकिन किसी भी क्षण पाँवों तले से
बह जाऊँगा

●

प्रवाह

रामदरश मिश्र

●

एक महकती हुई लहर
सांसों से सट कर
हर क्षण निकल निकल जाती है

एक गुनगुनाता स्वर हर क्षण
कानों पर बह बह जाता है

एक अदृश्य रूप सपने सा
आँखें तैर तैर जाता है

एक वसन्त द्वार से जैसे
मुझको बुला बुला जाता है

मैं यही सोचता रह जाता हूँ
लहर घेर लूँ
स्वर समेट लूँ
रूप बाँध लूँ
औ' वसन्त से कहूँ—
रुको भी घड़ी दो घड़ी द्वारे मेरे
फिर होकर निश्चिंत
तुम सभी को मैं पा लूँ
पर यह तो प्रवाह है
रुकता कहाँ !
एक दिन इसी तरह मैं चुक जाऊँगा
कहते हुए—
आह ! पा सका नहीं
जिसे मैं पा सकता था

●

तट पर

प्रमोद गुप्त

●

लहरदार सीढ़ियाँ
सीपी के छोटे दो पैर
बड़े बड़े बाल
भोली आँखड़ियाँ
वह किलक
खुली दँतलियाँ

तट पर
बालू का घर
द्वार द्वार
पथ
उपवन

एक लहर आई सब मेट गयी

भेंट गयी
लहरदार सीढ़ियाँ
सीपी
शैवाल
बिखरे
घर
द्वार

●

पर्वत-संध्या

मलयज

ज्योति-पुरुष चले गये !

निर्निमेष तकती हताश घाटी के वक्ष पर
सिन्दूरी चरण धर
निर्मोही गौतम से !

किरनों की प्रत्यंचा झटके से टूट गयी
झुकी हुई धनुही से सहमे ये बादल
उस चोटी पर
        अटक गये

हवा संग वृक्षों की लुका-छिपी शेष हुई
पत्तों के उठे मुँह कातर हो
        लटक गये

दिन की जिज्ञासा
पगडण्डी सी मोड़ पर
कुहरे में डूब गई !

            अब भी, पर
            घाटी के वक्ष से
            झुके झुके बादल से
            वृक्षों से
            पत्रों से
            आती है एक ध्वनि—
आह हम छले गये !
    छले गये !!

वही नदी है

सुरेन्द्र दीक्षित

●

वही नदी है, रात उजेली, सब जाना-पहिचाना
मैं एकाकी हूँ औ' मुश्किल है मन को समझाना।
तोड़ रहा लहरों का स्वर खामोशी का ताना-बाना;
नरसल के झुरमुट में फिरता पवन बना दीवाना।

मूर्च्छित वातावरण पड़ा है, सूँघ गया है अजगर
गहन उदासी का। अंकित तट की गीली रेती पर
लहरें, लौट गईं जो कब की। प्यार तुम्हारा अन्तर-
तम में; बही जा रही धार व्यथा की मन्थर।

●

गीत

रवीन्द्र भ्रमर

●

एक पल निहारा तुम्हे
एक दुख रीत गया—

वारी तुम्हें एक दृष्टि
मिली अमित सुधा-सृष्टि
एक क्षण दुलारा तुम्हें
एक युग बीत गया—

वंशी के पहले स्वर
गूँज गये भू अम्बर
एक शब्द वारा तुम्हें
गुन एक गीत गया—

तन के मन के अर्पण
बने प्रीत के दर्पण
एक दाँव हारा तुम्हे
एक जनम जीत गया—

एक पल निहारा तुम्हे
एक दुख रीत गया

●

बौछार पे बौछार

भुवनेश्वर

●

बौछार पे बौछार
सनसनाते हुए सीसे की बारिश का ऐसा जोश

गुलाबों के तख़्ते के तख़्ते बिछ गए क़दमों मे
क़ायदे से अपने रंग फैलाए मेंह से कुम्हलाए हुए

आग आवश्यकता से अधिक पीड़ा का बदला चुकाने को
पीड़ा निर्बीज करने वाली उस आग से भी अधिक

दल के दल बादल
कि हौले हौले कानाफूसियाँ हैं अफ़वाह की
जो अपशकुन बन कर फैली हैं
किसी दीर्घ आगत भयानक यातना की

फौजी धावा हो जैसे, ऐसा अन्धड़
बादलों के परे के परे बुहार कर एक ओर कर रहा
ऐसी ऐसी शक्लों में छोड़ते हुए उनको
कि भुलाए न भूलें

आदमी पर आदमी का तांता
और हरेक के पास
बड़े ही मार्मिक जतन से अलगायी हुई अपनी
एक अलग कहानी
उसी व्यक्ति को लेकर
जो सदा वही एक कुर्ता पहने
उसी एक दिशा में चला जाता रहा

रहम पर रहम की मार
मरदूद क़रार देने उसी व्यक्ति को
और साथ उसके मठ के पुजारी को भी
जो शपथ ले-ले के जीतों और मुर्दों की
कम से आधे पखवारे में एक बार तो
झूठ बोलता ही है।

[अनु० शमशेर बहादुर सिंह]

सीधे अपने पाठक से

शमशेर बहादुर सिंह

●

तो साहब यह ज़रूरी समझा गया कि मैं अपनी कविता के बारे में कुछ कहूँ। क्योंकि, कहीं-कहीं—जहाँ मेरे बारे मे दिलचस्पी दिखाई गई है—यह खयाल किया गया है कि मैंने कुछ नयी चीजे हिन्दी कविता को दी हैं। मुझे नहीं मालूम, दरअस्ल मुझे नहीं मालूम। उनमें कुछ नयापन-सा हो सकता हो शायद, मगर 'नया' नहीं। बाज़ मेरे दोस्तों को मेरी कुछ रचनाओं मे लुत्फ़ उठाने मे दिक्कत महसूस हुई है, जहाँ मैं समझता हूँ कि न होनी चाहिए थी या जितनी हुई उसमे बहुत कम होनी चाहिए थी। मैं ऐसा क्यों समझता हूँ, इस बारे मे मैं कुछ कहना चाहता हूँ।

इस संग्रह[१] मे मैंने अपनी अच्छी से अच्छी चीजे जो मैं पेश कर सकता था, अपने पाठको की खिदमत मे जमा की हैं। यह कह देना दुरुस्त होगा कि जब ये रचनाएँ लिखी गयीं, उस वक्त मुझे किसी पाठक की दिक्कत का ख्याल नही था (जो कि अब मुझे रहने लगा है।) सिवाय शायद अपने उस पाठक के जो मेरे हँसी-खुशी और दुख-दर्द की आवाज सुनता और समझता है—शायद उसी खयाली पाठक के, जिसके सामने मैंने अपनी बातों को खास अपने लहजे में, खास अपने मन के रग मे, अपनी लय, अपने सुर मे, खोल कर, एक ख्वाब की तरह, एक उलझी हुई याद के बहुत अपने छायाचित्र की तरह, रखने की कोशिश की है: कोशिश क्या—बल्कि बात को बस रख दिया है (मगर) अपने उसी पाठक के समझने के लिए।

१ अप्रकाशित भूमिका ४६। (अप्रकाशित कविता-संग्रह "उदिता" से) जिसमें सन् ४४ से सन् ४६ तक की कुछ कविताएँ संग्रहीत हैं।

क

बात की भूमिका

खैर ! आपने शामों की झुरमुट मे, जब पच्छिम के मैले होते हुए लाल पीले बैंगनी रग हर चीज को लपेट कर अपने गहरे मिले-जुले धुंधलके मे खोने-सा लगते हैं—आपने उस वक्त ध्यान दिया है कि कैसे हर चीज एक ही खामोश राग मे डूबने लगती है. वक्त के बहते हुए धारे मे एक ठहराव-सा आता महसूस होता है . उस अजीब से शान्ति क क्षण मे कही दूर उदासी की घटी-सी बजती हुई सुनाई देती है।

अब मान लीजिये

अब मान लीजिए कि यह पृष्ठभूमि आपके दिल की किसी खास चोट की है, वह चोट साधारण है या असाधारण, इससे बहस नही तो यह बताइये—यह सच है या नही कि वह सारी पृष्ठभूमि, सारा मजर आप के ही अन्दर के दबे हुए ही घाव-सा उभर उठेगा और चुपचाप मुमकिन हैं वह शाम आपको अपनी जिन्दगी का एक टुकडा लगेगी . अपनी ही जिन्दगी, जिसका फैलाव आप पश्चिम से पूरब तक और जमीन मे आसमान तक—एक अपने बहुत प्यारे खयाल की तरह देख रहे है, कि सीमाहीन फैला हुआ चला गया है। आप अकेले किसी बटिया के मोड़ पर खडे हुए देख रहे हैं।

कोई आपसे पूछे, आपने आखिर क्या देखा वहाँ जो आप ऐसे बुत् से एक जगह जमकर खडे रह गए ?

—अरे कुछ नहीं, भइ, यो ही एक खयाल-सा कुछ आ गया था .

ख

जो कुछ देखा और पाया,
उसी की कविता

बस, इसी खयाल के सुर, ताल, और रग और नक्श और लहर मेरी कविता है। वह फिर जैसी भी है। मैं अपने आपसे बातें करता हूँ। हम सब एक न एक क्षण मे करते हैं, बेमानी बातें—खामखयालियाँ—बे सिर-पैर के क़ुलाबे :—उनका कोई छन्द होता है ? उस सब में कहाँ ठहराव और फैलाव—और थाप, और गिराव होता है, कहाँ स्टैंज़ा बनता और कहाँ पैरा ?. हाँ, छन्द होता है, और ठहराव भी, और ताल और

सुर की चोटें और थाप और गिराव भी होता है, और स्टैंजा बनते और पेरे भी शुरू होते हैं—लम्बे-लम्बे और छोटे छोटे विरामों पर मौज़ू छन्दों मे : जिनको हमारे दिल की लहर ही नाप सकती है और नापती ही है, (फिर आप कबूलें या न कबूलें ।)

फिर यह अजीब क्यों है ?

वाह ! तब तो इस कविता मे कहीं गलती हो ही नही सकती। न शब्दो के चुनाव मे, न छन्दो की गति मे, न रगो के मेल मे, न असर की सही धड़कन मे।

ऐसी बात नहो है। नहीं, अगर ऐसी कविता खामखाह लिखी जाएगी, तो सभी तरह की गलतियाँ उसमे पैदा होगी, और दरअसल कविता लिखी ही न जा सकेगी। अगर कविता (जिसे कहते हैं) "जीवन से फूट कर" निकलती है, तो उसमे जीवन की सारी बेताब उलझने और आशाएँ और शकाए और कोशिश और हिम्मतें कवि के अन्दर की पूरी ईमानदारी के साथ अपने सरगम के पूरे बोल बजाने लगेंगी। क्यो साहब, वैसे ही अजीब तरह से, जैसे आपकी कविता मे, शमशेर साहब ?

तीन वजहें

अजीब तरह कुछ नहीं है। शमशेर साहब अव्वल तो शागिर्द निराला के हैं। [हिन्दी कविता मे निराला और पन्त के बाद कुछ भी 'नया' जिसे कहे, नहीं आया है, सिवाय कुछ थोड़ा सा अज्ञेय के यहाँ। और दूसरे कवियो के अन्दर जो कुछ 'नया' मालूम होता है, वह या तो अधकचरा है, या साहब 'विलायती बैंगन' है। (मुझे माफ किया जाय . आखिर मैं भी इसी जुमरे मे आ जाता हूँ।]—वह अस्ल मे निराला और पन्त की ही टेकनीक का जरा खास ढंग से 'निखारा' और 'आगे बढ़ाया हुआ' रूप है। वस्तुगत प्रयोग और रूपगत प्रयोग दोनो—जो कि हर अच्छी रचना मे अन्योन्याश्रित रूप से ही सफल होते हैं—के यथासम्भव निर्दोष शिल्प के उच्चतम स्तर पर आज भी मेरा उतनी ही कठोरता से आग्रह है (कम से कम अपने लिए . हाँ, सिद्धान्त-रूप मे ही !) जितना पहले था। बल्कि अधिक ही है।

यह जरूर है कि मैं शायद अब उस सीमा तक निर्मम मार्क्सवादी

आलोचनात्मक दृष्टिकोण को नहीं अपनाता, जिस सीमा तक कि... मसलन्, मोटे तौर पर, 'टूटी हुई, बिखरी हुई' के (पिछले साल) प्रकाशित होने से पहले तक...अपनाता था। अब एक हद तक अपने आपको बख्श ही देता हूँ, 'चलो ठीक है म्याँ, कोशिश किये जाओ!' अब यद्यपि अपने कवि के प्रति पहले से अधिक आश्वस्त हूँ, पर इस 'आश्वस्तता' की जड़ मैंने अच्छी तरह से अभी टटोली नही है, कि वास्तव मे यह कहाँ से पैदा हुई और क्या है, और आया कि यह इतनी महत्वपूर्ण है कि इसकी जाँच करूँ।
—लेखक, १९५९]

दूसरे, मौजूदा अंग्रेज़ी कविता के टेकनीक को, जिसकी हिस्ट्री इलियट, पाउंड, कमिंग्स, एडिथ सिटवेल, आॅडेन, डायलन टामस वगैरह ने बनायी है—जिनको वह हज़रत इधर-उधर से ही जानते है—कविता की भाषा के लिए, जो आज हमारे मिडिल क्लास जीवन का चर्बा उतारना चाहती है, बहुत स्वाभाविक, मुनासिब और मौज़ूँ समझते हैं, और अपनी समझ से क़ामयाब और पुरअसर भी।

तीसरी वजह एक और है। शमशेर साहब की कविता सच पूछिए तो मजबूरी और लाचारी की कविता है। (सच-सच कहा जाय तो लोगों को यक़ीन न आएगा :—) बिचारों को हिन्दी की परम्परा से वाकफियत कम है, और संस्कृत बिलकुल जानते नहीं। सिर्फ़ अपनी जबान से प्यार है, कहते हैं। (या शायद प्यार होने का घमड है। आखिर उनके घर की, प्रान्त की जबान है।)[1] इसलिए ठेठ अपने बोलचाल के लहजे मे—हाँ पडिताऊ शब्दों का पुट फिर भी आ ही गया है इधर-उधर और बिला तकल्लुफ़ अपने मन की मौज मे बह कर अपनी भाषा का अपने भावों के साँचे मे इस्तेमाल किया है। आँखों में जो बसा, कानो मे जो समाया और दिल मे जो रम गया, उसी को झलकाया, उसी को गुनगुनाया, उसी को उजागर किया : जहाँ तक अपने बस मे था। अपने बस मे बहुत नही था—वह आर्ट, यह सही है।

ऐसी कविता की कीमत क्या है?

अनोखी और अजीब और नयी चीजे ज़रूरी नही कि बेशक़ीमती भी हो। वह परखने पर हलकी और घटिया, बल्कि सुबह की शाम बासी भी हो

---

[1] 'हम भी एक अपनी हवा बाँधते हैं'—बक़ौल ग़ालिब।

सकती हैं—एकदम बासी। कविता हो चाहे कढ़ी, कला की मूर्ति हो, चाहे कोई बूझ-बुझौवल की पहेली।

और जो सबक़ या सवाल या गत या राजनीति का मसाला या कोई योगक्रिया की सिद्धि या जागते जीवन में कला की पहचान, गूढ़ या मुश्किल हो, वह ज़रूरी नहीं कि बेमानी और बेमसरफ़ ही हो, सिरे से! —या आख़िर में कुछ भी आनन्द देने वाली साबित न हों।

कला मे नई पहचान

नई टक्करों से बहुत सी दोस्तियाँ भी कायम हुई हैं। ऐसी दोस्तियाँ जो कलाकार और उसके पाठक के बीच कायम हो जाती हैं। गो उन्हें शुरू में कुछ अर्सा लगा है। और जरूरी नहीं कि वह बहुत गहरी हों, वह नई लगावटें। हाँ सच्ची हों यह शर्त है।

ग

इन्कलाब और यह कविता

इस (मेरी) कविता मे जो कमजोरियाँ हैं; वह चरित्र की हैं। यानी कवि के चरित्र की। मध्य-वर्ग का कैरेक्टर है। और फिर आज का, नया, भी नही। ज़रा पिछला है।—(आज की साम्प्रदायिक भावना के उभारो को देखकर तो इसे बहरहाल गनीमत ही समझता हूँ, जैसा भी है यह)—यानी, जो हिन्दी कविता मे छायावाद के बाद आनेवाला, नरेन्द्र और बच्चन के 'अभाव' और सोशल घुटन, और एक हद तक पलायन के अलावा जिन्दगी का कुछ ज़्यादा टूटा-फूटापन और उखड़ा हुआ बहाव-सा लिए हुए है। उस बिचले तबके की जिन्दगी के भँवर—खामोश, तेज होते हुए भँवर के चक्कर इस और ऐसी कविता मे मिलेगे जिससे निकलने के लिए एक तिनके का सहारा सिर्फ सोशलिज़्म ही आडे आया। जी, वही 'प्रगतिवाद' का आन्दोलन। जो कि दरअस्ल आज की जिन्दगी की सच्ची परख का आन्दोलन है, कला को जिन्दगी की गहरी नीवो पर ऊपर उठाने का आन्दोलन है। वह गहरी नीवे मार्क्सवाद के विज्ञान की हैं। (वह चीज जो कि मेरी कविता मे आते आते भी नही आ पायी है।)

समाज के विज्ञान की नीवें

इस गहरी नीवों के नक़्शे पर जो फ़सीलें उठ रही हैं, जो इमारत उभरती आ रही है, उसी पर दुनिया की आँखे लगी हुई हैं। ईंट और गारे के रङ्ग में चमकते हुए मजदूरों के जिस्म पूँजी की बेरहम चिलचिलाती धूप मे चिंउटों की फ़ौज की तरह जुटे हुए हैं।

आगे का कलाकार मेहनतकश की ओर देखता है।

यह भविष्य का नया घर इन्ही मेहनतियो का होगा। इन्हीं लाल गोरे काले पीले सुखी आजाद इन्सानो का होगा, जिनकी दुनिया भर मे एक बिरादरी है, जिनके एके से "मानवतावाद" का झूठा मटई राग अलापने वाले दिल मे घबराते हैं।

पूंजी के साझेदार, कला के पुजारी

"विश्व-मानव" की इस नई, सुन्दर, शिव और सच्ची एकता का अमर मन्त्र कला के उन पुजारियो को अच्छा नहीं लगता, जो अपने बुनियादी हक़ों के लिए सीना अड़ा कर लड़ने वाले मानव की इस पुकार से चिढ़ते हैं कि 'दुनिया के मजदूर एक हो जाओ!' जो मजदूर की उस सच्ची परिभाषा का विरोध करते हुए भी—जिसमे यह कहा गया है कि अगर मैं एक क्षण के लिए भी कर्म करना बन्द कर दूँ तो यह सारे विश्व का जीवन ही रुक जाय।—अपने आपको उस सोलह कलाओ वाले अवतारी देव-पुरुष का परम आस्तिक भगत समझते हैं, जिसने कर्म करने वाले को ही जिन्दा रहने का हक दिया है। क्या खूब'

संस्कृति का मतलब

हमारी सस्कृति जिन्दगी के हर मोड़ पर अगर हमारा साथ नहीं दे सकती, हमारी आँखो को आगे का रास्ता पहचानने की रोशनी और दुनिया के कोने कोने तक ज्ञान और वैभव और प्रेम के जनतन्त्र, डेमोक्रेसी, का भोग करने की शक्ति हमसे छीनने लगती है, तो समझ लीजिए हमारे पुरखो का सत् हमारे खून से निकल गया, और यकीन कीजिए कि हम अपनी सन्तान को उन नीचाइयों मे पीछे ढकेल देना चाहते हैं, जिनसे उठ कर हमारे पुरखे ऊपर आये थे।

अमरीकावादी पुराण-पन्थी और जनता के धर्मयुद्ध का कलाकार

आज जो विराट सघर्ष संसार भर में चल रहा है, कलाकार—

हर सच्चा कलाकार—आदि अमर जनशक्ति के उस विराट-रूप का दर्शन कर रहा है जिसके जबड़ो मे आज के हजारो दुर्योधन और उनके सहायक अनगिनती कर्ण और भीम और उनके बल पर कूदने वाली भारी-भारी अक्षौहिणी सेनाएँ (चाहे वह चीन मे हों या तुर्की और यूनान में), और एटमबम के खोखले धड़ाके—सब पुरानी ख़ुदग़रजी भरी डींगों के साथ ख़त्म हो रहे हैं। सब जगह खत्म हो रहे हैं।

"अर्जुन, जिनको तू अपने सामने गर्जन करता हुआ देखता है, उनका नाश तो पहले ही हो चुका है। आँखे खोल कर देख, इतिहास कहाँ से कहाँ पहुँच चुका है। दुनिया भर मे एक समान, सुखी मज़दूर-किसान का राज है!"

आज की ज़िन्दा कला का मतलब

पुरानी सस्कृति का आज के जीवन मे जो जिन्दा मतलब है वह यही है, वर्ना कुछ नहीं हैं। इस सच्चे मतलब को ढँकने वाली कला एक झूठा आडम्बर है, वह ऊपर से पहली नजर मे चाहे जितनी खूबसूरत और मोहक लगे।

मगर यह बहुत ऊँचा, अगर्चे ऐन मुमकिन, और बहुत आनन्द और सुख देने वाला सपना है, जिसको नया कलाकर जीवन से, उसकी आन-बान और उसकी गरिमा के अन्दर से एक जौहर की तरह अपनी वाणी में खींचना चाहता है, और अपनी साधना और शक्ति के अनुसार खीचता भी है।.. वह क्या खीचता है, स्वय आन्दोलित मानव की हलचल उसकी बाँसुरी मे अपनी यह दिव्य साँस फूँकती है।

यही काव्य लोक है नये कवि के आगे।

[आधारभूत रूप से मेरा सामान्य दृष्टिकोण और मत अब भी बिलकुल यही है। मगर छोटी-मोटी बहुत सी बातो मे मैं अब कुछ दूसरी तरह सोचने लगा हूँ। भाषा की ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को देखते हुए यह सचमुच 'प्रयोग' का युग है: भाषा तेजी से अपने को बदलने के लिए नये मजबूत साँचों की तलाश कर रही हैं। उसी की सरगर्मी का युग है यह। एक बड़ी भारी इमारत खड़ी करने के लिए एक बड़ी भारी ज़मीन साफ़ की जा रही है। मलवा हटाया जा रहा है। नयी 'भाषा' और नये साहित्य का निर्माण-

कार्य शुरू हो गया है। यह उसी का व्यापक शोर है। इस पूरे सीन का पर्यवेक्षण करते हुए सहसा यही मुँह से निकलता है—

"महवे-हैरत हूँ कि दुनिया क्या से क्या हो जायगी !" इकबाल के गुरू ग़ालिब की उक्ति याद आती है, और बरबस याद आती है—

"हुई मुद्दत कि 'गालिब' मर गया, पर याद आता है—
वो हर एक बात पर कहना कि यों होता तो क्या होता !"

यही प्रयोग की गहरी, और सच्ची स्पिरिट है।—लेखक, १६५६]

घ

अपनी पोल और छोटापन

मैं इसी काव्य के समन्दर के किनारे पर खड़ा हुआ अपने आपको पाता हूँ। यहाँ तक आने मे जो राहें अब तक तय कर आया हूँ, वह चाहे जैसी ऊबड़-खाबड हैं, और बाज-बाज़ जगह गलत मोड़ लेकर घूमी हैं, और चक्करदार अँधेरों से होकर गुज़री हैं, उन राहों की धूल और गर्द मे लिपटे हुए खाके कुछ ये आपके सामने हैं।

व्यंजना की परोक्षता।—जी !

इन खाकों में कुछ हैं, जो महज इशारे हैं। जिनमे व्यजना की परोक्षता ही केवल व्यक्त हुई है। जैसे रेखागणित की शक्लें होती हैं। उनका 'शाब्दिक अर्थ' कुछ नहीं है। मुमकिन है ऐसी कविताएँ बहुत मुद्दत बाद 'समझ' में आयें।[1] मगर कुछ पाठकों के दिल को वह अपनी तरफ ज़रूर खींचेंगी, मुझे पूरा यकीन है।

खिंचाव और पर्दे

इनके इस खिचाव में ही इनकी कविता छिपी हुई है, शाब्दिक अर्थों में नहीं। शाब्दिक अर्थ सिर्फ़ इशारों के हलके पर्दे हैं। क्योंकि बाज़ दफा हमें अपने जी का हाल सिर्फ़ इशारों की उलझी हुई दुनिया सा लगता है। अक्सर नहीं पता लगता कि आखिर वह चाहता क्या होगा, वह

---

[1] मेरी इस प्रकार की कविताएँ सभी प्रकाशित हैं। और भी कुछ प्रकार की।

अनमना सा क्यों है। उसके दुख या सुख या बेचैनी या खामोशी को, या खुशी या उम्मीद को, अगर मूर्त्त रूप मे लगभग ज्यो का त्यो प्रकट किया जाय...उस तरह नहीं जिस तरह उपन्यास मे कोशिश की जाती है, या जिस तरह सगीत की लय मे, अलाप में हमको मिलती है।

यह कला ! (आप इसे कहाँ तक समझेंगे !!)

बल्कि—उपन्यास और संगीत, कुछ दोनों के गुण लेकर (जिन्दगी के उस खास क्षण के अक्स मे वह आ ही जायँगे) ऐसे शब्दो मे उन्हें रख दिया जाय, जो अन्दर ही उमडते घुमडते हुए राग के बोल की तरह आप ही आप फूट पडते हो। जो कमल-नाल की तरह चेतना की सतह को छूने के लिए ऊपर उभर कर आने को मजबूर हो और अपने प्राणों की जिद के साथ खिल पडते हो, और आप फौरन उन शब्दो को (जिस भी "लय" या "गति" या अपने "छन्द" मे बँध कर वह आये हैं) उसी तरह रख देते हैं—तो इस रूप को आप कहाँ तक अपनी समझ से दूर समझेंगे ? और उसे अगर आप 'समझ लेंगे' तो क्या समझा भी सकेंगे ?

जरा सँभलकर

मैं मानता हूँ कि हमे (यानी अव्वल तो कवियो को ही) अपने इमकान भर ऐसी कविता से आम तौर पर बचना चाहिए। क्योंकि, सब कुछ होते हुए, आखिर तो एक उलझन वाली चीज ही ठहरती है यह। अन्तश्चेतना के बुदबुदा के इन कमलो को अन्दर ही अन्दर खिलने देकर, जब तक हमारी चेतन बुद्धि को रोशनी मे वह अच्छी तरह खिलकर अपनी पूरी खुशबू न देने लगे, हमे उन भावनाओं की और ज्यादा एहतियात से परवरिश करनी चाहिए। उनकी अपनी अजीब अछूती लय और छन्द भी जब तक एक सधी हुई ताल के साथ अपने आप खुलकर न बोलने लगे, हमे उनके मोह से बचना चाहिए।

गहरी मजबूरी

बहरहाल, मैंने इस सग्रह मे ऐसी कविताओं मे से सिर्फ उन्हीं को रखा है जिनमे इशारो के रंग और टोन काफी गहरी मजबूरी के साथ जाहिर हुए हैं, गो कही-कहीं यह कितने ही अटपटे क्यो न लगते हो। और इसी सग्रह से कई पाठको पर यह भी साबित हो जायगा, शायद, कि मैंने बग़ैर

अपना स्वाभाविक अन्दाज और लहजा छोडे हुए, धीरे धीरे अपनी कविता को ज़्यादा से ज़्यादा ठोस बनाने की कोशिश की है।

कला की कोशिश का असली मैदान

यह कोशिश असल मे ज़िन्दगी को समाजी सघर्ष के मैदान मे ले आने पर ही क़ामयाब हो सकती है। क्योकि यह कोशिश उस दौर की ऐतिहासिक कोशिश है, जिसकी मैं पैदावार हूँ।. .इसलिए पाठकों को इस किस्म की कविता को, जैसी इस सग्रह मे हैं, जरा सी हमदर्दी के साथ तो जरूर पढना चाहिए (इसलिए कि वह एक खास दौर का आईना है। चाहे जैसा धुँधला या टेढ़ा-मेढा और बुरा भी यह हो, इससे बहस नहीं) मगर उसको एक हद से आगे बहुत ज्यादा पसन्द के काबिल नहीं समझना चाहिए।.... (अगर्चे मुझे डर है कि बुर्जुआ तबके का एक खास गिरोह कुदरती तौर से इसकी तरफ झुकेगा—अगर जमाना न बदला तो!)...... क्योंकि इस किस्म की कविता की असली पृष्ठभूमि घुटन और नाउम्मीदी और कर्म्मठ दुनिया से दूर भागने की पृष्ठभूमि है। हाँ, यह गनीमत है कि मुझ-जैसे जो दो-चार और अजीबो-गरीब कवि हिन्दी मे हैं, वह करीब-करीब सब, जीवन के मौजूदा सघर्षों मे, जहाँ तक मुमकिन है, हिस्सा लेना अपनी कला और अपने समाज की जिन्दगी की भलाई के लिए जरूरी समझते हैं। दरअस्ल उनसे अधिक इसका श्रेय खुद उस समाजी जिन्दगी को है, जो अपनी तमाम उलझनो से नजात पाने के लिए तेजी के साथ इस युग की काया-पलट कर रही है।

इसीलिए लोक-गीत, लोक-कला और आम बोलचाल के लहजे और सघर्ष के ज़िन्दा ड्रामे और समाजवादी दृष्टिकोण, सब मिलजुल कर अब कविता में आते हैं। अगर्चे इनमे से बहुत थोड़ी कविताएँ ही सच्ची और सुन्दर कविताएँ होती या हो पाती हैं। यों कला के इन नये मोड़ों पर आने से बहुत कम कवि बच सके हैं, नये हों या पुराने। लेकिन नये कवियों के लिए और उनके पाठकों के लिए तो इसकी माँग खुद जिन्दगी की ही माँग है, जिसको पूरा करने की कोशिश मे, अपने-अपने दम खम के हिसाब से, हममें से हर कोई लगा हुआ है।

●

प्रेत-सत्य

जगदीश

●

पल पल की साखी
तुमने नहीं बनाया
नहीं सँवारा
जो देखत
प्रेत है
उस सत्य का
जो
था
आज होता
बहुत देता
किंतु
तुम्हारे मोल-मानों के
वज्र साँचे में
परम्परावश
रूप का विद्रूप होकर
जड़ गया

और अब
ढो रहा है द्रूह
अपना भी
तुम्हारा भी

●

'फ़ादर ! वी थैंक दी'

राजेन्द्र माथुर

व्यथा और दुस्साहस और
नियति दारोगा के मुख पर थूक देना
और कुंठा अकर्मण्यता
बेरोज़गारी और परमप्रिया
लेखनी और जलन और सदा
दुनिया को दूसरों को ग़ैर मानना
प्रतिद्वन्द्वी समझ कर क्षुद्र
संघर्ष में रहना रत और

कहना मत
कि रास्ता साफ़ है सूझता
कि मैं नहीं पहेलियाँ बूझता
लेकिन, अह, मेरे भाई ! मैं तो
दुनिया के चक्कर से नहीं जूझता--
नहीं जूझता ।

विसर्जित कुंठा

दुष्यन्त कुमार

मेरी कुंठा
रेशम के कीड़े सी ताने-बाने बुनती
स्वर से शब्दों से, भावों से
और, वाणी से कहती सुनती
तड़फ तड़फ कर बाहर आने को सिर धुनती
गर्भवती है—
मेरी कुंठा क्वारी कुन्ती ?
बाहर आने दूँ तो लोक-लाज मर्यादा
भीतर रहने दूँ तो घुटन
सहन से ज्यादा
मेरा यह व्यक्तित्व
सिमटने पर आमादा

प्रसव-काल है— सघन वेदना
मन की चट्टानों, कुछ खिसको,
राह बना लूँ,
ओ स्वर-निर्झर बहो कि तुममें
गर्भवती अपनी कुंठा का कर्ण बहा लूँ
मुझको इससे मोह नहीं है
इसे विदा दूँ।

वह कुंठा का पुत्र
अभागी, मंगल-नाशक
इसे उठा कर जो भी पालेगा

इसके हित कष्ट सहेगा
बुरा करेगा, द्रोही ! घातक !!

प्राप्य सत्य के लिए
महाभारत सा जब जब युद्ध छिड़ेगा।
यह कुंठा का पुत्र हमेशा
कौरव दल की ओर रहेगा
और लड़ेगा—

●

रात का मसीहा

मार्कण्डेय

●

हर रात को
जब पीपल की पत्तियाँ
प्रेत की फूँक से सहम कर खड़खड़ा उठती हैं
जब फूल भय के पसीने से भीग जाते हैं,
जब फल थरथरा कर डालियों से चू पड़ते हैं,
जब रात साँसों के डोरे बीनने लगती है,
जब जानवर जम्हुआइयाँ लेने लगते हैं,
मसीहा का उदात्त वन्य स्वर तब सुन पड़ता है
बड़ा साहसी है,
जैसे पत्थर का कलेजा है उसका।
और इसीलिए तो वह इन्सान से ऊँचा है,
इस कमज़ोर कलेजे वाले आदमी पर,
उसके सहमे हुए तन पर, टूटे हुए मन पर,

उसके खंडित विश्वासों पर,
टूटे हुए तार की आवाज़ सी साँसों पर
उसकी रात सी खामोशी पर,
उसकी जानवर सी सीधाई पर
मसीहा हँसता है।

हर सुबह
जब कमल के होठों में
भोले बालक-सी मासूम हँसी बिखर जाती है,
जब किरण नये रास के सुनहरे नूपुर बाँध लेती है,
जब फल जवानी के रंग में महक उठते हैं,
जब सबेरा भौंरों के पंखों पर गुनगुना उठता है,
जब गायें थनों में दूध कसे रम्हाने लगती हैं,
तब मसीहा डरता है :
युद्ध से भागे हुए सिपाही सा दिल है उसका,
और इसीलिए तो वह इन्सान से छोटा है
इस मुट्ठी बाँधे चलने वाले आदमी पर
उसकी फल सी महक पर
फूल सी हँसी पर
उसकी चिड़ियों जैसी चहक पर
उसके सुबह-से जागरण पर
मसीहा रोता है।

●

अगहन की रात

नित्यानन्द तिवारी

●

ठण्डी बदबूदार हवा
अंधेरे का अजगर औंधा पड़ा
खामोशी जैसे कोई

आसपास भर गया,
कोल्हू की चरमर औ,
खखार भरी खसियों
के तीर
सन्नाटे की छाती में गहरे भिद जाते हैं।

पोर-पोर पिसता रहा ऊख का
चलता रहा कोल्हू रात भर
एक निचुड़ी खोइये सी
मायूस ज़िन्दगी की छाँह
बैलों को हाँकती रही सारी रात
रस कड़ाहे पर चढ़ गया
झोंकते अलाव रहे चुपचाप
ठंडक से सिकुड़ी देह
जैसे सारा अस्तित्व सिमट कर
आग की गर्मी के सामने नतमस्तक हो।

सुबह हुई, सूरज की किरनें
तराजू की डोरी बन
तोल गई सारा श्रम
अस्तित्व अपना सिमटा रहा नतमस्तक।

अस्तित्व ओ मेरे !
चीखो मत
अभी और चढ़ने दो पानी
आत्मा की धार पर !

भाऊ समर्थ के तीन रेखाचित्र

●

पहली दृष्टि मे आप देखेगे कृश शरीर, मॅझोला क़द और फीका गेहुँआ रग का एक व्यक्ति भाऊ समर्थ अब तक अट्ठाइस वसन्त देख चुका है। ... वसन्त नही, सत्य तो यह होगा कि उसने तीव्र सघर्ष और कटु निराशाओं के अट्ठाइस पतझर देखे हैं, खुशहाली का वसन्त तो विरला ही कोई देखा हो। इन पतझरो ने उसके शरीर को क्षीण कर दिया है, उसके चेहरे का रग चुरा लिया है। आज भी, जब कि उसकी तलिका के हुनर को स्वीकार कर लिया गया है, वह रूखी, बेरौनक जिन्दगी बसर कर रहा है। उसके पास इतने भी साधन नहीं कि वह अपनी कला-साधना के लिये आवश्यक उपकरण जुटा सके।

भाऊ एक रूढिद्रोही कलाकार है और निश्चय ही वह सब रूढियों का विरोधी है। उसने न केवल अपनी कला के क्षेत्र मे पुरानी मान्यताओं के 'नट बोल्ट्स' ढीले किये है, बल्कि उसने अपने निजी जीवन मे भी तथाकथित रूढिवादी असामाजिक मान्यताओ को खुली चुनौती दी है।

श्री विनायक मासो जी ने इस कलाकार के बारे मे कहा था— "नवीनता की अनवरत खोज ने कला की अधुनातन प्रवृत्तियों से उसका सम्पर्क करा दिया। माध्यम, शैली और शिल्प के विविध प्रयोगों के फल-स्वरूप उसने कई मेधा, कौशल और सौन्दर्य-युक्त कृतियो का सृजन किया है, जो उसके शिष्यों की रुचि पर छा गई हैं और सामान्यजन तथा कला प्रेमियो की प्रशसा की भाजन हैं।"

यहाँ भाऊ के तीन रेखाचित्र दिये जा रहे हैं। अपना परिचय स्वयम् देंगे।

—अनिल कुमार

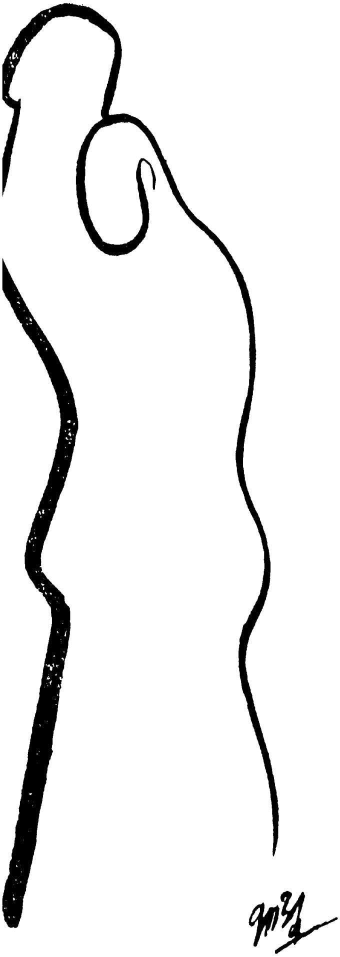

युग्म

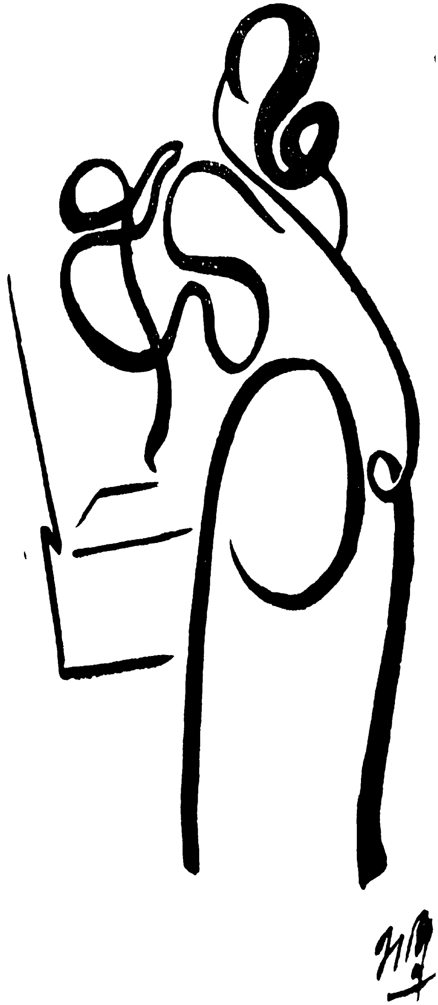

पालने के पास

तसल्ली

उपेन्द्रनाथ अश्क

जानता हूँ—तुम न आओगी मगर फिर भी निरन्तर
देखता हूँ राह
कैसी बेबसी है ?
जानता है मन वचन के सत्य को, पर
चाहता है यह
भरम क़ायम रहे,
दायम रहे—यह झिलमिलाती शाम,
चलने को रुकी गाड़ी,
झुका सिगनल,
घिरे पशुओं सरीखी भीड़,
फैले बत्तियों के दाम ?

भीड़ का सागर लहर लेता
उमड़ता, मन्द हो जाता
कि पुल की ओर से लहरें नयी
तूफ़ान की गति से चली आतीं
नयी हलचल मचा देतीं ?

मगर मैं इस किनारे
(है सुरक्षित सीट, हैंडल हाथ में, फुटबोर्ड पर हैं पाँव)
देर से वंशी लगाये लोचनों की
सोचता हूँ—
अभी झटका सा लगेगा

झलक मुख पर कौंध उठेगी तुम्हारी
दीठि की डोरी तनेगी—
औ' तुम्हारी स्मिति,
तुम्हारे गाल का डिम्पल
तुम्हारे अधर-कोनों पर लरज़ते बोल
बन रहे अनगिन बहाने नेत्रों में—
आ मुखर होंगे अचानक पास मेरे
हलकी हलकी घंटियाँ
मीठे ठहाके
गूँज उठेंगे

—घड़ी सहसा रुक गयी थी, समय का
—नहीं टैक्सी मिली

—ऐन चलते वक्त आ पहुँचे हमारे

पर श्रवण मेरे बन्द हैं।
मैं सुन रहा कुछ भी नहीं
बस देखता हूँ—

अधर-कोनों को सिमटते फैलते औ' लाल ओठों को
अजब सौंदर्य दे देते,
किलकती साँस फूली
वक्ष सागर को उमड़ते औ' उतरते
देह की वह बेल हँसने मे कभी झुकती, कभी तनती,
कभी फिर लोट सी जाती?
अजब आकांक्षाएँ
रात के गहरे अँधेरे में छिपी
अतृप्त रूहों सी,
निकल मन से
अजाने पंख अपने खोल—
मस्तक के उजाले को

नजर की रोशनी को
वारुणी के घन अँधेरे सी
अचानक घेर लेतीं ?

कि बजती है अचानक रेल की सीटी
हरी झंडी किसी निकटस्थ नौका-पाल भी हिलती
नहीं झटका लगा पर तन गयी है दीठि की डोरी
सिमट आये अनेकों युग
सिमटते एक इस क्षण में -

न जाने कौन कब मेरी तरह
लटका सरकती रेलगाड़ी से
बँधा झूठे वचन से देखता होगा उसे
जिसको न आना था ।

न जाने कौन कब मेरी तरह
लटका सरकती रेलगाड़ी से
निरन्तर बाट जोहेगा
किसी की जो
न आयेगी— न आयेगी !

मगर ख़ुद ही बहाने सोचता उसके
निगाहें भीड़ में गाड़े
तसल्ली दे रहा मन को
सरकता चला जायेगा

●

डार से बिछुड़ी

कृष्णा सोबती

सौ साल पहले

पंजाब की एक मार्मिक कथा

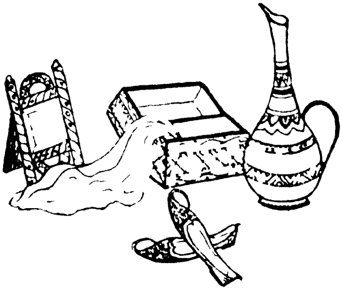

निकष के इस संकलन की

विशेष कथाकृति

जियें । जागें

सब जियें जागे । जो मेरे कुछ लगते थे, अच्छे बुरे, अपने पराये, सब जिएं ।

घड़ी भर पहले चाहती थी कि कहूँ सब मर खप जायें । न कोई जिये, न जागे । मैं मरूँ ता सब को ले मरूँ । मुझ अभागी के ही जीने के लेख बिसर गए तो कोई और क्यो जीये ? क्यों जागे ?

पर कौन होती थी । मैं अपने दुर्भाग्य से हरी भरी बेलों को जला देने वाली ? कोन होती थी मैं दूध-भरी झोलियों को सुखा देनेवाली । कौन होती थी मैं भरी भराई, लाड़ सनी झोलियो को सड़मा देने वाली।

उस मालिक के किए जब भरी रही मेरी झोली—हरी रही मेरी झोली—तो क्यों न लोक जहान फले फूले । क्यो न अपने पराये जिये जागे ।

जिये उनके अगले पिछले जिनसे बिछुड़ कर मैं अलग जा पड़ी थी। जियें उनके सगे सम्बन्धी जिनसे छुट कर मैं दूर जा गिरी थी । जिये उनके नैन प्राण, जिन्होंने मुझ कर्मजली को उठा गले से लगा लिया । जिएँ जागे उनकी भरी पूरी गृहस्थियाँ, जिन्होने बाह थाम मुझ कर्मजली को अपनी डार से मिला लिया ।

सब जियें...सब जागे ।

जो मैं थी वह क्या फिर से लौट आई हूँ ? राह मे भरे उठान से अकड़ कर आँखो से रगीन डोरे बिखेरते हुए चली जाती थी । ठहरने को न कपड़ा ठहरता, न नजर । और बाँहे किन्हीं प्यासी गलबहियो की तरह हर अँगड़ाई के साथ उठती-फैलती और सिमट कर रह जाती । शाहआलमी से जब तिल्ले की नोक वाली जूती पहरे लम्बा 'परान्दा' डुलाते हुए निकलती तो आवाजे सुन सुन कर मुस्कराती । माँ क्या मुझ से कम रहीं होगी ? खोजो के घर मे पटरानी बनकर बैठ जाने वाली नानी की बेटी कैसी लगती होगी वह, बार बार सोचती और सोच सोच कर और भी इठलाती ।

चाहती कि किसी दिन चुपके से खोजो की हवेली की ओर जाऊँ और किसी झरोखे मे से अपनी माँ कहलाने वाली की एक झलक तो पाऊँ। पर अपने छोटे बड़े मामू का कठोर चेहरा याद कर पाँव ठिठक जाते। बहाने बहाने शाहआलमी तक निकल जाती और कुम्हारो के घर तक होकर वापिस लौट आती। कभी नानी के साथ ठाकुरद्वारे जाती तो नानी तेवर चढ़ा कर सिर ठोंकती और कहतीं—"रब्ब तुझे सम्भाले, अरी कपड़ा नीचे रखा कर।" नीचे कुएँ मे से पानी की गागर भर कर लाती तो बड़ी मामी तरेर कर देखती और फिर क्रोध से बाँह मे अटकी गागर खीच कर कहती... "पसार को छूने लगी। न शर्म न हया। ओढनी अब तेरी गले तक से उठने लगी..." मैं अपनी गोल गोल आँखों से देखती रहती। न पलक झपकती, न कुछ कहती, बस छिपी छिपी नजर से अपने चांदी के बीड़ों वाले कुरते को निहारने लगती।

तन्दूर तपा कर, परात मे से आटा ले ले कर पेडे बनाती थी कि छोटे मामू सीढियाँ चढे। चूड़ियो की छनकार सुनकर जैसे ठिठक गए। हाथ पर पानी लगा झुक कर तन्दूर मे हाथ डाला, सेक न सहार सकने से उछल कर पीछे हुई कि मामू ने निदर्यता से चोटी घुमा दी और धक्का दे कर कहा—

"यह कुलच्छनियो वाले हाव-भाव! "

आवाज सुनकर नानी बाहर आई। एक बार मामू की ओर देख कर तिरस्कार से बोली—

"अरी कुएँ मे डूब मरी थी तेरा बोज डालने वाली, अब तू सम्भल कर साँस भर!" एक बार तो आँसू छलके पर भरसक अपने को रोक ढिठाई से दोनो का सामना किए रही। उठी, फिर जलती रोटी निकाल चगेर मे डाली और पहले पूर मे रोटियाँ लगाने लगीं। नानी कान की बड़ी बड़ी मुरकियों को हिलाते-हिलाते बोलीं—

"जा बेटा...कुछ शरबत पानी पी..."

पैर उठाते मामू फिर ठिठके और बाँह फैला कर बोले—

"तन्दूर लगाने को क्या यही चुड़ैल रह गयी है? इसे बर्तन भाँड़े मलने को दया करो "

मामी लपक कर अन्दर से आई और अपनी ओर चगेर सरकाती हुई बोली—

"तुम्हें सौंह सगों की जो तुम फिर कभी परात छुओ ."

उस दुपहर खाना नहीं खाया गया। नीचे कुएं पर जा झीनी सी ओढनी ओढ़ मल मल कर नहाती रही। कभी गोरे चिट्टे पाँव मलती, कभी बाँहे, कभी गर्दन। बैठे-बैठे ही कुएँ में डोर लटकाती और भरी गागर खीच अपने ऊपर उडेल लेती। पानी से भीग भीग कर न मामू की जलती निगाहे याद रहीं ..न, नानी की, न मामी की। ऊपर गयी तो पड़ोसियों के घर से लगी कोठरी मे जा लेटी। लेटे लेटे यही सोचती रही कि क्या है जिसके लिए आये दिन फटकार पड़ती है। सिर पर बाँहे फैला अँगड़ाई ली और दोनों ओर के ऐन बीचा बीच लटकती चाँदी की जजीर देख कर एक बार फिर मुस्करा पड़ी।

दुपहर ढलने उठी। बाहर आई। ओसारे मे नानी कशीदा लेकर बैठी थी। पीढा खीच, चौके के बाहर लगे जूठे बर्तनो का ढेर साफ करने लगी। सूखी राख से कटोरे मल मल कर एक दूसरे पर टिकाती जा रही थी कि छोटी मामी बाहर से आई और नानी को सुनाकर बोली—

"लाडो के नखरे तो देखो पीढी ले कर भाँडे मलने बैठी है। अरी बुरो की पीढी पर बैठती है भले घर की बहू-बेटियाँ।"

सुनते ही मन जल गया। गुस्से मे मामी को कुछ कहने को ही थी कि हाथ काँस के कटोरी पर गया और पूरे जोर से माथे पर आ पड़ा। सम्भलती कि ओढनी पर टप-टप खून गिरने लगा। मामी भौचक्की रह गयीं। नानी काँपती सी पास आई और कुछ बड़बडाते बड़बड़ाते रुक गयी। पास बैठ कर ठोडी छूकर मुँह उठाया, जैसे डर गयी हो और कधों से घेर कर उठाते हुए छूते से गले से कहा—

"उठ बेटी, क्या पागल हुई हो—"

और अपनी कोठरी के सामने बिछी चारपाई पर जा लिटाया। नानी के घाव पोंछ कर ऊपर कुछ लगाने से न कराही, न रोई, न हिली-

डुली। बस आँखें मूँदे पड़ी रही। रात देर गए नानी घी डला दूध का कटोरा ले कर आई तो ऊपर झुक हौले से बोली—

"उठ बेटी यह पी डाल—"

हाथ के सकेत से इन्कार किया तो नानी ने झुक कर कहा—

"सिर फिर गया है री तेरा। इतना खून गया है, कल कैसे उठेगी!"

इस बार आखे खोलीं और हाथ से कटोरा नीचा उलट कर कहा—

"मेरी ओर से इसे चूल्हे मे डाल दो।"

हौले से नानी ने, खाली बर्तन चारपाई के नीचे रखा और बाँही पर बैठते हुए बोली—

"सुन लेंगे तो चूल्हे में भून डालेंगे—समझी—?"

सिरहाने पर से बँधा सिर उठाया, अँधेरे मे ही नानी की ओर ताकती रही और फिर उसकी झोली मे मुँह डाल रोने लगी। अपनी सिसकियों मे ही नानी के गले की घरघराहट सुनी। जो नानी औरों के साथ मिल कर मुझ पर बरसती है, वह अकेले मे मेरे साथ रोती भी तो है। दुपट्टे से मेरी आँखे पोंछ, नानी ने पुचकारते हुए सिर के नीचे सिरहाना दिया और दु:ख से बोली—

"इस मुँह से उसका नाम न लूँ बिटिया—उसी की करनी तुझे भरनी थी। नास हो उसका मुँह काला कर गयी घर भर का—मेरे दोनो बेटे उसको कितना मानते थे, यह लोक जहान जानता है—"

बीच में ही टोक कर कहा—

"नानी खोजों की हवेली—"

मुँह पर हाथ रख नानी ने घृणा से घुड़की दी। "वहाँ का नाम न लेना लड़की, कभी उस ओर नजर भी की तो लड़के तुझे जीता न छोड़ेंगे।"

●

उस रात बन्द आँखों मे शहर भर मे सब से ऊँची खोजों की हवेली घूमती रही। दिखा कि जलालपुरी दरवाजे की ओर खुलता झरोखा एकाएक गुलाबी झलक मारने लगा है। मुँह उठाकर ऊपर किया तो तस्वीर सा मुखड़ा जल्दी से दिवार की ओट हो गया।

अगले कई दिन चारपाई पर पड़ी रही। सुबह सुबह फज़ल नाई आता और नानी के सामने मरहम पट्टी कर जाता। दोनों मामू और मामियाँ किसी भी दिन मेरे पास नहीं आये। जाने नानी ने उन्हें क्या कह कर मना किया होगा।

उस दिन ठीक हो जाने पर पहली बार उठी थी। नहा धो साफ सुथरे कपडे पहने। तेल डाल बाल गूँथे। आले में रखे छोटे से शीशे में मुखड़ा देखा तो दंदासे वाले चमकते दाँतो से हँस पड़ी। क्या मामा मामी की कड़वी निगाहों से ही यह उजला रूप मैला हो जायेगा। बालों के पास माथे पर का दाग अभी लाल सा दीखता था। कसे बालों में से एक लट निकाल उस पर छितरा ली। उस पल पहली बार तहसीलदार की बहू का जड़ाऊ टीका आँखो मे घूम गया। नाक की लौंग उँगली से छू कर कई बार मन ही मन दुहराया—वैसा ही टीका इस माथे पर सजेगा! वैसा ही...

मेरा उस दिन का बनाव सिंगार पहले नानी को खटका था या मामी को, नहीं जानती पर शाम को नाइन को बुला नानी बोली—

"रांबया—लड़की के सिर मे तेल डाल पूरा सिर गूँथ जा—यह रोज का टटा अच्छा नहीं—"

बड़ी मामी अटेरन पर सूत चढा रही थी—हाथ रोक मेरी ओर देखने लगी कि नानी को जवाब मे क्या कहती हूँ।—

"मै यूँ ही अच्छी, मुझे सिर को सूली पर नही चढाना है—"

"क्या कहा—?" नानी कमर पर हाथ रख पास आ खड़ी हुई और खा जाने वाली आँखो से फटकार कर बोली—

"आग लगे तेरी जवानी को—बैठती है कि नही—रांबया खोल इसका फुनगियो वाला परादा—"

मन मे आया राबया समेत तीनो को रौंदती हुई इस घर से बाहर हो जाऊँ। पैर उठाने को ही थी कि नीचे सीढियो पर छोटे मामू की आवाज़ सुन पड़ी। सहम कर राबया के आगे जा बैठी।

सिर गूँथ रांबया ने पीठ पर हौले से धौल लगाते हुए कहा—

"उठ री, बड़ों के कहने मे रहा कर, पराये घर मे बात उलटाने से कैसे गुजर होगी तेरी—"

मामी ने सुनकर बोली मारी—

"भली कही रांबया, इस चलते पानी का ठौर कहाँ ?"

सुन कर नानी को जैसे अच्छा नही लगा। अपने को सम्हाल कर कहा—

"जाने दो बहू—अभागिन न होती तो—"

एक साथ तीन मटके उठा कर पानी भरने नीचे उतर गयी। कस कर गूँथा सिर दुखने लगा था। कुंए की मुँडेर पर खाली घडे को हाथ दिए दिए जाने कब तक बैठी रही। चौक कर पीछे देखा तो कड़ी आखो वाले बडे मामू खडे थे। एकाएक अखियाँ छलछला आई, जी हुआ मामू से लिपट कहूँ—"इस घर के लिए मै भार हूँ मामू ! मुझे कही छोड़ आओ ! कहीं भी !

मामू ने पहली बार सिर पर हाथ रखा और जल्दी से खींच लिया। रुखाई से कहा —

"यहाँ बैठी बैठी क्या करती है ? चल ऊपर"—

भरी भरी आँखों से डोर बाँध घडे नीचे बहा दिए और गज गज भर का हाथ दे जल्दी जल्दी ऊपर खींच लिए। एक सिर पर और दो बाहों में थाम ऊपर चली तो मामू मेरे पीछे हो लिए। अन्धेरी पतली सीढ़ियों मे न झुकी न रुकी और चौके मे तीनों मटकों की कतार लगा दी। मामू की ओर मैं देख नहीं पाई पर मन ही मन लगा कि मामू के माथे पर बल पड़ते चले आ रहे हैं।

चाहा नज़र बचा कर इधर उधर हो जाऊँ पर नहीं रुकी। भरी गागर का पानी उठा कर देग में उलटा दिया और बाहर चली। पहली सीढ़ी पर पांव रखा ही था कि मामू की आवाज सुन मुड़ गयी। चेहरे पर डरावनी तरेर थी।

"गागर रख, इधर आ !" जी धड़कने लगा। गागर रखने को झुकी तो शलवार का पांयचा पैर मे अटक गया। गिरते पड़ते मामू के सामने जा खड़ी हुई।

"फतेहअली के घर गयी थी?"

सिर हिलाया—"नहीं।"

"गयी थी करीम से मिलने?"

"नही मामू, नहीं!"

मामू की आखें लाल हो आई —"नहीं की बच्ची। तेरा दिया चमकी का रूमाल बाजार भर मे दिखाता फिरता है —मौत आये तुझे —कहता है माँ शेखो के घर जा बैठी —अब लड़की इस दिल में रहेगी"—

दाँतो तले ओढ़नी दबा कर बार बार बेबसी से सिर हिलाने लगी —

"नहीं —नहीं——"

मामू को मेरी आवाज मे, मेरे चेहरे पर कहीं सच नहीं दीखा। गुस्से मे काँप कर नानी को फटी आवाज दी और फिर भँभीरा की तरह चुटिया घुमा कर पसार की दलहीज पर दे मारा।

आधी अन्दर पड़ी थी आधी बाहर और छम छम रोती थी।

"पखवारे से ड्योढी की दलहीज नहीं लाँघी और मैं......मैं उसे रूमाल दे आई।"

.... मामू को नीचे भेज मामी ने लानत फटकार दी और कुरता खींच उठाती हुई बोली—

"उस शोहदे से आँखे लड़ाने चली, जैसी कुलच्छनी माँ थीं—"

नानी ने पास आ मामी को रोक दी। पड़ोसियों की छत को ओर इशारा कर के बोलीं—

"जहान खड़ा सुनता है! कोठरी मे डाल इस डूब जानी को—"

किवाड़ भिड़ा दोनो मामियाँ और नानी खा जाने वाली निगाहों मे पास आ बैठीं।

"बुरे चलन की—रूमाल कब दे आई थी उस मरजाने को?"

रो कर कहा—"मामी यह झूठ है, झूठ है"—

मामी हाथ मटका कर बोली—"अरी कालिखपुती, तेरी माँ भी यही कहती थी।"

नानी ने हौले से बाँह हिला कर कहा—

"कुछ और तो नहीं कर आई?"

सिसकियाँ लेते लेते ठिठक गयी। जाने कैसी होऊँगी। नानी साँस रोके कुछ क्षण मेरी ओर तकती रही। जबाब न पा माथा पीट कर बोलीं—

"किन पापों का फल इस उम्र में मुझे पाना था। इसे मौहरा दो बहू, मौहरा।"

रात भर कोठरी में पड़ी रही। दिवार लग कर बैठी बैठी बहुत बार याद करती रही कि कब मिली थी करीम से, कब दे आई थी रूमाल उसे ? शाहआलमी से जाते हुए तनिक एक नज़र उसे देख मुस्करा ही तो देती थी।

ठंड से सिकुड़ कर नीचे ही लेट गयी तो आँख लग आई। नींद में देखा—लाल जोड़ा पहने डोले मे बैठने लगी हूँ और ओढनी के सग लटकता वही गठबन्धन का पीला चमचमाता रूमाल है।

नींद खुली तो आँखे मलमल कर अपने को देखा। सरदी में अकड़ जाने पर भी बदन हल्का फुल्का लगा। लाल जोड़ा—लाल-जोड़ा—

राह देखने लगी कि बाहर से कब किवाड़ खुले। उठ कर नहाऊँ-धोऊँ और छोटे से दर्पण मे अपनी छवि देखूँ।

पर सध्या से पहले कपाट नहीं खुला। बाहर किन्हीं पाहुनों की सी आवाजें आती थीं। जतन करती रही कि पहचान मे आये, पर बोल कहीं चौके के आसपास ही गूँज कर रह गये।

छोटी मामी ने साँकल उठाई। हाथ मे लालटेन थी। पास आ कर मिजाज़ से बोली—

"उठ री मेरी लाडो-बहुत हो चुकी रुसवाई" बाहर आई तो नानी ने ढीले स्वर से कहा —

"पाशो, जा चौके में बड़ी मामी से लेकर कुछ खा पी"—

कड़ाई के समय यह ढिलाई समझ में नहीं आई। चौतरे पर हाथ टेके पत्थर सा बनी खड़ी रही। बड़ी मामी चौके से उठ आई और पीठ पर हाथ रख प्यार से बोली—

"आ पाशो—मामू का का कहा बुरा मानेगी ? घर के खसम ने कुछ कह ही लिया तो जी को लगाने बैठी ? चल टुक्कर मुँह में डाल"—

मामी ने रोटी तवे पर डाली—सेंक साँक कर खुला घी लगाया और थाली परोस दी।

मामी के लाड़ से जी छलछला आया। घुटनों पर सिर झुका भर भर आँखें रोने लगी।

छोटी मामी और नानी चौके की दहलीज पर आ खड़ी हुईं। नानी बोलीं—

"जिगरा कर बिटिया। खा पी नींद ले। कल प्रभाती जोड़ मेले जाना है"—

हिचकियाँ पल भर को रुक गयीं। रात भर कोठरी में बन्द रहने की सजा के बाद त्यौहार का चाव जैसे चौंका गया? उसी जोड़ मेले में जाऊँगी जहा के लिये सो सो मिन्नतें करतीं थीं और मामू हामी न भरते थे।

वेमन से कुछ कौर निगले और पानी पी उठ आई। नानी की कोठरी मे चारपाई पड़ी थी। लेटी तो नानी ने लोई ओढा कर कहा—

"अब जो न भटका, तड़के आवाज दूँगी तो उठ जाना।"

कहते कहते नानी का कण्ठ भर आया सा लगा। करवट ले आँखें मूँद ली। नानी ने बत्ती की लौ धीमी की और कुछ देर को बाहर जाकर लौट आई। पडे पडे ऐसा लगा कि कोई रह रह कर बाँह छूता है, सिर छूता है। बेसुधी की सा करवट ली और एक आँख की कोर से देखा—अपनी चारपाई की बाहीं पर उघडी बैठी नानी हाथ बढा कर मुझे छूती है और रोती है। अज्ञात आशका से जी काँप गया।

नीचे ड्योढी मे कुडी उड़काने का खटका हुआ तो नानी हड़बड़ा कर बाहर चली गई। कान लगाए सुनती रही। मामू की मोटी आवाज की फुसफुसाहट थी और गली मे घोडे की टाप।

इस घड़ी न मामू का ऊपर आना नया था, न घोडे की टाप, न नानी का बाहर ही जाना, पर डर से जी धड़कने लगा। जोड़ मेले के बहाने बाहर ले जा मेरी बोटी बोटी काट देंगे—सोचकर निढाल हो कर लेट गयी। चाहा कि एक बार नानी से पूछूँ तो पर मुँह नही खुला।

नानी के ऊँचे ऊँचे साँस उठ उठ कर गिरने लगे। मुँह पर से लोई उठाकर देखा नानी नींद मे बेखबर थी। दिये की बत्ती बहुत नीचे जा लगी थी। पूरी आँखे खोल कर देखा, झरोखे की सोध पर लगे शहतीर पर दो पुराने लिहाफ लटक रहे थे। और उनमे से निकली रूई—एकाएक

नज़र दरवाज़े पर गयी। भिड़ा था पर कुंडी नीचे लटक रही थी। सोचकर घबरा गयी। चलो. .चला. नही नहीं

लोई अलग हो गयी। अब पर...कहाँ...पीठ उठाई—छोटी सी चरमराहट—धुक धुक नानी की सांस पहले की तरह ही बजती रही। सिरहाने पड़ी ओढनी से मुँह और सिर लपेटा और दहलीज की ओर बढी। जान हथेली पर रख आधा कपाट सरकाया, पैर उठाया और हौल पड़ते दिल से दबे दबे पाँव कोठे पर जा चढी। बनेरे पर से—देखा सब ओर रात ही रात थी। दो चार ऊँची हवेलियों की की माऊन्तियाँ और अड्डे वाली मसीत के ऊँचे मीनारे दीखते थे।

धुकधुकी से देह गीली हो गयी। कह कहाँ .मुडेर फाँद पड़ोसियों की छत पर उतरी तो एक ही बात मन मे आई

खोजो की हवेली.. . ...दौड़ चलो ..दौड़ चलो मामू जागते ही होंगे...

●

मामू कब जागे, कब घर मे हाहाकार मचा, यह कैसे मैं जान पाती? तारों की लौ में, सराफे के पिछवाडे जब लुकती छिपती खोजों की हवेली तक पहुँच गयी तो आगा पीछा सोच कर कपकपी छिड़ गयी। ओढ़नी को दो बार सिर पर लपेटा और मुँह ढँक लिया।

छोटे बडे मामू की आँखों की तरह किवाड़ के दोनो पाट जुडे जुडे मुझे घूरते थे। खडे खड़े दाँत भींच कर रुलाई रोकती थी और दोनों हाथों हाथों से ड्योढ़ी का द्वार ठेलती थी। गली के कुत्ते भौक भौंक जी दहलाते थे और हर साँस के साथ जैसे मामू पास आते जाते थे। मुट्ठियाँ मारते मारते वहीं लटकी साकल खड़क गयी। चाहा कि चिल्ला चिल्ला कर कहूँ—"खोल दो, जल्दी खोल दो! जल्दी खोल दो—मैं मर जाऊँगी"—पर घिग्गी बँध गयी। निढाल होकर मैं सिर से थाप देती होऊँगी कि तबेले से कोई ऊँची आवाज आई, "ओ खुदा की मार तुझे—इस कुबेले कौन है!"

हिचकियों के तार में से एक ऊँची चीख निकल गयी। चरमर...

चरमर करता वह दो जनों का सा ऊँचा कपाट खुल गया। खोलने वाले के पैर पकड़ कर रोते रोते बोली—"मुझे मार डालेंगे—मार डालेंगे।"

"आई कहाँ से ?" फटे फटे गले से इतना ही कह सकी—

"बढवाली हवेली ..."

पलक झपकते मजबूत हाथ कलाई पर पड़ा और खींच कर अन्दर कर ली गयी। दीवट की रोशनी मुँह पर डालते ही ऊँची लम्बी देह चौंक कर पीछे हट गयी।

"बुरी घड़ी तेरे सिर लड़की-आधी रात को तू शेखों के घर ?"

ड्योढी मे पडे बाजरे के ढेर पर औंधी हो सिसकने लगी।

सीढियो पर से ऊपर जाती इकहरी आहट जब दोहरी हो कर नीचे उतरी तो कानो मे कुछ और सी हो कर लगी।

"निक्की, मुँह ऊपर उठाओ, इधर देखो ."

यह नया सयाना स्वर सुन कर और भी रुलाई आई। सिर पर हाथ रखा मुँह ऊपर किया तो ठिठके से इतना ही कहा—

"पीर फकीर खैर करे, पर इधर की राह कैसे ढूंढ ली .."

"मर जाऊँ-मैं मर जाऊँ—" सिसकियो को रोकते रोकते आंखे और बरसने लगी।

दूर गली मे कहीं चौकीदार का खबरदार गूँज कर चौंका गया।

"दित्ते, माँ जिन्दा से कह कर मेहरबी के पसारवाली सीढियाँ खुलवाओ—"

और शेख मुझे घेर कर एक हाथ मे लालटेन पकडे बाहर वाले आँगन मे ले आये। चुप रहने का सकेत कर, दबे पाँव ड्योढी की साँकल देखी और लौटकर धीमे से कहा—"राह मे कोई मिला ?"

"नहीं।"

"किसी ने देखा—"

सिर हिला दिया—नही।

ऊँचे लम्बे शेख झुक कर मेरे चेहरे पर की नासमझी देखते रहे और फिर बच्चो की तरह थपथपा कर बोले—

"जो होना था सो हुआ। कौन टालता इसे ? जिसके आसरे वहाँ से निकल आई हो अब वही कोई राह भी सुझायेगा।"

ऊपर पसार की अगली ड्योढ़ी में मुझे रोक शेख आगे बढ़े तो अन्दर घबराई आावज आई—

"खैर तो है...शेख जी ..."

भारी गले से एक छोटी सी हँसी।

"खैर ही है मेहर—नीचे की डयोढी से तुम्हारी छोटी मेहर को लिवा लाया हूँ। आओ बच्ची, अन्दर चली आओ!"

"कौन शेख जी ?" बोल घबराहट में अटक अटक गए।

"कौन इतनी रात गए "माँ जिन्दा के साथ पहले मैं अन्दर पहुँची कि वह बाहर आई कुछ पता नहीं। किसी ने आँखो पर से ओढनी उठा मु ह देखा—

"नहीं—नहीं—शेखजी—नहीं"—और रोते रोते मुझे अपनी ओर खींच लिया।

शेख् जी समझा समझा कर अलग करते थे—"सब्र करो मेहर! अब तो तुम्हारे पास आन पहुँची।" पर रेशमी ओढनों से लिपटी मेरी बाहें उस गले मे अलग न होती थीं। "मैं भी ऐसी ही थी! ..मैं भी ऐसी ही थी !

नानी की बेटी बार बार यह कहती थी और रोती थी।

माँ जिन्दा आगे बढ आई। "जिगरा रखो मालकिन, अब लड़की और न रुलाओ।" उस चाँदी के ऊँचे पाये वाले पलग पर जब लेटी तो जिंदा की मालकिन सिरहाने पर कोहनी टेके कई पल मुँह निहारती रही फिर बालों को छूकर गीली आवाज में बोली—"इतनी बड़ी हो गई और मैं जानती तक न थी ?"

और मैं उस नर्म नर्म गर्म बिछौने मे लेटी पट्ट के कुरते पर लटकती सोने की जजीर तकती रही .. हाथ में लिशकारा मारती आरसी तकती रही।

माँ ज़िंदा ने आकर नाले मे की बत्ती नीची की और पास आकर कहा—

"मालकिन लड़की सरदी मे भटकती रही है, इस सोने दो, तनिक शेखजी बैठक मे बुलाते हैं...मुझे अच्छी तरह कपड़ा ओढा कर रानी सी

शेखों की घर वाली जब उठकर बाहर चली तो नीचे लटकता सुनहरा परांदा इन आँखों मे बस गया।

माँ जिदा ने सीढ़ियो मे खुलता किवाड़ उड़का दिया और कटोरी मे से घी ले हाथ मलने लगी। जरा सी हिली तो कहा—

"पहली रात बीत गई बेटी। अब नींद ले। जी को न भरमा, रब्ब अच्छा करेगा।"

आँखें मूँदीं। मामू सामने आये, ठाड़ी पर हाथ रखे मामियाँ और सिबुक सिबुक कर रोती बूढ़ी नानी। फिर जी काँपा कि नानी की बेटी और उसके शेख जी दीखे। यह पलग ऊँची हवेली, हवेली ड्योढ़ी और नींद मे बेखबर हो गय।

तड़के जगी तो नये पसार मे अपने को देख रात की रात सामने उतर आई। घबरा कर माँ जिदा से यही पूछा—

"मामा तो नही आये ?"

"नही बेटी, निश्चित रहो, अब उठ कर नहाओ धोओ। मालकिन तुम्हारी राह तकती होंगी"—बहुत कुछ पूछना चाहते भी चुप रही। ज़िदा की देख रेख मे नहा धो कपडे बदले। नर्मे का जोड़ा पहनते हुए कहा—
"यह तो मेरा नही।"

"पहनो बेटी, मालकिन ही निकाल गई हैं।"

फ़ालसई रङ्ग के जोडे पर मुगिया ओढनी ओढ जब चबारे वाली बैठक मे पहुँची तो मामू की बहिन रागली पीढ़ी पर बैठी बीज छील रही थी। सिर पर गुलजड़ा दुपट्टा था, पैरो मे सलमे सितारे वाली 'जुत्ती'। पास पड़ी पीढ़ी पर बैठी तो बिना पलक झपके यही देखती रही कि नानी की बेटी की शक्ल नानी से नहीं, मुझी से मिलती है। मुझ सा ही रङ्ग है, मुझ सा ही माथा है और... .

"माँ—इस चबारे की सीढ़ियों पर ताला डाल जाओ-और शेख जी की छोटी बैठक की 'माऊन्टी' वालो सीढ़ियाँ खोल देना। तुम्ही अन्दर आओगी। कोई और नही—"

माँ ज़िदा बाहर हो गयी तो चांदी का पानदान एक ओर सरका कर मुन्दरी और छल्लो वाला भरा भरा हाथ मेरे सिर पर रखा और हौले से पूछा—

"बेटी किसी ने कुछ कहा था ?" मैं आँखो पर आती धुध को रोकती रही।

कह बेटी—मुझ से तो कह—

नया-पुराना अगला पिछला सब याद हो आया। उस लाड़ भरी आवाज मे बह बह कर जाने क्या कुछ सुनाती चली गयी। ठिठक कर देखा तो इस बार मैं नहीं—माँ रोती थी। रोते रोते बोली—

"बिटिया तेरा दोष नही—मैं ही इस सब की भागीदार हूँ—मेरे वीर तो सच्चे हैं—मुझ जैसी अभागी बहिन जिनकी लिशकती पगड़ियो का खरा पानी उतार फेके, उन्हे उसकी जायी कैसे सुहायगी।"

सुन कर सोचने लगी कि माँ क्यों उनकी ओर से बात करती है। मुझे जो दिन रात की फटकारे मिलतीं थीं क्या कुछ नहीं। कुछ नहीं।

माँ ने जैसे मेरे मन की बूझ ली हो। ओढनी से आखे पोंछते हुए कहा—बिटिया—"तेरी माँ को इस घर मे कोई कमी नहीं रही—पर जो अपनी पिछली ड्योढी पर काला पल्ला डाल आये, वह किस मुह से किसी को उलाहना दे।"

जो माँ कहती थी—वह मैं सुनती थी, पर समझती नहीं थी।

दुपहर रोटी के बाद मुझे लेटने को कह माँ जब बाहर गयी तो खोई खोई सी सोचती रही कि मैं उस घर से कैसे बाहर निकली हूँ कि दूसरे में बन्द हो गयी हूँ। अन्दर से कुण्डी चढी है और बाहर ताला पड़ा है।

आज के दिन उस हवेली में क्या होता होगा? क्या सोचते होंगे मामू कि मैं कहाँ हूँ? उनके लिए क्या मर तो नहीं गयी हूँ?

एकाएक गागर उठा पानी भरने को मन हो आया। तन पर इतना बढ़िया जोड़ा—इसे कोई देखे तो......पलङ्ग पर से उठी। कोने मे पड़ी चौड़ी डलिया में से माँ का कशीदा उठा कर देखने लगी। लाल पुल-कारी पर पीले पट्ट की कलियाँ सोने की सी दीखतीं थीं। मन मे चाव उमड़ आया।

एक दिन ऐसी ही बाग-फुलकारी ओढ कर किसी के पाँव जा लगूँगी।

●

दिन ढले सोकर उठी तो बन्द पसार से घबरा कर जैसे जी उचाट होने लगा। चाहा कि घूम घूम कर सारी हवेली देख लूँ। पड़ी पड़ी किसी के अन्दर आने की बाट जोहती थी कि पास ही कहीं खुले गले से उठते 'माहिया' के बोल गूँज उठे। लय के साथ हौले से लय मिलाने को थी कि खिड़की पर छोटे से ककर के लगने से चौंक गयी। सांस रोके पलग पर से उठ खड़ी हुई कि हाथ की थाप पड़ी। बांही पर पैर टिका किवड़िया खोली तो कोई लम्बी आकृति 'अम्मी' कहते कहते चौंक कर पीछे हट गयी।

माँ री .   धम्म से नीचे बैठ गयी।

माँ जिंदा हाथ मे दूध-सेमइयों का कटोरा ले कर आई तो खुली खिड़की देख मानो आसमान से गिर पड़ी।

"यह   इसे क्या तुमने खोला बिटिया?"   आवाज में रुखाई थी।

देखती रही और कुछ कहा नहीं। इतने मे माँ आई। जिंदा के हाथ से कटोरा ले बोली—"खा बेटी अब तक भूख लग आई होगी।"

माँ जिंदा ने आँखो ही आँखो मे कुछ कहा तो माँ का चेहरा कुछ कड़ा हो आया, पर प्यार भरे गले से कहा—

"कुछ देखने को खोली थी बिटिया....?"

सिर हिलाया . नही।

"तो फिर "

ढीठ सी होकर चुप बनी रही।

"माँ जिंदा ऊपर की माउन्टी तक हो आओ"—

माँ मेरे पास आ बैठी और घडी भर कुछ जाँच लेने को तकतीं रहीं।

"बाहर कोई दीखा था? क्या कहूँ"

ज़िदा के आगे आगे किसी ने दलहीज पर खडे हो कर कहा

"अम्मी।"

माँ ने सिर घुमाया और आश्चर्य से इतना ही कह सकीं. ."लाली।"

मैं अपलक वहाँ खड़ी रात वाले शेख जी की छोटी मूरत को देखती रही।

माँ ने हिलाकर कहा—"बेटी, कोई और नहीं तुम्हारा वीर है—लाली इधर आ बेटा—तुम्हारी बहन लगती है।"

माँ ज़िदा अपनी गोल गोल आँखें घुमा कर बोली "मालकिन, मालिक बेटे को पूछते थे—जरा साथ चली जाओ। सामने से आँखें लौटाई तो माँ ज़िन्दा ने हाथ मे कटोरा थमा दिया था और सामने न मा थी और न कोई और।

माँ जिदा ने फिर मुझे अकेले नहीं छोड़ा। रात के रोटी-पानी के बाद वहीं पीढ़ी डाल बैठी रही। बहुत देर हुए माँ आई। ओढ़नी उतार ज़िन्दा को दी और मेरे साथ बिछौने मे लेटते हुए कहा—

"जिदा ऊपर सब पक्का है न ? नीचे भी देखभाल आओ"—

जिदा चली गयी तो माँ सिरहाने पर कोहनी टेक मुझे गले तक कपड़ा ओढा कर धीमे से बोली—

"सब कुछ उस मालिक की मर्जी से होता है बीबीरानी—पर यह अच्छा नहीं हुआ। बेटी ! तुम्हारे मामूओ ने कल से कुछ मुँह नही लगाया और बहूएँ सास को पल पल धिक्कारती हैं कि लड़की के पहले वही क्यों नहीं मर गयी।"

धड़कते जी से पूछा—

"कौन खबर लाया है—?"

"ममदू नाई।" माँ चुपचाप देखती रहीं और मैं कभी माँ के गलहार को, कभी नाक मे चमकती चमचम करती लौंग को बीच बीच मे आँखे बन्द करतीं और खोलतीं ता यही पाती कि माँ की नज़र दीवार पर टिकी है। सोच मे डूबे डूबे वह लम्बी साँस भरती थी।

"बेटी !"—चौंककर आँखें खोलीं।

"यही पूछती थी बेटी—मामू तुम्हारे ने कहीं रिश्ते की बात चलाई थी"—

सुनकर लजा गयी। आँखों पर हाथ रख के सिर हिलाया—नहीं।

सोते सोते करवट ली तो चौंक कर देखा माँ पास नहीं। रात आधी होगी। सिकुड़ कर कपड़ा मुँह तक खींच लिया। अभी कच्ची ही नींद में थी कि शेखजी की धीमी आवाज सुन पड़ी—

"जब उसने मन में ठान ही ली तो फिर आज नहीं तो कल"—

माँ ने रुलाई वाले कण्ठ से कहा—"सोचकर मेरा जी काँपता है शेख जी! एक ही वैर क्या कम था"......

"मेहर, अजानी लड़की को क्या दर से मोड़ देते? तुम्हारी ही तार उसे वहाँ खींच लाई"—

माँ का रोना फिर सुन पड़ा।

'अब हौसला करो मैं थोड़ी देर नींद ले लूँ। मैं अभी जगा ही हूँ—"

माँ ने हौले से कपड़ा उठाया और मेरे पास आ लेटी। ऊपर नीचे होती मेरी मुँदी पलकों को देख शायद माँ ने जान लिया कि सोई नहीं हूँ—पुकारा—"पाशो! पाशो!—"

आँखें खोल उठ बैठी। "सच सच कहेगी बेटी", माँ के बोल सुन कर डर लगने लगा।

"करीमू के कहे घर से निकली थी?"

क्या कहूँ सूझ नहीं पड़ा।

माँ की कटोरी-आँखें झपकी नहीं।

"पहले पहर उसके पास थी?"

ठीक ठीक समझ न सकने से टुकर टुकर देखती रह गयी।

मामू वाली तरेर थी माँ के माथे पर।

"हवेली तक छोड़ने आया था?"

घबरा कर कहा—"नहीं तो"—

"देख पाशो—झूठ न कहा। या मेरा वीर नहीं था फतेहअली का लड़का।"

दाँतों तले उँगली दबा कर रुलाई रोकने लगी। एकाएक माँ की आँखें लाल हो आईं। "यहाँ तू आई किसके कहने से—" ओंठ हिले कि कुछ कहूँ पर गले से हिचकियाँ उठने लगीं।

"अन्धे कुएँ में जा गिरती—कहीं डूब मरती। अरी, तू अपने परायों की बैरिन बनकर घर से निकल पड़ी।"

माँ ने काँप कर माथे पर हाथ मार लिया। भर भर आँखे रोने लगी। आवाज सुन शेखजी उठ आये। झिड़क कर बोले—

"मेहर पागल हुई हो? अपने साथ लड़की को भी रुलाती हो।"

माँ ने रोते रोते कहा—

"शेख जी इसे वहीं छोड़ आओ, इस वहीं सम्भाले नहीं...नहीं मुझे वे मार डालेंगे—"

माँ ने आँखों पर से पल्ला हटा कर कहा—

"जो चाहे सो करें। लड़की, इस घर में तेरा पाँव बुरा है—"

शेख जी ने टोक कर कड़ी आवाज में कहा—"मेहर, तुम्हारा चित्त ठिकाने नहीं—अब कुछ और नहीं सुनूंगा।" और माँ का हाथ पकड़ अपनी बैठक की ओर ले चले।

रो धो जब सुबह उठी तो माँ नहीं—शेख जी पास आये। पास बैठा प्यार से कहा—

"बच्ची, माँ की बात को मन में न लाना। और हाँ एक बात तो याद करो, हवेली से निकल कर यहाँ तक आते तो किसी ने नहीं देखा—"

कुछ घबरा सी गई—"नहीं"

"ढक्की पर कोई पहरू नहीं मिला ?"

"नहीं तो—"

"याद करो, बेटी—"

"मैं तो कोठे लाँघ कर आई थी"

शेख जी पल भर मेरी ओर देखते रहे फिर सिर को थपथपा कर जाते हुए बोले...

"अब नहा धो कुछ खाओ पीओ। बीबी रानी—"

"शेख जी—" पीछे से पुकार कर झिझक गयी। शेख जी मुड़े।

अटक अटक कर कहा—"नाई से पुछवा भेजें शेख जी—मामू राज़ी हों तो वहीं जा रहूँ"

मन में उठते डर को जैसे अपने आप ही समझा कर बोली—

"बड़े मामू दो एक दिन पीट ही तो लेंगे—"

शेख जी सोच मे डूबे, बड़ी देर भर मुझे देखते रहे फिर छोटी सी हंसी हस कर बाहर हो गए।

आधी रात मुंदी आँखों मे सपने देखती थी। ऊँची चिट्टी घोड़ी पर दौड़ती चली जा रही हूँ, दोनों हाथो से किसी को कस कर बैठी हूँ और सिर पर की ओढनी बार बार उड उड़ जाती है—

एकाएक किसी ने झकझोर कर जगाया—पाशो—पाशो—हड़बड़ा कर उठ बैठी। क्या देखती हूँ—माँ सिरहाने खड़ी है और माँ ज़िन्दा फुसफुसा कर कह रही है—"मालकिन, शेख जी, जल्दी कर रहे हैं—"

बिछौने से उठवा कर माँ ने जब गर्म चद्दर ओढाई तो ठिठकी सी देखती रही। क्या उसी घोडे पर चढने जा रही हूँ।

माँ जिन्दा ने घेर कर कहा—"आओ बच्ची "

दलहीज तक न जाने किस नींद की बेसुधी मे गयी होऊँगी कि माँ मुझ से लगकर रोने लगा। मैं भी क्यों सग सग रोने लगी थी—समझ नहीं पाई पर माँ ने कधे पर सिर डाल ऐसा लगा कि दो दिन पहले वाला कोई हाथ सिर पर से उठ रहा है और मैं...मैं

किसी ने माँ को मुझ से अलग करते हुए कहा—"अम्मी।"

भरी भरी अँखियो स देखा लाली। माँ ज़िन्दा ने सम्भालते हुए कहा—

"मालकिन, घूँट भर पानी पिलाओ और मालकिन का नाम ले लड़की को इस देहरी पर से—" "नही . नही...मुझे कहीं मत भेजो—कहीं मत भेजो—" कहते कहते फिर माँ से जा लगी। शेख जी अन्दर आये तो मुझे अपनी ओर खींच एक बार माँ की ओर देखा, लाली की ओर देखा और गहर गम्भीर गले से बोले—

"सब पागल हुए हो। आओ बिटिया कुछ ही दिन की बात है—सोच मत करो—माँ तुम्हे मिलने जायेगी।"

आँसू पोंछ ठगी सी देखने लगी। समझ नही पाई कि कहाँ ले जाई जा रही हूँ।

"लाली, अपनी अम्मी के पास रुको—अच्छा तो चले मेहर—"

माँ ने एक बार मेरा माथा चूमा और रोते-रोते बोली—

"जो तेरे भाग, जो तेरे भाग...बच्ची..."

और जब आँख खुली तो ठडी रेती पर लेटी थी। पास ही कही घोड़ा हिनहिनाता था। उलटी हो—रेत मे कोहनी टिका मुँह ऊँचा किया तो शेख जी नही—वही पहले दिन ड्योढी पर मिली सूरत दीख पड़ी। दो लम्बे लम्बे हाथ सिर का साफा सँवारते थे। आसपास ऊँचे ऊँचे सरूट खडे थे। दरिया के किनारे का विराना देख सहम गयी। छिटक कर उठी और पास जाकर बोली ..

"मुझे कहीं मार डालने को तो नहीं ले आये.. "

साफे का लड अच्छी तरह खोस कर बाबा दित्ते ने मेरी ओर देख कर कहा—

"लड़की! जो शेख जी ने सोचा है, उसे रब्ब निभा दे तो है—वहाँ रहती ता दो घरो की ड्योढी खून से रँगती .. मुह गीलाकर लो—अभी बीस कोस और है "

ओठ भर घूँट दो घूँट पानी पिया और बाबा दित्ते का हाथ पकड़ घोडे पर जा चढ़ी। इस बार आगे नहीं—पीछे थी और दोनो बाहों से आगे बैठे सवार को जकड़े थी।

सरदी का नीला दिन धीरे-धीरे खुलने लगा। दूर सामने सिर पर छतराते चौक-फूल की तरह उभरी पहाड़ियाँ चमकने लगी।

मन ही मन हैरान थी कि कहाँ जा रहे ह, कहाँ पहुचेंगे कि बाबा दित्ते ने दाई ओर के ऊँचे टिब्बे पर खड़े पुराने मजार की ओर हाथ फैला कर कहा

"मुराद माँग ले बेटी .जहाँ ले जाता हूँ वहाँ की डयोढी जा चढ़ो तो पीर फकीरों के यहाँ चद्दर चढा जाना।"

मन ही मन मनाने लगी

"चद्दर चढाऊँगी दीए जलाऊँगी पर..पर कहाँ पहुँच कर? कहाँ—?"

पेड़ों के झुरमुटे मे एक कच्चा गाँव दीखने लगा था। बाबा दित्ते ने होले से कहा...

"किसी ने पूछ लिया तो यही कहना सासुरे जाती हूँ "

उन्हीं छोटी चोर सीढ़ियों पर से उतर कर ड्योढी मे जा खड़ी हुई। लकड़ी का कपाट बन्द था। शेख जो ने हाथ से घेर कर बहुत धीमे से कहा—

"सम्भल कर बेटी, इधर..."

बीच का आँगन पार कर हवेली की पश्चिम वाली कोठरियों तक पहुँच गए। अँधेरे मे ही शेखजी ने किनारे वाले तद्वरे का द्वार खोला और हाथ थामे नीचे उतर चले : कुछ सूझता नहीं था—चबूतरे पर से चढकर किन्ही दूसरी अन्धी सीढ़ियों पर पॉव रखते रखते ठोकर खा गयी। हाय रे सम्भलूं कि शेख जी ने हाथ से छूकर चुप रहने का सकेत किया। इस बार सीढ़ियाँ किसी बहुत बडे दलान मे जा निकली। गल्ले ही गल्ले की गन्ध थी। माँ के पसार से यह जगह बहुत दूर लगी। सुनसान, चुपचाप, अन्धेरा। जी मे आया यहाँ छिपी रहूँ तो मामू मुझे कभी ढूँढ न पाये। कभी भी नहीं

शेख जी मेरा हाथ छोड़, दो कदम आगे बढे—ठीक ठीक तो दीखा नहीं पर आवाज से लगा कि सावधानी से कोई भारी चीज सरकाई हो, फिर एक छोटी सी टक अगली घड़ी मे शेख जी के सग हवेली के बाहर खड़ी थी।

तारों की लौ मे देखा वही मसीत सामने था जिसके ऊँचे मीनारें अपने बढ घर की छत पर से देखा करती थी।

एकाएक किसी की खँखार और घोडे की टाप! चौक कर शेख जी से जा लगी कि फुर्ती से किसी ने उठा कर घोडे पर बिठा लिया और अगले पल एक बॉह से मुझे समेट, दूसरी से रास सम्भाल घोडे को हवा मे भगा दिया।

कुछ सोचूँ कि देखूँ कि पेड़ो के काले मुँह आँखो पर से दौड़ दौड़ जाने लगे—गोल-गोल से चक्कर बल खाने लगे और...और...

नहीं...नहीं...

आँखों के आगे बाबा दित्ते की पीठ थी पर शरमा गयी। रुक रुक कर कहा...

"वहाँ नहीं...वहाँ नहीं...मैं तो...मैं तो. ."

"अच्छा! अच्छा!" बाबा दित्ते हँसे और सयाने गले से कहा—

"वहाँ नहीं तो किसी वीर के घर सही..."

लाली की याद हो आयी। झिझक कर धड़कते दिल से पूछा—

"बाबा, माँ लाली का ब्याह कब रचायगी?"

बाबा ने लाड़ से मानों समझा कर कहा—

"बीबी रानी जब तेरे सुख की ठंडी खबर उस घर जायगी!"

गाँव की हाट के सामने से हो कर जाते थे कि किसी ने ऊँचे गले से पूछा—

"सज्जनों किधर. .?"

बाबा सिर हिला जरा सा चौंके और फिर हँस कर कहा—

"यहीं अम्बरवाल तक जी, लड़की को पहुँचाने जाता हूँ।"

मैं फिर शरमाई।

शिखर दुपहरी जब धूप में चमकते गाँव के बाहर-बाहर हो कर ऊँची ढक्की तले बाबा ने घोडे की रास खींच कर नीचे छलाँग लगाई तो समझ गयी कि जहाँ से मेरे सुख की खबर माँ को जानी है वह जगह यही है! यही है!

●

दिवानों के घर जब मुझे दूसरी रात आई तो सचमुच मैं ऊँचे पलग पर जा चढ़ी और कुरते पर लटकती जजीर सदा के लिए खुल कर एक ओर जा पड़ी। आँखें न खुली थीं, न बन्द थी। पल पल सिमटती थी, पल पल उभड़ती थी। वहीं लेटी, वहीं बैठी और वहीं तड़का हो गया।

सुबह सिर पर पड़े घर की चद्दर ओढ जब डोले मे बैठ दिवानों की बैठक से हवेली की ओर चली तो देह की देह किसी मीठे ख़ुमार में ढीली हो हो जाने लगी। आँखें मूँदती और फिर चौंक कर खोल लेती कि पालकी में बैठी, पालकी मे! कहारों के कंधों से उतर पालकी डयोढी में जा टिकी। परदा उठा। किसी ने अन्दर झाँका और साने जड़ी दो बाहे मटका कर कहा—"आओ री ओ दूर की मालिन, तेरी झोली मे हरी भरी छाँह।"

सुनकर डोले मे से निकली और कहने वाली के पाँव जा लगी—

"ठण्डी रह, साँई जिए।"

आगे कुछ सुना नहीं गया। लजाकर आँखे ढाँपने के लिए आँचल का छोर ढूंढने लगी कि किसी ने सिर का पल्लू खींच घूंघट निकाल दिया।

खिलखिलाती आवाज आई—

"बड़ी मौसी, पूछ तो इस चम्बे सी मालिन को, किन बागो से आई है?

मेंहदी रँगे बालों वाली बड़ी मौसी ने एक जलती निगाह फेंकी और झिड़क कर कहा—

"चुप री लड़की, खत्राणियों की जाई से यह पूछना?? इसके वीरों की उजली पगड़ियो पर केसर।" सुन कर क्या हुआ यह नहीं जानती?

छम छम रोने लगी। पहले आँसू बहे आँचल भीगा फिर गले से हिचकियाँ उठने लगीं। दास दासियों मे से अलग ला कर मौसी ने मुझे छोटे से पसार मे ला बिठाया फिर कपड़ा उठा मुँह देखा और ओंटो मे बोली—

"गई रात क्या बेटे के माथे लगी?"

हाथों मे मुँह छिपाये रही। पीठ पर हाथ रख मोसी समझा कर बोली—

"डोल न बेटी—छूना नहाना तो इस तन से लगा ही है। यह तो कह वहाँ का नाम क्या है"

"पाशी।"

"न न. इस घर के लिए तो तू मालिन है। हाँ—अब नहा धो कुछ देर नींद ले फिर गहना कपड़ा.."

मन खुशी मे हलका हो आया। गहने.....कपडे.....

दुपहर ढलते जागी तो मौसी गुलाबी गोटे जड़ा जोड़ा लाई और ढेर से लाई गहने। चूड़े से भरी बाँहे, गोखरू, मोती-जड़ी मुन्दरिया और आरसी, नाक में शिकारपुरी नथ, कानों मे पीपल पत्ते और सिर पर चौक-फूल और मोली। सजाव बनाव कर पीढ़ी पर बैठी तो मौसी पास खड़ी दासी से बोली

"गोमा, जा ज़रा मेहदी छोल ला। हाथ पर सगुण का टिमका तो दे दें...हाँ री मालिन—तेरी सगी सहेलियों को यह भी न सूझा ...।"

सुन कर न जाने कैसे घबरा सी गई होऊँगी कि मौसी ने तीखी नजर से गोमा की ओर देखा और झिड़क कर कहा

"यहाँ खड़ी खड़ी क्या देखती है "

फिर मेरे पास आ कर कहा जी कड़ा रख, पीली हो हो क्यों जाती है ? जो कुरेद कर पूछेगा—उसे मैं बताऊँगी।" शाम तक मुँह दिखा‍ई . झोली भर गयी। देखने वाली ठोड़ी उठा कहतीं

"मौसी—ऐसा रूप कहीं देखा सुना नही " और मौसी नखर से सिर हिलातीं .

"यह मन्नोतियों की बहू है...नहीं तो बेटे की आँख कहाँ टिकती थी ।"

जी धक धक करने लगा, जिनकी बैठक में कल टिकी थी वह तो किसी के बेटे से नहीं दीखते थे। पका पका चेहरा था।

सिर पर रात फिर उतर आई। मौसी ने बादाम पिस्ते वाले दूध का कटोरा देकर कहा..."पली पलाई है री! मेरे बेटे को खुश करना सीख "

दिवान जी अन्दर आये तो मैं मौसी के कहे लम्बा सा घूँघट निकाल पलंग के पैताने बैठी थी। पास बैठ दिवान जी हँसे और कपड़ा उठा कर बोले.

"बड़ी देरों से दिखा यह मुखड़ा . पगली यहाँ दिल लगा ?"

ऐसा लगा कि जैसे शेख जी मुझ से यह पूछते हों। आँखें छलछला आई। टप से एक बड़ी सी बूँद नथ की वागं में आ अटकी। दिवान जी कुछ पल अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से देखते रहे फिर नथ को तनिक उठा हाथ से मुँह पोंछ दिया।

"मौसी ने कुछ कहा ?"

"नहीं। नही ।" सिर हिला भर्राये गले से बोली..

"मैं तो पीछे के लिए रोती हूँ। कहीं मामू तो न ढूँढ़ने चढ आयेंगे ?"

दिवान जी ने गले से लगा कर कहा "अरी भोली ..यह तेरी चिन्ता करने की बात नहीं। जहाँ मैं और शेख हैं वहाँ क्या किसी की नजर पहुँचेगी ?"

अगले दिन सुबह जब दिवान जी पास से उठ कर बैठक जाने लगे तो सिर पर लाड़ से धौल दे कर बोले .

"नन्ही लाडा, आज क्या भेजूँ तुम्हारे लिए ?"

मैं खिलखिला कर हँस दी।

मोसी जान गई कि शेखजी की उम्र के दिखने वाले उसके बेटे को भा गई हूँ। पास पड़ोस, दूर पास से नित ही औरतें मुफ्त नई नवेली को देखने आतीं और सराह सराह कर लौट जातीं। कई बार सोचती क्या कोई भी जानता नहीं कि मैं कैसे यहाँ पहुँची हूँ। फिर मौसी को यह कहते सुनती

"अरे कब की बात चलती थी पर घड़ी को कौन आगे पीछे करे। नाई रुक्का लाया और बेटा दस पाँच सगो को लेकर इस भागवाली को ब्याह लाया।"

सुनने वाले इसे क्या सच ही सच मानते! पर किसी को मानो कुछ पूछने की जुर्रत न पड़ती। मैं गहने कपड़ो से खुश, दिन रात अपने दिवान जी के लाड़-चाव से इठलाती। शाम को दूज का चाँद देखने कोठे पर चढ़ी। साथ गोमा कूजो का थाल लिए पीछे खड़ी थी। खुले नीले आकाश पर रुपहली चाँदी का छोटा सा लिशकारा। हाथ जोड़ सिर निवा कर मुँह मीठा किया। आँचल सम्भालते नीचे उतरने को थी कि दिवान जी की आवाज़ सुन पड़ी। कपड़ा माथे तक कर लिया और हँसती आँखों से गोमा से पूछा...

"इधर तो न चले आयेंगे ?"

"गोमा ! थाल बहू को पकड़ा नीचे चली आओ" मौसी ने वहीं से आज्ञा दी।

दिवान जी के पॉव की आवाज सीढ़ियो पर सुनते ही हँस पड़ी। हाथ मे थाल लिए लिए खड़ी रही कि वह पास आये। इधर मै थी। मेरे हाथों पर टिका मिश्री का थाल बीच मे और उधर ऊँचे लम्बे मेरे दिवान जी।

"मुँह मीठा करें जी—"

दिवान जी ने झुक कर मिश्री का एक टुकड़ा मुँह मे डाला और सिर हिला कर मानो बार बार कहा.. "सच ही मे चाँद टोखा सच ही मालिन ..?"

दिवान जी ने हौले से मेरे झूमते कर्णफूल को छू कर कहा "मौसी जी कहती हैं क्या वह सच है ?"

दोनों हाथो मे मुँह छिपा लिया। स्नेह से हाथ अपनी ओर खीच दिवान जी ने आँखों मे देख एक बार फिर पूछा .."सच है मालिन ?"

घबरा कर सिर हिलाया..."मै तो नहीं जानती मौसी ही जानती हैं ."

दिवान जी बडे सयाना की तरह हँसे।

"मालिन, एक बार शेख जी के यहाँ तुम्हारी माँ की झलक पाई थी। बस यहाँ लौग के पास तिल नही—बाकी वही मुखड़ा है वही भोला-पन है वही रग "

दिवान जी के जामे के बीडे टटोलते चुपके-चुपके खुशी मे भीग जाने लगी। मौसी ने कैसे जान लिया यह समझ ही नहीं पाई। जाने क्या क्या कूट छान कर पिलाती। कभी दिवान जी पास बैठे देर तक हुक्का पीते रहते तो मौसी अन्दर आकर बरसती .

"उठो लखपत, बहू का जी अच्छा नहीं। तुम तो फिर से दस बीस साल पीछे लौट गए।"

दिवान जी मेरी ओर देखते और-और सी हँसी हँसते। उन्हें बाहर जाते देखती तो मन ही मन कहती

"यहाँ मेरे सिर की सरदारी है। यही मेरा भाग सुहाग है।"

बड़ा अच्छा दिन रहा होगा कि आँख खुलते ही मौसी के मुँह से सुना—"बहू—सुना है तुम्हारे पीहर से ऊँट आये हैं। जल्दी नहा धो लो कोई तुम्हारी माँ की पाती भी तो लाया होगा"

जी में धुकधुकी होने लगी कौन आया होगा। बाबा दित्ता, शेखजी, नहीं ..नहीं. शेखजी क्यों कर आये होंगे। कहीं मामू तो नहीं?

बैठक से भर-भर सामान आने लगा। मीठा-मिठाई, कच्ची-पक्की रसद, बताशे, मखाने, मेवा-कपड़ा, लाड़ा ओसारे में कोई जगह न खाली दीखती थी। देख कर लगा कि आज ही ब्याह के आई हूँ। आज ही डोले से उतरी हूँ।

मौसी दास-दासियों को सुना-सुना कहने लगी—"लो देखो मेरे समधियों के चलन—सारा दिखावट यहाँ भेज दिया।" लाड की लड़की ठहरी-सुनकर फूली न समाई पर झट ध्यान मामू के घर भटक गया। किस लाड़ में दिन काटती थी वहाँ। क्या अब तक भी छोटे बड़े मामू तक खबर न पहुँची होगी।

दिवान जी किसी को साथ लिए हवेली में आये तो नीचे से ही मर्दानी बैठक में चले गए। कुछ देर बाद मौसी आई और बोली—

"ढंग का कपड़ा पहनो बहू—तुम्हारा वीर आया है।" उतावली से जल्दी से अंगूरी बेल की ओढ़नी ओढ़ी और मौसी के संग-संग बैठक की ओर चली। दलहीज पर कुछ रुकी, कुछ ठिठकी कि दिवान जी ने पुकार कर कहा—"चली आओ मालिन-तुम्हारा तो छोटा वीर है।"

अन्दर जाकर कुछ पल सुध बुध भूल गयी। लाली को देखते ही आँखें घिर आईं। बड़ी बहिन मान जब झुक कर उसने पैरी पौना किया तो सब के सामने सकुचाई सी खड़ी रह गयी।

मौसी ने हाथ से बढ़ा कर लाली के साथ जा बिठाया तो सामने बैठे दिवान जी हँसने लगे।

"मालिन, दरिया पार से तुम्हारा वीर आया है, कुछ बात करो। सुख सान्द पूछो। हाँ मौसी तनिक इधर तो आओ।"

दोनों को वहीं बैठा छोड़ मौसी और दिवान जी बाहर चले गए तो भी न नज़र उठी न कुछ कहने को मुँह खुला।

एकाएक अपनी ओर आता लाली का हाथ देख कर चौंक गयी। मेरे हाथ पर छोटी सी चाँदी की मोर-पखी सुरमेदानी थी।

सम्भल कर बड़ी बहिन की तरह पूछा—"यह क्या म ने भेजी है ?"

"नहीं ! नहीं !" मेरे वीर का चेहरा लाल हो आया। रुक-रुक कर कहा—"यह तो...यह तो अपनी ओर से मैं ही "

जा ने कितनी ममता उमड़ आई। सुरमेदानी को चूम कर बड़ी बूढियां की तरह बोली—

"वारी जाऊँ अपने वीर पर।"

यह कहते ही अब तब की झिझक दूर जा पड़ी। भाई के लहरिए-दार चीरे की फ़बत देख मान से मुस्कराई और कहा—

"कुछ खाया ?"

"खाया, दिवान जी माने ही नहीं, अम्मी ने तो मना किया था।"

क्रोध से उलाहना दे बोली "माँ को यह क्या सूझी। बहिन का घर क्या पराया होता है ?"

फिर जैसे सब कुछ याद आ जाने से कण्ठ को धीमा कर पूछा "वहाँ सब सुख तो है ?"

लाली ने सिर हिलाया—हाँ !

इस छोटी सी हाँ को सुन के चिन्तित हो आयी। साँस रोके कहा—"बढ़वाली हवेली से तो कोई न आया होगा ?"

लाली ने कुछ घबराई सी नजर से इधर-उधर देखा फिर रुक-रुक कर कहा—

"नानी ने तो आँखे मीट लीं—बडे मामा शुदाई से घूमते रहते हैं।" लाली की अटक देख सहम कर बोली

"कहे चलो !"

"छोटे तो गँडासा लिए..."

"लाली !!"

लाली ने मेरी ओर नहीं झरोखे की ओर देखते देखते हुए झिझकते झिझकते कहा—

"इलाके भर में खलबली मच गयी है कि पाशो करीम के साथ जेहलम पार......"

जी धक धक करने लगा और सिर पर घड़ों पानी की शरम से आँखें नीचे हो गयी। कुछ पल दो पैरों में चमकती तिल्लेदार जूती दीखती रही फिर घूम घूम कर जाने कहाँ खो गयी। जब होश आयी तो मौसी ऊपर झुकी सिर पर हाथ फेरती थी। एक सग दिवान जी और लाली को देख सिर के कपडे के लिए हाथ फैलाया मौसी स्नेह से बोली।

"क्या बात है बहू—इतना हल्का दिल। राजी रहें तुम्हारे सगे सम्बन्धी। वहाँ की खोज खबर वे तुम्हे क्यो न भेजेंगे। आज भागवाला तुम्हारा वीर आया है, कोई दिन त्योहार होगा तो फिर और सन्देसा आयगा।"

सुन कर पडी पड़ी रोने लगी। दिवान जी से मानो रहा नहीं गया। मौसी के हाथ से पानी का कटोरा ले, एक हाथ से मुझे सहारा देते हुए पुचकार के से स्वर मे बोले.. ...

"मालिन, अच्छी मिली हो भाई से, पगली कहीं की। उसे भी उदास करने चली"..

फिर अचानक हड़बड़ा कर कहा ..

"मौसी तुम देख भाल करो, बच्चे को बैठक लिए जाता हूँ। मालिन का वीर हो नहीं...अपने तो पुराने सज्जनो का लाडला है।"

लाली के लिए दिवान जी जब बाहर गए तो अपने से लम्बे और दिवान जी से छोटे कद वाले लाली को पीछे से देखती रही।

"खुशी-खुशी रह। बहू मालिक से माँग कि जब फिर तुम्हारा भाई आये तो कर्मो वालो तुम्हारी माँ बधाइयाँ भेजे।"

और रुलाई आयी, और सिसकियाँ भरी।

मौसी सहारा दे कर मुझे मेरे पसार मे ले आई। पलग पर कपडे ढीले कर लिटाया तो पल भर को लगा कि यह जगह कैसे मरी हो गई। यह घर कैसे मेरा हो गया .फूट फूट कर कहा.

"दिवान जी को बुलाओ...मौसी उन्हें जल्दी बुलाओ...मैं. मैं..."

मौसी ने समझाया "पहली बार है मालिन, हौसला करो..."

और दिवान जी को बुलाने आदमी भेज दिया।

भरी आँखें द्वार की ओर ही टिकी रहीं। दिवान जी आकर पास बैठे तो सिरहाने से सिर उठा उनके साथ जा लगी। खूब रोई। दिवान जी पीठ पर हाथ फेरते और आँसू और बहते। माथा सूँघ कर दीवान जी ने मुँह ऊपर उठाया और मेरी ओर देखते हुए बोले

"सच सच कहो मालिन, लाली ने क्या कह कर तुम्हें डरा दिया।"

क्या दिवान जी भी जानते हैं। डर के मारे रुक रुक कर हिचकियाँ उठने लगीं। दिवान जी गम्भीर हो आये। सिरहाने पर लिटा कर मुझ पर झुके और बडे सयानो की तरह पूछा

"मुझ से तो कह मालिन" . ...

सोचने लगी कि क्या कहूँ—क्या कहूँ कि हौले से जैसे कान मे कहती होऊँ.. बोली

"दिवान जी! मेरा तो ब्याह ही नहीं हुआ"

अचरज से दिवान जी की आँखें पूरी खुली, तेवर चढे, फिर आप ही आप नीचे हो गए। आवाज दे मौसी को बुलाया और बोले...

"पूछो देखो मौसी, तुम्हारी सिरफिरी मालिन क्या कहती है?"

मौसी कुछ कुछ हँसी मे टालने को थी कि बहुत हौले से कहा "कहती है इसका ब्याह नही हुआ"...

"हैं री मालिन।" दिवान जी के संकेत से मौसी कुछ कहते कहते रुक गयी।

सीधे खडे कडे चेहरे को देख भय से आँखे मूँद ली। अभी खींच कर पटक दी जाऊँगी पर मैंने ऐसा क्या पूछ लिया है। ब्याह तो सच ही नहीं हुआ।

दिवान जी ने मानों मेरे मन की बात बूझ ली हो। बाह को छूकर कहा—"आँखे खोलो"—

कानों को आवाज़ मे गुस्सा नहीं सुन पड़ा। डरी डरी सी उठ कर बैठ गयी। इस बार दिवान जी पास नही बैठे खडे खडे पूछा—

"यह तुम्हें लाली ने कहा?"

घबरा कर बोली -

"नहीं! नहीं उसने नहीं—उसने तो कतई नहीं कहा—"

"फिर तुम्हें यह ध्यान कैसे आया?"

"यह तो पता नहीं! बिल्कुल पता नहीं दिवान जी।"

दिवान जी ने अपने बालो मे हाथ फेरा और दलहीज तक जाकर लौट आये।

"मालिन, तुम्हे याद नही ? दित्ते के सामने तुम्हें चद्दर ओढ़ाई थी-झोली मे मीठा डाला था !" सिर हिलाया...

"हाँ.. ...हाँ ..हाँ ."

"अरी भोली और ब्याह क्या होता है ? आधी रात को नानी के घर से निकल तुम शेख जी की हवेली न आती और मामू तुम्हारे शेख जी के खून के प्यासे न हो जाते तो क्या तुम्हें घोडे पर चढ़ कर ब्याहने न जाता !"

बेफ़िक्री से हँस कर कहा—"सो तो है ही ! सो तो !" फिर मचल कर कहा—

"अपने वीर को मे क्या सौगात दूँ, यह तो बतायें दिवान जी !"

नहा धो जब चोके चढी तो नारियल और कूजो के ढेर मे छोटा सा घूँघट निकाले मन ही मन खूब भीगी ! लाल चोले मे लिपटा मेरा लाडला चिट्टा दूध खीखता था।

मौसी के हाथो से लेकर दिवान जी ने बेटे को ठाकुरों की झोली में डाल दिया और हँस कर बोले—

"गुसाई जी, सीधी नजर हो आपकी, पोथी बाँच, नाम का शुभ अवसर तो निकालिए।"

खुशिया का 'ख' निकला। गुँसाई जी ने आखे मूँद वाणी पढी और ऊँचे स्वर मे उच्चार कर कहा—

बधाइयाँ। बधाइयाँ। लखपतराय का बेटा खुशवन्त राय—

मौसी ने बलैयाँ ली। दिवान जी ने बेटे वाले बाप की तरह गर्व भरा सिर शील से झुका लिया और मैं चुपके से ओठों ही ओठो मे दुहराती रही—

खुशवन्तराय ! खुशवन्त ! दिवानों का बेटा खुशवन्त !

लाडले के सिर को बाँह से घेर कर लेटती तो अन्दर से दूध भर आता। आँखो से वह नन्हा सा मुँदी आँखो वाला छोटा सा मुखड़ा देखती तो पतली फ़ाँको से गुलाबी ओठो वाले पुतले को बार बार चूमने को जी

चाहता। सोचती माँ भी इसी तरह लाली को अपने पास लिटाती होंगी, और नानी भी इसी तरह मामूओं को !

इसके आगे जैसे जुड़ते जुड़ते कुछ अलग हो जाता। अन्धेरा घिर आता, सीढ़ियाँ...वह छत...वह हवेली

घी चुपड़ कर मुन्ने को धूप मे नहलाती थी कि आवाज सुन दिवान जी सीढ़ियाँ चढ़ आये। हँस कर बोले—

"मालिन, क्यों रुलाती हो। ध्यान रहे दिवानों का यह बेटा इन रुलाइयों का बदला तुम से एक दिन ज़रूर लेगा।"

ठुमक कर कहा—"सच कही दिवान जी, माँ उसकी पराये घर की बेटी ठहरी !"

दिवान जी जोर से हँसे और चारपाई पर बैठते हुए बोले—"तुम्हें मान लिया मालिन, बेटे के बहाने उसके बाप को उलाहना देती हो।"

नहला धुला मुन्ने को काजल की टिकुली लगाई और दिवान जी की झोली मे डाल दिया।

चीज-बस्त एक ओर रख पास आ बैठी तो दिवान जी के बड़े-बडे हाथो में छोटा सा बेटा देख कर हैरान हो गयी। अचम्भे से रुक रुक कर कहा—

"दिवान जी, यह तो यह तो बहुत ही छोटा है, बहुत ही..."

"और मैं बहुत ही बड़ा, क्यो न ?"

दिवान जी की हँसी दिल पर आ लगी। ठीक ठीक कुछ सूझ नहीं पड़ा। मुन्ने को ले खेस पर लिटाया और कपड़ा सम्भाल दिवान जी के सामने आ खड़ी हुई।

कई पल मेरी ओर ताकते रहे फिर लम्बी साँस लेकर बोले..."मैं तो खुशी खुशी, 'खुशी' को देखने आया था मालिन",

इसके आगे न दिवान जी कुछ कह पाये, न मैं कुछ सुन पाई-बस खडे खड़े अँखियाँ घिर आईं।

बाँह फैला दिवान जी ने पास बिठा लिया और सिर पर हाथ रख के बोले—

"इस घर का चम्पा खिल आया मालिन, अब सोच काहे की।"

मैं रुँधे कण्ठ से हँस दी और हाथ को छूकर लाड़ से बोली...

"मुझे नई मुरकियाँ गढ़वा दो दिवान जी, मुन्ने की सौ खातिर और मेरी एक नहीं ......?"

अगली रात मुन्ने को सुला कर पड़ी कि दिवान जी ने बुला भेजा। औसारे से उनकी बैठक की ओर जाती थी कि मौसी ने पसार की दलहीज में खड़े खड़े एक तीखी नजर फेंकी और रोक कर धीमे से कहा...

"बहू जरा ध्यान से ही, मुन्ना...छोटा..."

आखें नीची कर पैर उठा लिया।

दीवट के उजाले मे दिवान जी ऊँचे पलग पर अधलेटे थे। चमचमाते हुक्के की चिलम ठडी पड़ी थी। किनारे पर सिकुड़ कर जा बैठी। दीवान जी उठ कर बैठे नहीं, लेटे लेटे छत की ओर देखते हुए बोले...

"मौसी मुन्ने के पास है न...?"

जो कहने को थी नहीं कह सकी। आले मे पडे दीवे की लौ ऊँची नीची हो हो क पती गयी। गले मे जैसे कोई अटक आ पड़ी।

"मालिन..."

दिवान जी के बोल नहीं, दिवान जी मुझे पास बुलाते थे।

ओढनी अलग हो गयी तो दिवान जी का हाथ रोक उनकी छाती से जा लगी। पडे पडे काँपते काँपते कहा..

"आज नहीं दिवान जी, आज नहीं"...

उस ठिठकी सी घड़ी मे इतना ही सुना .

"क्यों मालिन". .

और भी साथ लगकर ओटो ही ओठों में बोली...

"मौसी मना करती हैं दिवान जी...दिवान जी"...

दिवान जी कुछ और सी हँसी, बहुत छोटी सी हँसी और दोनो हाथों से ऊपर उठा देर तक इस मुख को निहारते रहे।

लेट गयी तो अन्धेरे मे कुछ और नही दीखा, बस आँखों के अन्दर बाहर दिवान जी ही दिवान जी घूमते थे। कब सोई, कहाँ खोई कुछ पता॰

नहीं रहा। ऐसे सुन पड़ा जैसे सपना देखती होऊँ...

अरी भोली अब यह रात फिर कहाँ आयेगी...कब आयेगी...वह रात नहीं...मेरे सिर पर मेरी बैरिन आ खड़ी हुई तो अगले पिछले लेख सब चुका गयी।

●

रह रह लाहणियाँ पड़ती थी, सयापे की हाहाकार करती आवाजे तीर सी लगती थी और मैं छाती पीट पीट बेहोश होती थी। जितनी बार छाती पर हाथ पड़ता, उस रात वाली ओढनी पर रुकी उस रात वाली दिवान जी की बाँह दीख दीख जाती। और रुलाई आती और रुदन फूटता।

कोई पास से कहती...अरी रोने दो...आज नहीं रोएगी। अभागिन के सिर की सरदारी चली गयी।

हफ्ता भर मुन्ने को दूध नही दिया। जब भी रात को थक टूट उसे गोदी में लेती, मौसी टोकती—

"बहू, होश कर, रोते कलपते क्या दूध रह गया होगा। इसे न मुँह लगाना।"

काली कलपाती रातों मे नीचे...कपड़ा डाल मैं और मौसी पड़ी रहतीं। कभी सिबुकती तो मौसी समझाती

"आ गयी के आगे किसका बस बहू— अब जिगरा कर, इस बच्चे का मुँह देख"...सोए पडे अपने लाल को देखती तो कही अपनी छाया तक न दीखती। वही दिवान जी का माथा, वही चौड़ा सिर, वही फैला चेहरा।

तेहरवीं के दिन दूर पास के सगे सम्बन्धी इकट्ठे हो गए। तीखी अचम्भे वाली नजरो के सामने मैं पल्ला नीचे डाल बैठी बैठी रोती रही। कभी कभी लम्बी उँसासों मे सुन पड़ता

'अरे इसकी बाली उमर कैसे कटेगी". .

अगले दिन बुलाने वालों लोगों की भीड़ छँट गयी। रात को दिवान जी के दूर से लगते भाई और उनकी बूढ़ी माँ के सिवाय सारी 'मकान'

लौट गयी। रात को मुन्ने का ले, मौसी के साथ दिवान जी की बैठक में जा बैठी। आले मे वही तेल और बातो थे। पलग नहीं था, पलंग पर लेटने वाले नहीं थे। बस मैं थी तो अन्धेरी कोठरी जैसी।

दिवार से लगी मौसी ऊँघने लगी थी कि बाहर किसी के भारी पैरों की आहट सुन कर चौक गयी। सहमे जी से मौसी को छूकर कहा ..

"मौसी किसी की आवाज आई थी" ..मौसी ने आखे खोलीं, इधर-उधर देखा और सिर तले बाँह रख फिर मूँद लीं। एक बार चाहा कि उठ कर देखूँ पर हौसला नही पड़ा।

मन ही मन खाली हो गयी बही के पन्ने पलटती थी कि लगा कोई कडे हाथो से खींचता है। एकाएक साँस घुटने से छटपटाई। अन्धेरे मे कुछ दीखा नही। एक जकड़ मे कसी थी और मुँह पर पड़ी कडी हथेली और दबाव—।

सुबह दिवान जी की बैठक मे नही, पाहुन के पसार मे जागी। पड़ी रही। उठने को कोई जल्दी न थी। कसैले दिन की धूप झरोखे से सुझा गयी कि अब यह घर दिवान जी का नही। जिसका है उसी की मैं बाँदी हूँ! उसी की गुलाम हूँ।

मौसी आई तो दलहीज पर ठिठकी मुझे देखती रही। ठोडी पर का हाथ देर तक हिला नही। मेरी आँखे न झपकी, न लजाई, न भर आई। रुखे सूनेपन से एक टक देखती चली गयी। मौसी इस खुली नजर को सह नही सकी। पास आकर कड़ी आवाज मे बोली...

"मालिन!" मैं कुछ बोली नही। खुले कुरते के बीडे उलटा कर दिखा दिए।

मोसी ने सिर पर हाथ मारा और लानत भेजती हुई बाहर हो गयीं।

दिवान जी की मौसी को लानत फटकार से अब मेरा क्या बनने बिगड़ने वाला था।

अब यह घर भिभर के दिवानो का था और घर पर पहरा मौसी का नही, उनकी माँ का था।

नये दिवान उस दिन घर पर नहीं थे। सुबह घोड़े पर चढ़ जब वह ढक्की से नीचे उतरे तो अपने दिवान जी की याद कर आँखें छलछला आईं। किसे खबर थी, इतनी जल्दी बुलावा आ जायेगा। उदास मन से मुन्ने को नहला-धुला लेटी तो अगली पिछली सोचों में भटकने लगी। माँ को किसी ने रुक्का नहीं भिजवाया पर खबर क्या उन तक न पहुँची होगी।

सोकर उठी तो दुपहरें ढल आई थीं। उठकर बाहर आई। नये दिवान की माँ पीढ़ी पर बैठे बैठे ऊँघ रही थीं। मौसी मुझे कुछ चौके चूल्हे का कहने को थीं कि वे हड़बड़ा कर उठ बैठीं। हाथ फैला कर बोलीं—

"अरी, सुहाग जली, यह तेरा कुलच्छजा वेश। ढग से रहना सीख नहीं तो हाड़ तुड़वायगी।" बेडोर आँखें हैरान हो मौसी की ओर ताकने लगीं।

इतने दिनों बाद मौसी पहली बार बरसीं...

"पराया घर हथियाने की इतनी शह। बड़ी बूढ़ी होकर तुम्हारे यह कुबोल...कुछ शर्म हया करो..."

"चुप री उगनी, मरी बहिन के घर धूल खाने बैठी रही। देखती हूँ कैसे रहती है यहाँ..."

दाँतो में लिया ओढ़नी का छोर खींच कर बाहर निकाल दिया और मौसी का हाथ पकड़ कर कहा...

"आओ मौसी जिनकी यह हवेली है वही यहाँ रहे..."

"हाड़ गले तेरे—खबरदार जो पाँव उठाया, बेटे के हाथों पोर पोर जलेगा समझी...।"

पोर पोर—सुनकर तन बदन में आग लग गयी। चाहा कि पैरों से बुढ़िया को कुचलती चली जाऊँ कि मौसी ने हाथ खींच नीचे बिठा दिया।

"जी कड़ा रख मालिन, इन बेदर्दों को रब्ब समझेगा।"

बेदर्दों को रब्ब ने समझना था पर मुझे तो समझना था उन डोरों वाली लाल लाल आँखों ने जिनके सामने न मेरा कोई परदा था न मोल ही।

रात को नये दिवान लौटे। धड़धड़ाते ऊपर आये कि माँ ने कपाल पीट कर कहा .

"सुनते हो, यह डायन क्या कहती है"...ठिठके पाँव तन गए। "कहती है कि किसी की लौन्डी बाँदी नहीं जो यहाँ पड़ी रहूँ।"

अपनी ओर घूम गए नये दिवान का चेहरा देख थर थर काँपने लगी। आगे बढ मौसी बीच बचाव करे कि माँ के बेटे ने कुरते को पकड़ दिवार के साथ दे पटका। चीख मारी होगी, कुछ याद नहीं पड़ता। जब आँख खोली तो वहीं पसार के आगे पड़ी थी। उठ कर बैठी कि बुढ़िया पास आकर हाथ से खींच कर बोली ..

"बहुत हो चुका नखरा, चल अब अन्दर...।"

वही पुराने नानी के घर वाले दिन लौट आये थे। समझ न पाती क्यों दिन रात का धन्धा करते करते भी पीट दी जाती हूँ। गुदगुदाती नर्म बाँहों पर क्यों नील पड़ पड़ जाते हैं। क्यों रूखे सूखे आँसू गले में ही जलते रहते हैं। दिवान जी तो नहीं ही रहे—पर क्या माँ के घर में भी मेरे लिए दो रोटियाँ नहीं।

मुन्ने को सुला, मक्का की छाँट करती, मौसी का हाथ बँटाने के बहाने पास बैठी तो हौले से कहा

"मौसी दया करके शेखों के घर इतना सदेशा तो भेज दो कि यहाँ और रही तो बिना आई मौत मर जाऊँगी।"

मौसी बहाने से पल्ला मुँह तक ले गयी और ओठों पर हाथ रख आँखों से संकेत किया...चुप री।

"अरी गाज पडे तुझ पर! बुला बुला लड़के का गला सूख गया है"..

छाछ मैंने हाथ से छोड़ा नहीं। हाथ हिला हिला छटकती रही।

बुढ़िया को इतना ताव नहीं था। कधे पर धौल मार बोली...

"उजड़ गयी अरी तू और तेरे माँ बाप-जाये—"दिल में सीधी छौंक लगी। सिर उठा बोली...

"मुझे पल पल लानत फटकार दो, मार लो पर सौ मुरादों के मेरे वीर को कुछ मत कहो "

"वाह री पीछे का इतना गुमान। जिनकी कुलच्छनी राँड हो गई

वे कजर यहाँ तक तो न आये"—मौसी के गले लग फफक फफक कर रोने लगी ।

अगली रात मौसी भडारे मे अकेला पाकर चुप्पे से बोली—

"मालिन, वह गोरखनाथ का वैरागी बाबा रात रात भर भी हर एक गॉव में रहे तो भी अगले पक्ख तक तुम्हारे मायके जा पहुँचेगा, उसी के हाथ—"

यही जानकर कि मेरा सन्देसा इस घर से निकल गया है, हल्के जी स काम मे आ लगी। उतावली से चोका चूल्हा समेटा। नये दिवान की मॉ के सिर मे घी रचाया और बैठक मे जा बेटे के पॉव दाबने लगी।

नये दिवान कुछ बोले नही। नीद भरी ऑखो से पडे पडे हुक्के से धुऑं निकालते रहे। मुन्ने के राने की आवाज सुन उठने लगी कि चौंक कर बोले—

"रुको, उसे मौसी सम्भाल लेगी।"

उठकर जाना चाहते हुए भी हिली नही। सॉस रोके तकती रही

हडबड़ा कर सुना नये दिवान पूछते थे

"खत्रियों की बेटी हो ?"

घबरा कर सिर हिलाया—"हॉ हॉ"

"ठीक "

कुछ समझ नहीं कि ठीक क्या ?

"इधर आओ "

पास आन खडी हुई।

ही ही ही कर निर्लज्जता से कहा—

"यह तुम्हारा दूध पीता क्या सच ही दिवान का कुछ लगता है कि कहीं से और यह रोग ले आई थी ?"

खड़ी खड़ी पत्थर हो गयी।

अचानक सिर घूम गया। झपट कर खींचते हुए कहा..

"आज तो आओ ।"

जब कल आया तो दुपहर ढलते ढलते कान मे भनक पड़ी कि मुझ अभागिन का काल आ गया।

आग जला, हँडिया चढा, मुन्ने को देखने पसार की ओर जा रही थी कि दिवान की माँ रोककर बोलीं —

"लड़के को देखना अब तुम्हारा काम नहीं. उसे हुसेना दाई को सौंप दिया है, उसी के घर पल जायगा तुम्हारा लाडला..."

"हाँ, हाथ मुँह धो पसार में रखा जोड़ा पहन लो" . भित्ति से टेकन लगा आखें फाड़ बुढिया का मुँह देखती गयी। देखती रही .देखती रही।

"होश कर री, देर हुई जाती है" इस बार भी हिली नहीं।

ठोड़ी पर ठुनका लगा। जाने कैसे से गले से बोली . अरी सज सवर कर तैयार हो ! बड़ा घर पा निहाल हो जायगी'—

सहम कर आँखे मूँद ली और निढाल हो दलहीज पर औन्धी गिर पड़ी। बार बार सिर पटकते देख बुढिया ने कडे हाथों से उठाया और नहान की ओर धकेलते हुए कहा...

"अरी बहुत हुए चरित्तर तेरे चल जल्दी हाथ मुँह पर पानी डाल .."

पानी ही नही पड़ा, कपड़ों के साथ मेरा दुर्भाग्य भी मुझ से आ लगा। मौसी कहीं दीखती नहीं थी। छोटी बैठक मे जहाँ बुढिया ने मुझे बिठा कुंडी चढा दी थी मैं फूट फूट कर रोती थी और हाहाकार कर कहती थी .

'मुझे कोई बचाओ, कोई बचाओ ..'

दाँतो मे भीच ओढनी फाड़ डाली और कपाट पर सिर मारते मारते बेहोश हो गयी।

फाँसी पर चढे चढे हिलने लगी तो अचकचा कर आँखें खोल दीं। घुप्प अन्धेरा। हाथ फैलाया तो डोले की कड़ी बाँही लगी। "कहाँ हूँ मैं कहाँ हूँ" ..कहते कहते भरे गले से चिल्ला उठी।

कधो से उतर डोला धरती पर जा टिका और कड़ी आवाज आई... "बोल न निकले, नहीं"...डोला फिर उठा और मैं आधी हो सिबुकती रही !

पिछला पहर होगा। पास कहीं कुत्ते भूँकते थे। मुर्गा बाँग देता था और साथ साथ चली आती घोड़ो की टाप छाती दहलाती थी। कहाँ पहुँच रही हूँ ? इस बार कहाँ जा रही हूँ ? किस भट्टी मे झोंक दी जाऊँगी।

झपकी मे दीखा नये दिवान लेटे हैं और अपने तीखे नाखूनों से नोच नोच कर कहते हैं...

"यहाँ आओ...इधर आओ"...

मुन्ना मेरा . मुन्ना मेरा...चौक कर उठ गयी। डोले का पल्ला उठाया तो दिन चढ आया था। पतली सी सँकरी चढाई पर डोला ऊपर की ओर चला जा रहा था। पुरानी ईंटो की दिवार पर काई जमी थी और पिछवाडे की ओर निकला छोटा सा झरोखा घूर घूर कर जैसे ऊपर झुका आ रहा था।

हवेली के सामने नहीं...हवेली के पिछवाडे डोला जा उतरा। मुँह पर कपड़ा डाले थर थर काँपती रही। घर के बड़े सयाने लाला बाहर आये और मोटी थलथली आवाज से बोले..."अच्छा...अच्छा दिवान ने मेरा कहा रखा। आरी भाग मरी यह घर बाहर सम्भाल और "द्रौपदी" बन मेरी और मेरे बेटों की सेवा कर ..रब्ब तुझे इतना सिदक दे "

दिवान जी के कामदार तबेले की ओर निकल गए। और मैं ठीकरों से भरे बुझे बुझे आँगन मे खड़ी हुक्म का इन्तजार करने लगी।

घड़ी भर उठ उठ कर ठहरी खाँसी से लगे बोल आये...

"कपड़ा उठा खुली हो और चूल्हा चौका सम्भाल...'

नये चूल्हे के आगे बैठी कि अन्दर बाहर के धुँए से तन मन धुँआ गया। उपलों को फूँक देती थी और साँस साँस रोती थी। अपने बच्चे के लिए...बच्चे के लिए बह बह आते अपने दूध के लिए...

दोनों ओर से कुर्ता गीला हो आया था और भीज गया था दुपट्टे का छोर, जिस पर अब दूसरे घर की हल्दी लगने को थी।

लाला ने सच ही कहा था। उनके साथ साथ उनके छत को छूते तीन भाइयों की भी कारखिदमत मुझे करनी थी। संध्या होते होते जब तीनों

भाई फेंटा कसे धड़धड़ाते हुए आँगन मे आन पहुँचे तो चूल्हे के पास पटिये पर कपड़ा नीचे कर सिकुड़ी सी बैठी रही। आँखों में आँसू नहीं थे। फटी फटी रुखाई में धड़कता दिल बेर बेर यही कहता था...अब क्या होगा? अब क्या होगा?

होने को नया कुछ भी नहीं होना था। दो सौ मोहरों से तुल कर इधर आन पहुँची थी। जब सौदा ही पट गया तो फिर कूक फरियाद किस की। अब मुझे किसी का घर बाहर बुहारना था, चौका चूल्हा लीपना था, चक्की चलानी थी, साग रोटी बनानी थी और जैसी बन आये निभानी थी।

हाथ हाथ भर का शमला छोडे जब तीनों भाई अपनी खिशकाती लिशकाती घोड़ियों पर चढ कर सुबह "कार" को निकलते तो मैं छोटा सा घूँघट निकाल दलहीज पर खड़ी की खडी रह जाती। रात भर का पैंडा पूरा कर मैं इस घर की खरीदार लौंडी हो गयी हूँ। एक भाई—दूसरा भाई—तीसरा भाई। सिर पकड़ धम्म से नीचे बैठ गयी कि लाला की आवाज आई...

"अरी भागभरी, घी गर्म कर ला, मेरा माथा फटता है..."

अन्धेरा होते होते मँझला भाई घर लौटा खटिया बिछा पानी लाई। पैर धोए और दुपट्टे के छोर से पोंछ कर चिलम भर दी। रसोई की ओर मुड़ी थी कि पीछे से बुलाहट हुई...

सुनो तो...

सहम से ठिठक गयी। लौटी...। छोटी सी पुड़िया मेरी हथेली पर रखते हुए मझले बोले.. "नाक की लोग है इसे पहन लेना..."

हाथ मे पुडिया हिली डुली नहीं। पत्थर सी हो कर आँखें नीची किए किए खड़ी रही। हाथ छू पूछा...

"क्यों, क्या नथ चाहिए?" ओढ़नी से रुलाई के उछाल को रोकते रोकते, बिलख बिलख कर रो पड़ी।

"नहीं...नहीं...मुझे यह नहीं...यह नहीं"

"कहो...कहो......जाने भरे कण्ठ से मैं कैसे बोल सकी होऊँगी।"

"मुझे मेरा मुन्ना चाहिए...मेरा मुन्ना..."

कहते कहते औन्धी हो गिर पड़ी। मँझले मुझे उठा कर रुखे और कड़े गले से बोले .."किसके मुन्ने की बात करती हो..."

घबरा कर कहा...“मेरा...मेरा अपना...”

इस बार माथे पर बल पड़ आये। चौड़ी आँखो से पूछा...“लखपत का बेटा है ?”

सिर हिलाया, हाँ।

दाँत पिसे, मुट्ठी कसी और लोहे सी हथेली मेरे कधे पर रख कर चीखे—

“उस मरे का पूत। उसे देखते ही गला घोट दूँगा...गला—समझी।”

सब कुछ समझ कर तड़प गयी। कहर पडे दिवान पर जिसने मुझे इन बैरियों के घर बेच दिया। आँसुओ मे सब कुछ बहा गँवा जब हार गयी तो पाँव पकड़ कर रो रोकर कहा—

“मुझ पर तरस खाओ...इस नरक से...”

“बस...री इस शेरो के घर को नरक बताने से पहले यह जबान...”

अपने पाँव खीच मुझे दूर झटक दिया।

बेबसी से सिबुकती सिबुकती खाली हो रही थी कि सुन पड़ा..

“उठ री लखपत की नवेली उठकर खाना परस—”आँख मुँह पोंछ, आसन चौकी बिछा ऊपर रोटी डालो। खुले घी से रोटी चुपड़ कर जब थाली की ओर हाथ बढाया तो मँझले एकाएक नर्म हो कर बोले—

“नवेली, आज तुमने मुझे बड़ा सुख दिया है, बड़ा...उम्र में पहली बार आज घर लौटने पर किसी ने पैर धो पोंछ दिए नवेली...”

ठिठकी सी ने जब आँखे ऊपर उठाई तो अपने मुँह पर गड़ी आँखें देख आँखें नत कर लीं।

तीनों भाई हुक्म चलाते और मै बजाती। बडे-बडे डोगरी चेहरे और रोबीली आवाज़ें सुन किसी भी काम के लिए न करते न बनता। लाला जी, सिर में घी डलवाते—अपनी झुकी कमर पर मुक्कियाँ मरवाते और मै अपने फूटे प्रालब्ध के रग देखती। किसे खबर थी—कभी इस घर की छत तले रहूँगी—इसके पुराने शहतीर गिनूँगी और यहीं का अन्न पानी ले जीऊँगी।

सब से बडे खिंचे खिचे चुप रहते, छोटे निर्दयता से छेड़ छाड़ करते, और मँझले डाँटते फटकारते और कभी कभी अकेले में अपने ही ढंग से पुचकारते।

बडे-छोटे दोनो उस शाम घर नही लौटे। लाला जी को दूध का कटोरा दे मै फिर चौके के सिरहाने आ बैठी थी। अब से चौंक कर उठीं तो पाया मॅझले दलहीज मे खडे है। घबरा कर उठ बैठी और गागर से पानी उलटा लोटा बाहर लाई। चारपाई बिछा बोली—

"देर हुई देर हुई पर तुम्हे क्या अब तक तेल बाती का ध्यान नहीं आया नवेली "

मॅझले बैठे तो झटपट दिये जला पास आई।

"खाने पीने को कुछ लाऊँ ?"

"रुको" पहली रुखाई लौट आई।

"आँखें बन्द किए क्या उस अपने बुढऊ का ध्यान करती थी...?"

दुखित हो बिना कुछ कहे जाने लगी तो सिर से झँझोर कर कड़ी आवाज मे कहा

"तुम्हारा यह घमडी सिर घुमा दूँगा समझी। आज वह तुम्हारा लगता होता तो देखता तुम किस की चाकरी बजाती हो।"

अपमान और बेबसी का घूंट पी कर पूछा

"रोटी चूल्हे पकाऊँ या तन्दूर "तन्दूर ..

तन्दूर तपा जब रोटियाँ लगाती थी तो मॅझले पास खडे खडे देखते रहे। मामा याद हो आये। जो बुरा कह चीन्हते थे वही बुरा मेरे सामने आया। जो जो लाचरा फटकार डालते थे वही सच हो हो निकली। मामी कहा करती थी ..

अरे इस बहते पानी का ठौर कहाँ...कहाँ ठौर...

चौका चूल्हा उठा जब भाडे मलने लगी तो हाथ मे चिलम पकडे मझले अन्दर आये। राख सने हाथो से उपला निकाल चिलम मे डाल दिया। मझले वही सिर पर खडे-खडे फूँके मारते रहे। फिर खाँसते हुए पास हो बैठ गए और सिर हिला हिला बोले

"हो हो देखो रब्ब के रग। जो रानी सो गोली बन गयी—अरे ओ लखमी आ देख अपनी लक्ष्मी को .."कानो मे जैसे कोई छड़ चुभा दी। उँगलियाँ फूल के कटोरे मे ही ठिठकी रह गयी—गले मे कुछ घुमड़ा और हाथ मे उतर आया। बाँह उठाई .मॅझले के कानों की 'अन्तियाँ' आँखा मे झिलमिलाई कि हाथ का कटोरा दूर फेक सिर ज़मीन पर पटकने लगी।

•

"मुझे तुम मार डालो...मार डालो..."

मैं क्या-क्या बकती रही—याद नहीं। अब खाट पर पड़ी तो मँझले तरेर कर बोले...

"अब कुछ भी बोली तो खैर नहीं। रात की रात गाड़ आऊँगा, समझी।"

आँखें मूँद लीं तो भी मँझले देर तक पास बैठे रहे...एकाएक चीख मार कर उठ बैठी और रो रो कर बोली...

"मुझ पर रहम करो...मेरे बच्चे पर रहम करो .."

इस बार मँझले कुछ बोले नहीं। जबरदस्ती मुझे लिटा थपकियाँ देते रहे।

बरसात की झड़ी लग आई थी। दिन रात सुबह शाम मेंह बरसता पर पडे नशे में अवा तवा बोलते रहते। कभी कभी बड़े लाला उठकर पास आते और हिला हिला कहते...

"उठ ओ तुख्म के, इतनी पीएगा तो जल्दी ही जल खप जायेगा।"

छोटे लाल लाल मिची आँखों से देखते रहते और थूकते हुए लड़खड़ाई आवाज़ से कहते......

"जारे जा, लखपत के... कमीन..."और दुबारा आखें मूँद लेते।

कभी परोस कर थाली सामने ला रखती तो छोटे अँगड़ाई लेकर उठते और झपट कर मेरा छोर पकड़ लेते...और गा गाकर कहते गोरी कुजाँ से आई......

किसी तरह छुड़ा कर काम में जा लगती। फिर आवाज़ पड़ती "घी शक्कर क्या मुझे नहीं दोगी... ? अरी मँझले पर इतना मोह।"

उस दिन आकाश निखरा था। तीनों भाइयों के साफों को धो धा, कलफ लगा कोठे पर फैला नीचे आई तो छोटे मसखरी से बोले...

"मँझले की नवेली, एक बार मेरे संग लशकर तो चलो, इन कटोरी आँखों पर बड़े बड़े सरदारों की नजरें ठहर जायेंगी..." बात पलट कर संकोच से पूछा...

"आजकल बड़े और मँझले घर नहीं आते, क्या दिसावर की ओर निकल गए हैं?"

छोटे ने इसे फिर गम्भीर होकर कहा—

"क्या सच ही मँझले ने तुम्हें नहीं बताया। वे दोनों तो फिरंगी से जूझने गए..."

साँस रोके क्षण भर कुछ सोचती रही फिर उठते हुए बोली..."क्या खालसों की टुकड़ी है..."

"हाँ... हाँ..."

उठकर छत पर गयी। सिर ढाँप पीर फकीरों का नाम लिया, आँखें बन्द की तो दिखा तीनों साफे नीचे धरती पर पडे हैं और घोड़े पर चढा मेरा लाल खिलखिलाता है।

रात लेटी तो मन ही मन मुन्ने की रक्ख मनाई। जी को जैसे हौसला बँध आया। अब कोई न कोई राह निकलेगी। एक दिन तो छोटे भी...

भटक भटक सपनों से जा भिड़ी। आँचल मे मुन्ने को छिपाये अन्धेरे में दौड़ती चली जाती हूँ कि कहीं से चिट्टे घोडे पर सवार मेरा वीर आ कहता है .

"इतनी रात गये कहाँ मेरी बहिना... मैं तो तेरे घर से तुझे बिना देखे लौट आया..."

मैं वीर से मिलने को बाहें फैलाती हूँ कि नींद उचट गयी। ऊपर का कपड़ा उतार फेंका। छाती से दूध उमड़ा पड़ता था। क्षण भर पहले मेरा लाल यही था। मेरा मुन्ना यहीं था। पर मँझले...!

अब से मैं नित ऊपर चढ़ती और दूर दक्खिन से आती राह पर किसी को ढूँढ़ती। मन यही कहता कि वीर मेरा जरूर घर से चल पड़ा है। जरूर चल पड़ा है।

दूध बिलो छाछ मक्खन सम्भालने में लगी थी कि ड्योढ़ी से आवाज़ आई...

"जय गोरखनाथ जय गोरखनाथ"—सने हाथों ड्योढ़ी पर जा खड़ी हुई—कुछ पूछूं...कुछ कहूँ कि...

जय गोरखनाथ, भर जाय यह झोली...लौटी और टोपा भर गेहूँ और गुड़ ला झोली मे डाल दिया।

"सुख हो—खुशियाँ हो "

माथे का कपड़ा तनिक ऊँचा कर बाबा की ओर देखा और इधर उधर देख हौले से पूछा

"ककरौली वाले दिवानो के यहाँ बाबा?" . "समझा—समझा अरी दुखियारी बेटी—तुम्हारे बुरे नसीब—सन्देसा तुम्हारा तुम्हारी माँ को पहुँचा आया।"

"वीर मेरा ?"

"बेटी उसे बाबा ने देखा नही—जय गोरखनाथ .."

अपनी ओढनी का छोर पकड़ कर बाबा की ओर बढा कर कहा..."फिर वहाँ जाना हो तो बाबा इसे मेरी माँ के हाथ सौंप देना..."

कहते-कहते कण्ठ भर आया।

धुर चबारे से उठकर जब छोटे नीचे आये तो मुझे सोच मे बैठे देख बोले—"नवेली, मँझले की सोच करती हो। उस पर तो लबाणो की काठी है। जी लेगा तो सबसे आगे—नही तो वही खेत हो जायगा!!"

कानः मे जैसे कोई अपशगुण सुन पड़ा। अपनी लाज सकोच एक ओर रखकर कहा—

"शुभ शुभ बोलो"—छोटे हँसे।

"क्यो नही मझले की नवेली, तुम्हारा तो वह सुहाग ठहरा..."

नजेर से फटकार कर तावली तावली आँगन बुहारने लगी।

रात जब लाला जी को दूध का कटोरा दे, छोटे की पसार की ओर चली तो पल पल अपने को धिक्कारती थी, अपनी देह को धिक्कारती थी। सुहाग तो इस अभागी का दिवान जी के साथ जल जल गया, अब जो बाकी रह गया था वह था दुर्भाग्य इस देह का जो मरता था, और जीता था। फिर मरता था—फिर जीता था।

खटिया पर पडे पडे पहर रात बीत गयी। छोटे आज बहुत पी गए

थे और औन्धे पडे थे। लाला जी रह रह कर खांसते और अमावस के अन्धेरे मे से अपनी जवानी को पुकारते।

"हाय री जवानी, तू इस सोने की सी देह को काट गई...हो ..हो.. हो. "

फिर गला घरघराता खाँसी उठती और बुढापे की टूटी फूटी आवाज़ शहतीरो मे जा टकराती।

मुँह सिर लपेट आखे मूँदी तो अकेलेपन की घबराहट से जी न जाने कैसे धड़कने लगा। बहुत छोटी रही होऊँगी, नानी के घर मे ऐसी ही रात थी। मूसलाधार पानी पड़ता था और बिजली चमकती थी। कडकड़ाती गर्ज सुन कर डरी और उठकर नानी के साथ जा चिपटी। और आज।

इन निर्दयो के घर पड़ी पड़ी बेबस असहाय नानी कहा करती थी

सम्भल कर रह बेटी. एक बार का थिरका पाँव . जिदगानी धूल मे लौटा देगा।

सच ही सच ही अपने पराये, लाज शरम, आब-आबरू सब से दूर आज यहाँ मै अभागी

सहम कर सिर उठाया, कान लगा कर सुना तो तबेले की ओर घोडे की टाप सुन पडी। उठ कर खड़ी होऊँ कि पैडियो पर किसी के पाँव पडे। अन्धेरे मे उठते उठते ठोकर लगी। किवाड़ पर थाप पड़ी। कुडी बजी खोल दो

फिर हल्का सा स्वर . नवेली।

आधी रात यह कण्ठ। सुध बुध भूल गयी। फिर थाप पडी खटखट ।

हाथ बढा कुडी खोली कि दो गीली बाँहो ने समेट कर गले से लगा लिया।

नवेली, नवेली ओठों से उठा स्वर ओठों मे डूब गया।

न मँझले के कपडे सूखे न मैंने सुखाये। पडे पडे जोहती रही कि कब बाँह खुले। बाहर बादल गरजते रहे, पानी बरसता रहा।

तन से लगी लगी जाने किन पानियो मे तैरती थी कि मँझले उठकर बोले...

"तुम्हें अपने साथ ले जाऊँगा ..अपने साथ नवेली...अब तुम मेरे पास रहोगी ."

"कुछ पूछने को थी कि मँझले ने कडे हाथ से खींचते हुए कहा... ऊपर मोटा कपड़ा ओढ लो ."

ठिठकी तो चारपाई से उठा मुझ पर खेस डाल कर धड़धड़ाते हुए मझले नीचे उतार ले गए।

ड्योढी की दलहीज पर मुड़ कर जोर से बाँह पकड़ बोली...

"कहो तो ..मुझे तुम कहाँ लिए जाते हो। अब इस घर से मुझे न निकालो.."

अन्धेरे मे पता नहीं मँझले कैसे दीखते होंगे..

हाथ छुड़ा झिड़क कर कहा..

"चुप रहो" और धकेल कर तबेले मे जा खड़ा किया।

पानी थम गया था पर बिजली चमकती थी। घोडे पर बैठी पर मंझले के पीछे नहीं आगे। घोडे को एड़ी लगा मँझले निर्दयता से हँसे और हाथ से घेर कर बोले .

"अब भले ही फिरगीं के हाथों मर जाऊँ...भले ही...मेरे पास मेरी नवेली..।"

नये चबारे पर चढी तो सिर पर दूसरी रात उतर आई थी। राह में पानी चढ़े नालों को पार न कर सकने पर खुश्की पैन्डा लम्बा हो गया था। अगली साँझ दूर से शहर का परकोटा दीखा तो मँझले बोले...

"तनिक कपड़ा और नीचे कर लो, इधर उधर लशकर फैला पड़ा है..बाहर दूर दूर खालसों की चौकियाँ पड़ी थीं। बड़ी बड़ी ऊँची आग के इर्द गिर्द बैठे लड़ाको के चेहरे लाल परछाँई मे तपते थे।"

नगर द्वार पर आवाज़ पड़ी..."रुको, राहगीर जवान"..

रास खींच मँझले बोले .."जेहलमी टुकड़ी हवलदार जी"...

"सो ठीक...बढ़ जवान।"

चौके के बीचो बीच घोड़ा रोक मँझले छलाँग मार नीचे उतरे और हाथ दे मुझे उतारा।

अन्धेरी सीढ़ियों से होकर चबारे चढ़ी तो मन ही मन सोचा...

इन पर से उतर कर कहाँ जाऊँगी, कब जाऊँगी ..कुछ ठीक नहीं।

बाहर से किवाड़ भिडा मॅझले तन्दूर से रोटी ले आये। आगे रख लुक़मा तोड़ मेरे मुँह मे डालते हुए बोले

"इस हल्ले से बच निकला तो नवेली तुम्हे रानी बनाऊँगा—तुम्हारे लिए गहने गढवाऊँगा पट के लीड़े सिलवाऊँगा"—

बस देखती भर रही।

दीवट की लौ जब मॅझले के हाथो धीमी हो गयी तो छन भर को कान लगा सुनने लगी कि आज की रात मुझे क्या कहती है। क्या कहती है ..

रात कुछ बोली नहीं केवल मॅझले कुछ कहते रहे जिसे मेरा मन नहीं तन सुनता रहा।

सुबह होती, मॅझले सिर पर साफा रख बाहर चले जाने, सावधानी से द्वार बन्द करने को कहते। कर चुकती तो बाहर ताला डाल जाते। लेटी रहती . सोई रहती या उठ कर झरोखे मे से चौक की ओर झाँक लेती। रात को मॅझले लौटते तो खुली सास ले पूछती . यह तो कहो—यह लश्कर छावनी यहाँ से कब उठेगी।

मॅझले टेढी निगाह से देखते और रुखाई से कहते ."जाओ रोटी पानी लाओ" ..मैं बाँदी की तरह हुक्म बजा लाती।

उस दिन मॅझले रात देर गए लौटे। बाहर का ताला खुला तो सोई पड़ी थी। नींद में कोई खटका जाना नहीं। बाहर से हाथ डाल अन्दर की कुण्डी कब खुली, पता नही। गिरते गिरते नींद उचटी तो बालों से खींच मॅझले ने मुझे जमीन पर दे पटका।

"दो कोह पैन्डा मार घर आया हूँ और तू बडे घर की बहू बन पलङ्ग पर बिछी है!" ..

ओढ़नी सम्भाल उठ बैठी। थाली परस लाई और हाथ मे थमा दी। पानी का कटोरा लेकर दुबारा आई तो भी मॅझले उसी कड़ी मुद्रा मे बैठे थे।

भय से सहम कर दलहीज पर बैठ गयी। भयावनी घूरती आँखे देख अग अंग जैसे जान गया कि अब बचूँगी नही ..

बड़ी चौड़ी हथेली पर टिकी थाली को नीचे उतार रखा, दो कदम उठा पास आए और मुझे सिर से झकझोर कर चिल्लाए

"अरी मेरी नासकरनी, मैं ऐसे नही मरता तुझे मार कर तुझे मार कर" पीठ पर धौल पडने लगे।

एक बार तो जी मे आया बैठ छाती पर बैरी का गला घोट दूँ पर वह दो जनो की सी देह देख झुक गयी। पॉव पकड़ कर अर्ज की...

"तुम जो कहते हो सो करूँगी मुझे तुम मारो मत"

मॅझले रुके। हौसला नही हुआ कि उनकी ओर ताकूँ।

एकाएक मॅझले को अपने साथ लगे पा कर चौकी, मेरी झोली मे सिर डाल घुटे घुटे गले से बोले

"नवेली मरने से मेरी बला डरती है, पर तुम्हे छोड़...तुम्हे छोड़ "

पहली बार लाड़ से सिर पर हाथ फेर कर बोली

"छिः छिः मन मे डर न लाओ...बलाएँ गयीं दूर"...मिन्नत मनौती से कुछ खिला पिला लिटाया और पैताने बैठ पॉव दबाने लगी। मॅझले आँखें बन्द किए पडे रहे। हाथ रुका तो आँखे खोल कहा .

"नवेली . इधर सिर की ओर बैठ ...इधर"

सिरहाने झुक कर माथा सहलाने लगी। इसके बाद मॅझले कुछ बोले नहीं, चुपचाप पडे रहे।

सुबह अभी लौ नहीं लगी थी। जाना कि मॅझले उठ बैठे हैं। साँस रोके पड़ी रही। डोल के बजने से जान लिया कि नहा धो चुके है। अब आँख की कोर से देखा तो झरोखे की ओर मुँह किए साफा बाँधते थे। साफा, कमर बन्द, जूती ...मचली हो और भी सिकुड़ गयी। ऐसा लगा मॅझले पास आये, झुके और लम्बी ठण्डी सांस ले बाहर हो गए।

चौकन्ने हो सुना-आज बाहर ताला नहीं पडा। सीढियो पर उतरने की आहट नीचे पहुँच कर खो गयी तो कहीं से आँसू बह आये। उठकर बरसती अँखियों से झरोखे में से झाँका तो चौक का चौक केसरिया साफो से भरा था। लड़ाकू सवारों से थाप ले घोडे हिनहिनाते थे- रास सभालते थे और पूरे गले से पुकारते थे ...

वाह गुरु दा खालसा, वाह गुरु दी फतेह ...

शहर का शहर खाली हो गया था। हर एक परिवार की बाहें लड़ाई के मैदान मे थी और बन्द घरों पर जी दहला देने वाली बेरौनकी। नित शाम को मॅझले के आने की बाट जोहती। बाहर फैला अन्धेरा झरोखे मे से और भी डरावना लगता। किस स अपने दुख सुख की कहूँ-सोचती और सोच साच कर सो जाती।

दुपहर का सोए सोए हड़बड़ा कर जागी तो धमाकों की आवाज़ से छाती दहलने लगी। शाह जहाँगीर के मैदान की ओर से धूए के अम्बार उठ रहे थे और बडी बड़ी जगी तोपो को दहाड़ती आवाज काना को पीसती हुई जी को अन्धेरे कूऍ मे ढकेल जाती थी। अपने को अकेला पा थर थर कॉपती थी। अपने लिए रब्ब से कुछ मॉगने से पहले फूट फूट कर रोती थी।

"मेरा क्या होगा मैं कहाॅ जाऊॅगी मैं क्या करूॅगी ...?"

शाम होते होत ढोल की थाप पर राज का एलान होता हुआ चला गया ...

"अपने वीरो के लिए...सिर की सरदारियो के लिए मालिक से दुआ मॉगो" बुरी घड़ी आन पहुॅची थी। राज के एलान मे फतेह का नाम छूट गया था। अब तो बस दुआ ही दुआ करने को रह गयी थी।

सिर पकडे अन्धेरे मे दिवार से लगी बैठी थी कि नीचे घोडे का हिनहिनाना सुन जान मे जान आई। ऊपर से देखा, कुछ दीखा नहीं—जल्दी जल्दी सीढियाॅ उतर गयी।

चबूतरे पर ठिठक कर पत्थर हो गयी। घोड़ा था, घोडे का सवार नहीं जाने कब तक वहाॅ खड़ी रही हूॅगी। ऊपर आई हाथ से बिछौना टटोला और किसी का नाम ले समेट दिया। नीचे बैठी तो उॅगलियो ने नाक की लौंग और चूड़ियाॅ उतार पल्ले बाॅध दी।

जिस जाने वाले ने ज़ोर-जबर से मनवा ही लिया था उसकी मैं कुछ तो लगती ही थी। अगला दिन, दिन नही था। घर घर से रुदन फूटता था, हाहाकार उठता था। धूप पकते पकते तोपो की गड़गडाहट फिर मार करने लगी। शहर मे भागदौड़ मच गयी। गली मुहल्लो के सयाने चौक में इकट्ठे हुए तो कुछ कहने को किसी का कण्ठ नहीं खुला। किसी बड़े सयाने ने आकाश की ओर देख सिर झुका लिया। हाथ के संकेत से बताया—सब गया! और फुसफुसा कर कह दिया..."फिरगी आ गया।"

चौक खाली होते देख घबड़ा गयी। चदरा ओढ़ नीचे उतरी और केन्हीं भले जनो के पीछे पीछे हो ली। नुक्कड़ पर बड़ी बूढ़ियों की टोली छाती पीटती सयापा बुलाती चली जा रही थी—तुफ़ पर क़हर! ओ फेरगी हरे भरे बाग़ उजाड़ दिए...हाय... हाय... ..हाय ...

भौच्चक्की सी कुछ देर देखती रही, फिर पल्ला नीचे डाल उन्हीं के साथ हो गयी। उम्र की कई छोटी बहू बेटियां दीखी। पके चेहरे, सफेद सिर और खुली छातियाँ। जिस जिस गली से निकलती और औरतें आ जुटतीं। चौकी पर पहुँच पहरुओ ने रोका।

"उधर किधर माओं, यह दिन चोह पर जाने का नही...वहाँ तो गोलियाँ बरसती हैं..."

माथे पर हाथ मार एक बड़ी सयानी बोली .."अभी क्या और बुरा दिन आने को है। जिनके पले पलाये शेर गए वे क्या गोलियो से डरेंगी ?"

हाय, हाय रे कहर......

चोह के किनारे अपनी खेत हो गयी गोदियो के लिए फिर लाहणियां पड़ी। छातियाँ पिटीं।

सात बेटों की एक खत्राणी मा दम लेकर बोली

"अरे अपने जवान बेटों के फूलों पर फूल उनको नहीं...रोती हैं हम अपने बैरियो को..."—ठाह! चोह के दूसरे किनारे गोला फटा। काँप कर साथ खड़ी बूढी माँ को भीच लिया...

"हाय माँ मेरी।" इसके बाद सिर उठाने की बारी नहीं आई। रह रह पास कहीं गोले छूटते थे, गोलियाँ बरसती थीं। धमाकों से किस किस की देह ठण्डी हो गयी थी, उठ कर यह देखने की हिम्मत किसे थी। रेत पर औंधे पडे पड़े लड़ाई का मैदान दीखता था, कटी बाहे, लहूलुहान सिर. .धूल में पगड़ियाँ......

छप! छप! छप! चोह मे घोड़ों के उतरने की आवाज़। सुन पड़ी। न साँस आई, न गयी। धमाका हुआ, सिर चकराया और अन्धेरा छा गया।

होश मे आई तो शाम के अन्धियारे मे मेहदी रँगे बालों वाली

कोई सयानी सिरहाने बैठी सिर मे तेल मलती थी। आँखे खोलीं। पानी माँगा और घबरा कर पूछा...

"मैं कहाँ हूँ ?"

"अपना ही घर समझो बीबी रानी।"

यह लाड़ भरा सम्बोधन सुन चौक कर उठ बैठी ! इधर उधर देखा किसी बड़ी हवेली की पसार था। आले में की लौ जलते ही पिछला सब कुछ आखों के आगे आ गया। चोह का किनारा

भारी पाँवो की धड़क सुन पड़ी। 'चले आओ बेटा' पल्ला नीचे कर मुँह ढक लिया। देहरी पर से बोल आया

"बड़ी माँ, मेरी ओर से बहिन का घर पता पूछो" .

ठीक से जान नहीं पाई कि क्या यह मेरे लिए ही कहा गया ?

"रानी बेटी अपने अगले पिछलो में से किसी का ही नाम ले दो"...

चुप बनी रही।

फिर आग्रह हुआ .

'कह दो बहिना ..उन्हें तुम्हारी सुख सान्द भेजनी है '

अपनी 'सुख-सान्द' बात सुनते ही आखे छलछला आई। रोकने पर भी रुलाई नही रुकी। मैं अभागिन किनका नाम लूं-अपनो का, पराओ का .

"बड़ी माँ ..बहिन से कहो हौसला रखे-आज नहीं तो कल सही।"

मुझसे बिना कोई उत्तर पाये, मुझे बहिन कहने वाले वापिस लौट गए। बड़ी माँ ने कपड़ा उठा मेरे आँसू पोछते हुए कहा, "चिन्ता न कर बेटी-तू मालिको के घर मे है। तुम्हारी आब इस घर की आब है. ."

बिलख बिलख कर रोने लगी। मेरी आब। अब मेरी आब क्या रह गयी है ? सब मेरी

"बेटी, यह भलें घर का रग रूप क्या छिपता है। चोह से तुम्हे घोडे पर डाल जब मालिक घर आये तो..."

"कुछ मत कहो ! कुछ और मत कहो"...रोते रोते जाने कब सो गयी। सपने मे देखा

मालिकों की ड्योढी मे बैठी हूँ। झोली में मेरा मुन्ना सो रहा है। अरे यह क्या...देहरी पर खड़ा मेरा लाली वीर. ...

"मालिन दरिया पार से तुम्हारा वीर आया है, कुछ बात तो करो..."

"दिवान जी...दिवान जी...मेरे दिवान जी

चीख मार कर छटपटाई और निढाल हो फिर अन्धेरे मे खो गयी।

सुबह बड़ी माँ के झकझोरने से उठ बैठी.

"गज़ब हो गया बेटी फिरगी की चौकी शहर पर आन पड़ी "

फटी-फटी आँखो से देखती भर रही।

"बेटी रब्ब का हाथ मेरे मालिक राजे पर तनिक उस बैठक तक तो चली जाओ, जाने को तैयार खडे हैं

मेरी झिझक को सुलझा बडी माँ बोली "लाज काहे की बिटिया, तुम तो उसकी मुँह बोली बहिन हो।"

घड़ी भर अपनी आँखो से कहने वाली की आखें देखती रही। फिर ढंग से ओढनी ओढ़ पैर उठा बोली

"बड़ी माँ लोटा भर पानी और मीठा ले आओ"

जाने कैसी चाल चल कर बैठक तक पहुँच गयी। देहरी पर से कहा

"अन्दर आती हूँ वीर जी.. "

"चली आओ बहिना"...

कुछ चौकती सी, भारी, भर्राई आवाज थी।

आँखे उठा अपने नये वीर की ओर देखा और देखा...और देखा

कहने को कुछ सूझा नहीं। सिर पर सोभती केसरिया पाग थी। कमर पर चमचमाती मूठ और नीचे खडा हिनहिनाता रण का घोडा।

यह कैसा दिन है ? यह कैसी घडी है...

कुछ कहूँ कि सुना..."बहिना।"

दक्खिन की ओर स रणभेरी बज उठी और यह छलछलाती आँखे छम-छम बरसने लगी।

नये वीर से न कुछ कह पाई न सुन पाई.

बाहर से आती बड़ी माँ बोली

"आओ बिटिया...खुशी-खुशी वीर को सगुण दो, हँसता खेलता".

आगे के बोल गले के बाहर नहीं आये। घबरा कर देहरी लाँघ बाहर आई कि पीछे से बुलाहट हुई..."बहिना।" लौटी।

"बहिना, पता नहीं आज आऊँ न आऊँ, पीछे का नाम पता नहीं बताया।"

आँखो को आँचल लगा बोली "उसकी बात न हिलाओ वीर जी—" और सिसकने लगी।

हवा मे थर्राती तन मन हिलाती फिर वही रणभेरी।

"मैं चला बहिना... आ पहुँचा तो दिवान जी का पता लगा लगा..."

"यह नाम ?" चाहा कि साथ लगकर रोती चली जाऊँ, रोती चली जाऊँ ..

आगे आगे बाहर आई, ड्योढी पर मीठे से भरा हाथ बढाया और फिरगी से लड़ने जाते अपने नये वीर की रणबाँकी पोशाक देख अपने को सम्भाल नही पायी। रोते रोते बोली...

"मेरे इस सगुण की लाज रखना वीर जी राह तकती रहूँगी।"

उदास, उदास आँखो से मुझे निहार, बड़ी माँ की ओर जरा सा सिर झुका वीर कूद कर घोडे पर जा चढे। रास सम्भाली और वह गए. वह गए...

चौखट पर हाथ टिकाये, अन्धी आखो से गली की ओर देखते-देखते सोचती रही कि किस की ड्योढ़ी मे खड़ी हूँ। किस मान अधिकार से इस घर के धनी को विदा कर चुकी हूँ। कौन हूँ ? मैं कौन हूँ ! मुँहबोली बहिन ! इसी लिए रोने लगी हूँ ? क्या इसीलिए

उस दिन दुपहरे उतरीं। न संग धूप लाई, न गर्मी। सायँ सायँ करती हवेलियाँ और सुनसान पड़ी गलियाँ चौकन्नी हो कर भी आखे मूदे पड़ी रहीं।

मालिको के घर की पुरानी दासी साँस भर कर बोली...बेटी इस घर के भी रंग थे। चहल पहल मे किसी का बोल न सुन पड़ता था। अब तो जिए घर का राजा। मालिक की मेहर से लड़ाई झगडो से निपटे। सुख के दिन आयें, ब्याह रचाये तो इस घर को भी भाग लगें।

फिर मुझ पर टटोलती नजर गढा कर हौले से पूछा... बेटी किन दिवानों से घर ब्याही हो ?

घबराहट से बोल नहीं निकले।

"वह बेटी कहाँ के दिवान हैं!" जी धड़कने लगा। दूसरी ओर आँखें फिरा फीके गले से बोली :—

"उस घर की मुझसे कोई बात न पूछो।" बड़ी माँ की परखती निगाहें कुछ पल मुझे देखती फिर गहर-गम्भीर स्वर में बोली—

"बीबी रानी, जब बतायेगी तभी जानूँगी पर इन बुरे दिनों अपनो से बिछुड़ना अच्छा नहीं, शुक्र रब्ब का, तुम इस डयोढी से आन लगी।

मन में आया कैसे कहूँ कि किस किस ड्योढी से यह अभागा पाँव निकल चुका।

"रब्ब करे, रणजीत का बेटा घर आये और जिस घर की अमानत हो उस घर तुम्हें लौटाय।"

दिन ढलते अन्दर, बाहर, न जाने कैसी वीरानी छा गई। रह रह उठते धमाकों में न कहीं फतेह का डका था न कही खालसो की ललकार।

रात उतरी तो मौत के से सन्नाटे मे सहम कर ठिठक गई। शहर का शहर अन्धा पड़ा था। घरो मे न चिराग जले थे, न तन्दूर तपे थे। खाली और रीती झोलियाँ बन्द घरों में तड़पती थीं।

पिछले पहर आँख लगी थी कि बिगुल की आवाज सुन चौंक कर उठ बेठी।

पास सोई बड़ी माँ को हिला कर बोली—

"सुनो तो किसी ओर का जयकारा है!"

बड़ी माँ ने उस लहराते स्वर को सुन लेने को पूरी आँखें खोल लीं। क्षण भर ऊपर की ओर देखा। फिर मुझे और सिर हिला बोली...

"कहर रब्ब का! यह गूँज अपनी ओर की नहीं, अ..."

दिन खुलते न खुलते अगणित घोड़ो की टाप गलियों को रौदने लगी। छज्जे पर से झाँका...न अपने सवार थे न सवारों के केसरिया साफा—टोप पहने फिरगी सवारों की कतारो की कतारें...

दिल से हूक उठ कर गले मे छटपटाने लगी।

अपने वीरों को धूल मे लुटा, मौत से जुझा सेहरा बैरियों के सिर जा चढ़ा था!!

गली गली पहरा आ लगा। साँकलों के बाहर पखेरू तक न फटकता था। आगे पीछे बदलते पैरों की टाप की टप्प...टप्प. टक्क...

एकाएक जैसे मुर्दों के सिरहाने ढोल बज उठा। ढोलिए की फटी-फटी रूखी आवाज़ कानों को चीर चीर जाने लगी।

"खलकत सुनेले...खालसो को हरा अँगरेज़ बहादुर रणजीत के आये है। जिसकी सरदारी...उसका सिक्का...जिसका सिक्का...उसकी खलकत.. ।"

बड़ी माँ ने सुनते ही पल्ला नीचे खींच लिया । और ऊँचे गले मे रो रो बोली—

"किस जुग के बदले लिए हैं बैरी...अरे वह सोने सी राजे की देह. .हाय, हाय, फिरङ्गी तूने यह खिला खिलाया बाग उजाड़ दिया ?"

झकझोर कर मैं बड़ी माँ से बोली : "जिगरा करो बड़ी माँ, बुरे बोल न बोलो। लुके छिपे वीर क्या पता कब घर लौट आयँ !"

बड़ी माँ सिर हिला हिला बोली . "अरी भोली बेटी...लड़ाकू मालिकों के घर का सरताज क्या हार कर घर लौटेगा। जानती हूँ मैं अभागी जानती हूँ। राजा खेत हो गया। हाय हाय राजा ..खेत हो गया।"

बड़ी माँ की ओर करवट लेकर लेटी ही थी कि पिछवाड़े से उठा बारूद का धमाका घर भर को हिला कानों में समा गया। बड़ी माँ हड़बड़ा कर उठ कर बैठी गई और कठिनता से यही कह सकी...

अब खैर नहीं...

बड़ी माँ का छोर पकड़ लिया जैसे चढ़े पानी मे डूबती होऊँ।

"रुक बेटी मुझे देख तो लेने दो। मण्डी से लगी कोठरियों मे अपना ही असला पड़ा था।"

ऊपर कोठे से झाँक कर बड़ी माँ उतरी तो हाथ फैला कर बोली

"बुरे दिनो मे मति भ्रष्ट। यह काम घर के भेदी का है।"

डर कर पूछा .."आग इस ओर तो न फैली आयगी ?"

हाथ पकड़ कर बड़ी माँ बोली "घड़ी का क्या पता !"

और दूसरे को सहारा दिए दोनों ड्योढ़ी से लगे पसार मे जा बैठी।

गन्ध सनी हवा पास पहुँची तो बड़ी माँ हाथ मल मल कर बोली...

"नसीब फूटे रैयत के... ."आगे के बोल अभी कान तक नहीं पहुँचे थे कि

बाहर गली मे घोड़ों की टाप सुन ठिठक गई । सम्भले कि ड्योढ़ी पर और का खड़का हुआ ।

"खोलो खोलो ।"

भय से कठ सूख तालू से आ लगा ।

किवाड़ खुला कि टूटा, पता नहीं.

मशालो की रोशनी मे टोपियो वाली टुकड़ी धड़धड़ाती अन्दर आ पहुँची । भाग कर छिपने की नौबत नही आई ।

पता देने को शहर के ही चार छः चेहरे साथ थे ।

सुनार सा दीखता कोई पतला दुबला पास आ कर बोला—"अरी रुकमत, तू अभी मरो नहीं ?"

बड़ी माँ का चिट्ठा पूनी मुँह । ओठ कुछ कहने को हुये पर आवाज नहीं निकली । बेबसी से बस मूडी हिलती रही ।

किसी ने मेरी ओर लपक कर ठट्ठा किया—"वाह रे बाग़ी मलिक, ऐसा बिछौना छोड़ तू खेत हो गया ?"

हा हा हा

अपमान से थर थर काँपने लगी कि कड़कड़ाती आवाज़ आई ।

"पकड़ लो शैतान की बाँदियो को, साहब बहादुर का हुक्म है"

कलाई पर हाथ पड़ते ही चिल्लाई । "हाय री माँ मेरी "

बड़ी माँ ने झपट कर मेरी दूसरी बाँह पकड़ ली और काँपते हुये गले से फटकारती हुई बोली—"कीडे तेरे बीज पर रे बदकार, "

पीछे की ओर से दो मजबूत हाथो ने इस अभागी को खींच बाहर की ओर घसीट लिया । आवाज़ आई.

"सरदार मलिक की रखेल है साहिब । बारूद की आग इसी ने दी ."

आँखों के आगे अन्धेरा छा गया । और हत्यारो की जकड मे तड़पती गली में घिसटती चली ।

"कहाँ लिये जाते हैं ? मुझे छुड़ाओ कोई मुझे छुड़ाओ,.. "

न बड़ी माँ इन आँखो को दीख पड़ी, न उसकी कोई आवाज कानो को सुन पड़ी ।

एकाएक अपनी ओर ध्यान गया तो देखा ओढनी नीचे लटक गयी है और आगे कपड़ा नहीं ।

जोर से झटका मार अपने को छुड़ाते हुए बोली ।

"अरे बेदर्दियो कपड़ा तो ओढ़ लेने दो..."

किसी ने ओढ़नी उठा कर मेरे मुँह पर दे मारी और निलज्जता से हँस हँस कर कहा।

"अरे बडे घर की खटिया, अब तू क्या क्या नहीं ओढ़ेगी?"

फिरगी की चौकी आ गई। तम्बू के बाहर पहरू तने खडे थे।

किसी ने अन्दर जा हुक्म बजाया और लौट कर कहा "आज की रात पहरे मे रखो, साहब की, कचहरी सुबह लगेगी।"

घूरती आँखो के आगे सिर नीचे डाल बन्दी हो बैरियों के खेमे मे जा बैठी।

पत्थर सी हो कर बैठी अपने अगले पिछले लेख जोहती रही।

कुछ न आगे—न कुछ पीछे——एकाएक अपने ही अन्धियारे मे भटक भटक कर औंधी जा गिरी—

न रोई न कड़ी पड़ी—

बस होश मे पड़ी पड़ी सोती रही——

अगले दिन साहिब की कचहरी लगी। मैं मुँह पर कपड़ा किए किए हाज़िरी मे खड़ी रही। साहिब ने कसूर की क्या पड़ताल की क्या जाँच की यह न मैं कुछ समझी न जानी——

बीच बीच मे मालिको का नाम सुन कर चौकती रही। "हाकिम, यह मालिक की रखैल है——"

"नहीं . नही..."

दाँता मे ओढ़नी का छोर भीच कर बरबस अपनी रुलाई रोकती रही मैं किसी की कुछ भी लगती रही हाऊँ। पर उस भले मालिक की नहीं.....रब्ब गवाह है .. रब्ब गवाह है.....

एकाएक साहब के कुछ कहने पर किसी ने लपक कर मुँह का पल्ला उघाड़ दिया।

हाथो मे मुँह छिपा थर थर काँपने लगी। मुझे बख्श दो—मुझे छोड़ दा।——

दोनो ओर से जकड़ी हुई जब बाहर की ओर चली तो अभागा यह सिर ऊँचा नही हुआ। अभागी यह आँखे किसी ओर भी उठीं नहीं। किसे देखना था मुझे। अब क्या देखना था। पत्थर सा बोझ अपने घुटनों पर

टेक, उस झालरदार तम्बू मे बैठे बैठे काला पहर कब उतर आया, पता नहीं। तनिक हिली तो लगा, उस अभागी रात में अपना ठौर ठिकाना छोड़ जिस बुरी राह जा पड़ी थी वह आज भी खत्म नहीं हुई नहीं हुई... आगे पीछे क्या देखना है। कहाँ देखूँगी। आँखें मूँदे पड़ी रही।

"बहिना! बहिना!"

क्या सपना देखती हूँ। अब इस काले मुँह वाली को कौन कहेगा बहिना......"बहिना.. ..."

सचमुच की सच्ची आवाज थी।

घबरा कर वे आँखे खोल दीं।

पास और पास बढ़ती आई कोई मूरत........लम्बा हाथ इस बढ़ा और डर से घुटती साँस के साथ काला हो गया...घुप्प अन्धेरा... काला......काला ..

ठाह......ठाह .. ठाह कान के पास होते धमाके से तड़प कर दूर जा गिरी .....

घोड़ों की टाप...टक...टक ..टक ..

रोको...रोको...यह मेरे दिवान जी का घोड़ा है......मैं भी जाऊँगी... मैं भी.........

एकाएक छटपटा कर आँखे खोल दीं।

"कहाँ हूँ...मैं कहाँ हूँ?"...दो चौडे कधे ऊपर झुक आये। सिर पर हाथ रख कहा :

इधर देखो......इधर देखो बच्ची, माँ तुम्हारी तुम्हारे पास है।"

आश्चर्य में भूली भटकी आँखो को जब सुझाई दिया तो माँ को नाक की लौग से पहचान बाहें बढा छम छम रोने लगी।

"जिगरा करो.... जिगरा करो बिटिया अब तुम घर आन पहुँची! वीर तुम्हारी खोज में न जाने कहाँ कहाँ भटका किया। कल फिरगों की कचहरी में तुम्हें पहचान......"

बीच ही में माँ मेरा माथा चूम शेख जी से बोलीं :

"शेखजी, माँ जिन्दा से कहें दिवानों के लाडले को लाय, बेटी के वीर को बुलाय : आज इन्हीं के पैरों का सदका! हमारी बिछुड़ी बिटिया हमसे आन मिली..............."

● ● ●

पाँच नयी कविताएँ

●

१

दूख सा क्या उट्ठा अनजान !
कि बादल गरज उठे हैं प्रान !

श्याम नभ पर श्यामल घन आज
साज कर इन्द्रधनुष का साज
हवा मे उडे, न जल मे बहे
क्षणिक का कितना स्थिर है राज !

चमक आई चपला चुपचाप
मेघ का घिरना ऐसा पाप
बरस कर कौन खो उठा भान
दूख सा क्या उट्ठा अनजान

जून' ५६

●

२

चार कमल, श्याम धवल, मिल गये
बिन्दु-बिन्दु तरस बरस खिल गये।
क्या हवा चली कि वे उलझ गये
यों उठा लिया प्रमत्त झिल गये!

रेख यों खड़ी खिंची कि उभयचन्द्र बोल उठे,
झोंपड़ी पुकार उठी, कूल कूल डोल उठे
दूर नाव दीख पड़ी, लहर लहर सांप हुई
विस्तृत गहराई, पतवार नम्र माप हुई

डूब गई चाह राह डूब गई,
जी अथाह में कि थाह डूब गई!
किरण जाल फेंक फेंक स्वर्ग ने
ढूँढ ढूँढ फेंक रजत रश्मियाँ

छोड़ जो न जा सके, रहे वही,
चार कमल श्याम धवल मिल गये॥

जुलाई' ५६

●

३

मेंहदी से तस्वीर खींच ली किसकी मधुर! हथेली पर!

प्राणों की लाली सी है यह-मिट मत जाय,
हाथों में रसदान किये यह, छुट मत जाय,
यह बिगड़ी पहचान कहीं कुछ बन मत जाय
रूठन फिसलन से मनचाही मन मत जाय!

बेच न दो विश्वास-साँस को उस मुस्कान अधेली पर

हाथों पर लिख रक्खा है क्या सौदा आँख मिचौनी का ?
आखों मे भर लाई हो क्या रस ? आहत अनहोनी का,
क्या बाजी पर चढ़ा दिए ये विमल गोद के धन आली ?
क्या कहलाने लगा जगत मे हर माली ही वनमाली ?

तुम्हे याद कर रहा प्राणधन उस झिझकन अलबेली पर,
मेहदी से तस्वीर खींच ली किसकी मधुर ! हथेली पर !

जुलाई' ५६

●

४

साँझ आई तो गगन के पख वाले गीत
क्यों चुप हो गये ?

साँझ आई, वे हृदय के रोष वाले मीत
क्यों चुप हो गये ?

सूर्य के प्रभ-नवल-रथ की दौड़ के वे चित्र
फीके पड़ चले,

भूमि के अहरह सभी चलते हुए वरदान
क्यों चुप हो गए ?

साँस पर पहरा दिए बैठी समय की नागिनी
कुण्डल बना,

इस समय सब चाह के लड़ते हुए अहसान
क्यों चुप हो गए ?

अक्टूबर' ५६

●

५

रूप के कर की सुनहली बाँसुरी
—सोई नहीं है।

बिन्दु लखकर रन्ध्र ही से फूटते
—तरु बेलि हँसकर
—यह फ़सल बोई नहीं है।

रूप ? यौवन की कठिनता का पता
—क्यों कर उसे हो ?
—ज़िन्दगी ढोई नहीं है।

यह उबासी, और यह अँगड़ाइयाँ दो
—कौन है ?
—कौन है ? कोई नहीं है !

सितम्बर' ५६

- नवलेखन के सर्वश्रेष्ठ संकलन
- महत्वपूर्ण कथा साहित्य
- श्रेष्ठ समीक्षात्मक निबन्ध सङ्कलन
- श्रेष्ठ गवेषणात्मक प्रबन्ध

तथा अन्यान्य

उत्कृष्ट साहित्य के

प्रतिष्ठित प्रकाशक

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

नयी कविता

● अंक-३ में—

जगदीश गुप्त : अर्थ की लय। प्रभाकर माचवे : भारतीय भाषाओं में नयी कविता। बालकृष्ण राव : परिचय [कुँवर नारायण] सव्याख्या कविताएँ—नरेश मेहता द्वारा, तथा सचयन के अन्तर्गत अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल, त्रिलोचन, भारती, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, प्रयाग नारायण त्रिपाठी आदि अनेक कवियों की नवीनतम रचनाएँ

सम्पादक. डॉ० जगदीश गुप्त

श्री विजयदेवनारायण साही

अपने अक के लिये लिखिए :—किताब महल, इलाहाबाद

मूल्य—केवल दो रुपये

आधार

(चौमासा पत्र)

सम्पादक

रामावतार चेतन

सत्येन्द्र श्रीवास्तव

● मार्च १९५७ अक—

ललित कला विशेषांक

ललित कला के विभिन्न अंगों पर अभूतपूर्व सामग्री का सकलन।

वितरक

हिन्दी भवन इलाहाबाद, जालधर

वार्षिक ३) एक अक १)

हिन्दी नाट्य साहित्य की आधुनिकतम प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाला अर्द्धवार्षिक संकलन

सम्पादक

धर्मेन्द्र गुप्त

मूल्य केवल ढाई रुपया

वितरक

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली, इलाहाबाद, बम्बई,

निकष और *नयी कविता* की परम्परा मे,
साहित्य-सहयोग के
तत्वावधान मे,

डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल
द्वारा सम्पादित

नाट्यम्

हिंदी नव-लेखन के अन्तर्गत नाटक और रङ्गमञ्च के पक्ष को, नवीनतम प्रवृत्तियों, प्रयासो और आन्दोलनों को रचनात्मक और समीक्षात्मक स्तर पर प्रस्तुत करने वाला वार्षिक सकलन।

प्रथम संकलन मे

- एक सम्पूर्ण मौलिक नाटक
  तीन मौलिक एकांकी
  एक गीति-नाट्य
  एक ध्वनि-रूपक
  एक उत्कृष्ट अहिंदी नाटक (अनूदित)

- नाट्य-रचना, मञ्च-सज्जा, परिधान, अभिनय कला, रङ्ग-निर्देशन—पर अनुभवी, हिंदी और अहिंदी निर्देशकों, अभिनेताओ और नाटककारो के प्रामाणिक मत।
  नाट्य शास्त्र सम्बन्धी-प्राचीन और नवीन मतो का पुनर्परीक्षण।
  लोक-नाट्य और लोक-मञ्च पर एक दृष्टि।
  नृत्यनाट्य, मूकनाट्य, पुत्तलिका एव छाया-नाट्य का विवेचन।
  हिन्दी नाटक और रङ्गमञ्च की वर्तमान समस्याओं का निरूपण।
  नई, हिंदी और अहिंदी नाट्य-कृतियो का वैज्ञानिक मूल्याकन।

नाट्यम् के इस सकलन को सफल बनाने के लिये न केवल हिंदी, वरन् बॅगला, गुजराती, मराठी, और मलयालम के नाटककारों और निर्देशकों के गहन अनुभव और उनके हार्दिक सहयोग का उपयोग किया जा रहा है।

निकष के पिछले दोनो तथा अगले
सकलन मगाने के लिए
साहित्य भवन (प्राइवेट) लि०, प्रयाग
को लिखें,

निकष के प्रत्येक संकलन का
ऐतिहासिक महत्व है।

निकष के अगले संकलनों मे नवलेखन के नये परिप्रेक्ष्य,
नये सन्दर्भ और नयी उपलब्धियाँ

सम्पादक
धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकांत वर्मा

प्रकाशक
साहित्य भवन (प्राइवेट) लि०, प्रयाग

मुद्रक
हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग

प्रबन्ध-सम्पादक
हरिमोहन दास टण्डन

प्रकाशनाध्यक्ष
नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

सहायक
कन्हैयालाल नन्दन